BAHI(N)-321

भारतीय विरासत का अध्ययन

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
तीनपानी बाई पास रोड ट्रान्सपोर्ट नगर के पास
हल्द्वानी&263139
फोन नं. 05946&261122] 261123
टॉल फ्री नं. 18001804025
फैक्स न. 05946&264232] ई-मेल info@uou.ac.in
http://uou.ac.in

अध्ययन मंडल

डॉ. गिरिजा प्रसाद पाण्डे, प्रोफेसर इतिहास एवं निदेशक समाज विज्ञान विद्याशाखा, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी	अध्यक्ष
प्रोफेसर रवीन्द्र कुमार, इतिहास विभाग, समाज विज्ञान विद्याशाखा, इग्नू, नई दिल्ली	सदस्य
डॉ.लाल बहादुर वर्मा, प्रोफेसर, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद	सदस्य
डॉ.रामेश्वर प्रसाद बहुगुणा, इतिहास विभाग, जामिया मिल्लिया इस्लामिया, नई दिल्ली	सदस्य
डॉ. मदन मोहन जोशी, प्रोफेसर एवं समन्वयक इतिहास, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी	सदस्य
श्री विकास जोशी, सहायक प्राध्यापक (A.C.),उत्तराखंड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, उत्तराखंड	आमंत्रित सदस्य
डॉ. संपति, सहायक प्राध्यापक (A.C.), उत्तराखंड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, उत्तराखंड	आमंत्रित सदस्य
डॉ. जितेश कुमार जोशी, सहायक प्राध्यापक (A.C.), उत्तराखंड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, उत्तराखंड	आमंत्रित सदस्य

पाठ्यक्रम समन्वयक

प्रोफ़ेसर मदनमोहन जोशी, समन्वयक इतिहास, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

पाठ्यक्रम संयोजन एवं संपादन

डॉ. जितेश कुमार जोशी, सहायक प्राध्यापक, उत्तराखंड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, नैनीताल

इकाई लेखन

ब्लॉक एक

इकाई एक- भारतीय विरासत: परिचय, क्षेत्र एवं महत्व, डॉ. जितेश कुमार जोशी, सहायक प्राध्यापक (A.C.), उत्तराखंड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, उत्तराखंड

इकाई दो- भारत की मूर्त सांस्कृतिक विरासत-निर्मित विरासत, डॉ. जितेश कुमार जोशी, सहायक प्राध्यापक (A.C.), उत्तराखंड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, उत्तराखंड

इकाई तीन- भारत की मूर्त सांस्कृतिक विरासत-औद्योगिक, वाणिज्यिक और शिल्प उत्पादन क्षेत्र, डॉ. जितेश कुमार जोशी, सहायक प्राध्यापक (A.C.), उत्तराखंड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, उत्तराखंड

ब्लॉक दो

इकाई चार- भारत की मूर्त सांस्कृतिक विरासत- धार्मिक स्थल, श्री विकास जोशी, सहायक प्राध्यापक (A.C.), उत्तराखंड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, उत्तराखंड

इकाई पांच- भारत की मूर्त सांस्कृतिक विरासत- उत्खनित पुरातात्विक स्थल, डॉ. संपति, सहायक प्राध्यापक (A.C.), उत्तराखंड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, उत्तराखंड

इकाई छह- भारत की मूर्त सांस्कृतिक विरासत- साहित्यिक एवं अभिलेखीय विरासत, डॉ. संपति, सहायक प्राध्यापक (A.C.), उत्तराखंड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, उत्तराखंड

इकाई सात- भारत की मूर्त सांस्कृतिक विरासत- लिपियां एवं अभिलेख, डॉ. संपति, सहायक प्राध्यापक (A.C.), उत्तराखंड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, उत्तराखंड

ब्लॉक तीन

इकाई आठ- भारत की अमूर्त सांस्कृतिक विरासत- त्यौहार, मेले, नृत्य, नाटक, खेल, विश्वास, अनुष्ठान, लोकगीत आदि, श्री विकास जोशी, सहायक प्राध्यापक (A.C.), उत्तराखंड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, उत्तराखंड

इकाई नौ - भारत की अमूर्त सांस्कृतिक विरासत- पारंपरिक पाक शैली, डॉ. जितेश कुमार जोशी, सहायक प्राध्यापक (A.C.), उत्तराखंड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, उत्तराखंड

इकाई दस- भारत की अमूर्त सांस्कृतिक विरासत- मार्शल आर्ट, योग, श्री विकास जोशी, सहायक प्राध्यापक (A.C.), उत्तराखंड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, उत्तराखंड

ब्लॉक चार

इकाई ग्यारह- भारत की प्राकृतिक विरासत- राष्ट्रीय उद्यान, अभ्यारण, वन, प्रकृति उद्यान, पवित्र उपवन, श्री विकास जोशी, सहायक प्राध्यापक (A.C.), उत्तराखंड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, उत्तराखंड

इकाई बारह- भारत की प्राकृतिक विरासत- पारंपरिक चिकित्सा एवं उपचार, डॉ. जितेश कुमार जोशी, सहायक प्राध्यापक (A.C.), उत्तराखंड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, उत्तराखंड

इकाई तेरह- विरासत एवं पर्यटन: सांस्कृतिक विरासत पर्यटन, इको-, प्राकृतिक आकर्षण के क्षेत्रों में थीम ट्रेल, प्राकृतिक आकर्षण के क्षेत्रों में साहसिक खेल, डॉ. जितेश कुमार जोशी, सहायक प्राध्यापक (A.C.), उत्तराखंड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, उत्तराखंड

इकाई चौदह - विरासत के संबंध में भारतीय एवं अंतर्राष्ट्रीय कानून तथा विरासत जागरूकता कार्यक्रम UNESCO की भूमिका, डॉ. संपति, सहायक प्राध्यापक (A.C.), उत्तराखंड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, उत्तराखंड

प्रकाशन वर्ष:

कॉपीराइटः/ उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

संस्करण: सीमित वितरण हेतु पूर्व प्रकाशन प्रति

प्रकाशक: कुल सचिव उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय हल्द्वानी नैनीताल उत्तराखण्ड।

इकाई एक

भारतीय विरासत – परिचय, क्षेत्र और महत्व

इकाई संरचना

1.0 परिचय

1.1 उद्देश्य

1.2 भारतीय विरासत की प्रकृति और स्वरूप

1.2.1 विरासत के प्रकार और स्वरूप

1.2.2 विरासत: स्थायित्व और परिवर्तन के बीच

1.2.3 सामूहिक स्मृति और विरासत

1.3 भारतीय विरासत के प्रमुख क्षेत्र

1.3.1 भौतिक विरासत (Tangible Heritage)

1.3.2 अमूर्त विरासत

1.5 भारतीय विरासत का महत्व

1.6 सारांश

1.7 संदर्भ सूची

1.8 अभ्यास प्रश्न

1.0 परिचय

भारतीय उपमहाद्वीप की सभ्यता एक ऐसी जटिल और समृद्ध परंपरा को जन्म देती है जिसे हम सामूहिक रूप से भारतीय विरासत कहते हैं। यह विरासत न केवल ऐतिहासिक घटनाओं, स्थापत्य स्थलों, कलाओं, साहित्य और

दर्शन तक सीमित है, बल्कि यह हमारी सामूहिक चेतना, अनुभव और ज्ञान प्रणाली का भी द्योतक है। इस इकाई के माध्यम से हम भारतीय विरासत की मूल प्रकृति, उसकी व्यापकता और समकालीन महत्व को समझने का प्रयास करेंगे।

विरासत (Heritage) शब्द की व्युत्पत्ति लैटिन शब्द hereditare से हुई है, जिसका अर्थ होता है – 'उत्तराधिकार में प्राप्त करना'। इस प्रकार, विरासत का मूल भाव है — वह सब कुछ जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को प्राप्त होता है, चाहे वह भौतिक हो या अमूर्त। वहीं, "विरासत" शब्द की उत्पत्ति संस्कृत मूल शब्द "विरास" या "विरासक" से मानी जाती है, जिसका आशय होता है — उत्तराधिकार, वंशपरंपरा या पूर्वजों से प्राप्त संपदा। हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं में यह शब्द फ़ारसी और अरबी स्रोतों से भी समृद्ध हुआ है। अरबी में "वरासत" (وراثـــت) और फ़ारसी में "मीरास" शब्द प्रचलित हैं, जिनका अर्थ है — उत्तराधिकार में मिली चीजें या पूर्वजों से प्राप्त संपत्ति या परंपरा।

यूनेस्को (UNESCO) के अनुसार, विरासत में वे सभी सांस्कृतिक, बौद्धिक, नैतिक और भौगोलिक तत्व आते हैं जो किसी समाज की पहचान और अस्तित्व को निरंतर बनाए रखते हैं। भारतीय विरासत को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम इतिहास और संस्कृति के अंतर्संबंध को गहराई से देखें। जैसे प्रसिद्ध इतिहासकार आर. सी. मजूमदार ने कहा था: "भारतीय संस्कृति की विशेषता उसके सातत्य और विविधता में निहित है; एक ऐसी विरासत जो परंपरा और परिवर्तन दोनों को समाहित करती है।"

स्वामी विवेकानंद ने भारतीय विरासत की आत्मा को इस प्रकार निरूपित किया: "भारत की आत्मा उसका धर्म और दर्शन है, जिसने विज्ञान, कला और समाज को दिशा दी है।" इतिहासकार रोमिला थापर इस पर बल देती हैं कि विरासत केवल 'महान अतीत' का महिमामंडन नहीं है, बल्कि वह अतीत के साथ सवाल-जवाब करने की प्रक्रिया भी है। वह लिखती हैं: "विरासत केवल वह नहीं है जो हमें प्राप्त होती है, बल्कि यह भी है कि हम वर्तमान में उसे किस प्रकार समझते और व्याख्यायित करते हैं।" भारत की सांस्कृतिक विरासत की विशेषता इसकी बहुलता (pluralism) में है। भारत वह देश है जहाँ वैदिक धर्म, बौद्ध धर्म, जैन धर्म और सूफी परंपराएँ एक साथ विकसित हुईं; जहाँ ग्रीक, हूण, तुर्क, मंगोल, पुर्तगाली, फ्रांसीसी और अंग्रेज़ — सभी आए और कुछ न कुछ देकर गए। यह विरासत एक गतिशील परंपरा है, जो केवल स्मृति नहीं, बल्कि संवेदनशीलता, अभ्यास और पहचान का हिस्सा है।

इस इकाई के अध्ययन से आप यह जान पाएंगे कि भारतीय विरासत के कौन-कौन से क्षेत्र हैं, उनका स्वरूप क्या है, और वे हमारे वर्तमान तथा भविष्य के लिए क्यों महत्वपूर्ण हैं। साथ ही यह भी समझ सकेंगे कि विरासत के संरक्षण और पुनर्पाठ (reinterpretation) में किस प्रकार नागरिकों, शिक्षार्थियों और नीति-निर्माताओं की भूमिका आवश्यक है।

1.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करते समय आपकी समझ भारतीय विरासत की बहुआयामी प्रकृति और उसके विविध क्षेत्रीय एवं वैचारिक आयामों के प्रति विकसित होगी। अध्ययन के उपरांत आप निम्नलिखित बिंदुओं को स्पष्ट रूप से समझने में सक्षम होंगे:

- "विरासत" की संकल्पना और उसकी ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक परिभाषा को व्याख्यायित कर सकेंगे।
- यह समझ सकेंगे कि भारतीय विरासत किन-किन रूपों में प्रकट होती है — जैसे कि कला, स्थापत्य, साहित्य, धर्म, दर्शन, विज्ञान और सामाजिक परंपराएँ।
- भारतीय विरासत के भौतिक और अमूर्त (tangible and intangible) आयामों के बीच भेद कर सकेंगे।
- भारतीय विरासत की विविधता, समावेशिता और ऐतिहासिक निरंतरता की विशिष्टता को पहचान सकेंगे।
- यह विश्लेषण कर सकेंगे कि विरासत किसी भी समाज की सांस्कृतिक पहचान और राष्ट्रीय चेतना के निर्माण में कैसे योगदान करती है।
- समकालीन भारत में विरासत की प्रासंगिकता और उसके संरक्षण की आवश्यकता को समझ सकेंगे।
- वैश्विक संदर्भ में भारतीय विरासत की भूमिका और योगदान का मूल्यांकन कर सकेंगे।

1.2 भारतीय विरासत की प्रकृति और स्वरूप

"विरासत" शब्द के मायने केवल भूतकाल से जुड़े स्मारकों, ग्रंथों या परंपराओं तक सीमित नहीं हैं, बल्कि यह उस जीवंत अनुभव और चेतना को भी दर्शाता है जो वर्तमान में भी सक्रिय है और भविष्य को दिशा देता है। विरासत की परिभाषा जितनी व्यापक है, उसका स्वरूप उतना ही बहुआयामी है। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया है, ‘‘विरासत" शब्द की जड़ें संस्कृत शब्द विरास और विरासक में हैं, जो "उत्तराधिकार में प्राप्त वस्तु या गुण" को दर्शाते हैं। हिन्दी और उर्दू में यह शब्द अरबी-फ़ारसी के शब्दों वरासत और मीरास से भी प्रभावित हुआ है। इसी प्रकार अंग्रेज़ी का शब्द Heritage लैटिन शब्द hereditare से आया है, जिसका अर्थ है to inherit, यानी उत्तराधिकार में प्राप्त करना। इस

प्रकार, विरासत का आशय है — "वह समस्त भौतिक और अमूर्त तत्व जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को स्थानांतरित होते हैं, और जिनसे एक समाज की सांस्कृतिक, बौद्धिक और नैतिक पहचान निर्मित होती है।"

🟢 UNESCO (विश्व धरोहर केंद्र):
"Heritage is our legacy from the past, what we live with today, and what we pass on to future generations."
➤ विरासत अतीत से प्राप्त वह पूँजी है जिसे हम वर्तमान में जीते हैं और आने वाली पीढ़ियों को सौंपते हैं।

🟣 रोमिला थापर:
"Heritage is not just a glorification of the past, but a continuous process of interpreting the past in the light of present understandings."
➤ विरासत केवल अतीत का महिमामंडन नहीं, बल्कि उसे वर्तमान संदर्भ में पुनः समझने की प्रक्रिया है।

🔵 जान असमैन (Jan Assmann):
"Cultural heritage is a form of cultural memory, preserved through material and immaterial means, which shapes collective identity."
➤ सांस्कृतिक विरासत सामूहिक स्मृति का वह रूप है जो समाज की पहचान को आकार देती है।

🟠 डेविड लोवेंथल (David Lowenthal):
"Heritage is not history, but how we use history; it is a mode of cultural self-representation through selective memory."
➤ विरासत इतिहास नहीं है, बल्कि इतिहास के चयनित उपयोग की वह प्रक्रिया है जिससे समाज अपनी सांस्कृतिक छवि निर्मित करता है।

1.2.1 विरासत के प्रकार और स्वरूप

विरासत को समझने के लिए इसे दो प्रमुख रूपों में बाँटना उपयोगी होता है — भौतिक (Tangible) और अमूर्त (Intangible)। ये दोनों रूप एक-दूसरे के पूरक होते हैं और मिलकर हमारी सांस्कृतिक स्मृति को सजीव बनाए रखते हैं।

(क) भौतिक विरासत (Tangible Heritage): भौतिक विरासत से तात्पर्य उन सांस्कृतिक तत्वों से है जिन्हें देखा, छुआ और संरक्षित किया जा सकता है। यह विरासत ठोस रूप में विद्यमान होती है और इसे संग्रहालयों, स्मारकों, स्थापत्य, तथा पुरातात्विक अवशेषों में पाया जा सकता है।उदाहरण: ऐतिहासिक स्मारक: ताजमहल, कोणार्क सूर्य मंदिर, सांची स्तूप; स्थापत्य और मूर्तिकला: एलोरा की गुफाएँ, खजुराहो मंदिर; पांडुलिपियाँ, चित्रकला, वस्त्र और आभूषण; सिक्के, शिलालेख, हस्तलिपियाँ। भौतिक विरासत का संरक्षण राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं (जैसे भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण और UNESCO) द्वारा किया जाता है।

(ख) अमूर्त विरासत (Intangible Heritage): अमूर्त विरासत से तात्पर्य उन जीवंत सांस्कृतिक परंपराओं, ज्ञान प्रणालियों और सामाजिक प्रथाओं से है जो लिखित नहीं होतीं, बल्कि मौखिक, अनुभवात्मक और व्यवहारिक रूप में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में संप्रेषित होती हैं। उदाहरण: लोक संगीत और नृत्य: कथकली, भरतनाट्यम, बाउल गीत; भाषा और बोलियाँ, लोककथाएँ और मिथक; धार्मिक अनुष्ठान, परंपरागत ज्ञान: योग, आयुर्वेद; त्योहार, खाना-पीना, सामाजिक रीति-रिवाज़; कारीगरी और पारंपरिक शिल्पकला। UNESCO की दृष्टि में, अमूर्त विरासत किसी समाज की सांस्कृतिक पहचान और आत्मबोध की वाहक होती है, और इसे स्थानीय समुदायों की भागीदारी से ही संरक्षित किया जा सकता है।

1.2.2 विरासत: स्थायित्व और परिवर्तन के बीच

भारतीय विरासत की सबसे उल्लेखनीय विशेषताओं में से एक यह है कि यह केवल अतीत की जमी हुई संरचना नहीं है यह किसी ठहरे हुए पानी की तरह नहीं है, बल्कि यह एक गतिशील प्रक्रिया है जो समय के साथ बदलती, ढलती और पुनर्निमित होती रही है। विरासत का स्वरूप ऐसा है कि वह न केवल स्थायित्व (permanence) बनाए रखती है, बल्कि आवश्यकतानुसार परिवर्तन (change) को भी समाहित करती है।

- स्थायित्व (Continuity): भारत की सांस्कृतिक परंपराएँ हजारों वर्षों से चलती आ रही हैं — जैसे वेदों का पाठ आज भी विद्या/आश्रम परंपराओं में जारी है, योग की विद्या विश्व भर में प्रचलित है, और संस्कृत-प्रेरित भाषाएँ आज भी करोड़ों लोगों के दैनिक जीवन का हिस्सा हैं।पुष्यमित्र शुंग (दूसरी सदी ई.पू.) से लेकर आज के भारत तक, ब्राह्मणिक संस्कारों की संरचना, देवताओं की पूजा पद्धति और तीर्थों की परंपरा में आश्चर्यजनक स्थायित्व देखा जा सकता है।

- परिवर्तन और पुनः व्याख्या (Change and Reinterpretation): साथ ही, यही परंपराएँ समय, स्थान और सामाजिक संदर्भ के अनुसार रूपांतरित होती रही हैं। उदाहरणस्वरूप: रामायण और महाभारत की कहानियाँ

अलग-अलग क्षेत्रों में अलग रूपों में प्रचलित हैं — वाल्मीकि रामायण से लेकर तुलसीदास की रामचरितमानस, या ओडिशा, कर्नाटक और थाईलैंड की रामकथाएँ। इसी तरह, बौद्ध धर्म का मूल विचार भारत में उत्पन्न हुआ लेकिन चीन, जापान और तिब्बत में जाकर अलग रूप लेता है। योग, जो कभी आंतरिक साधना की तकनीक था, आज एक वैश्विक wellness movement बन चुका है।इतिहासकार ए.एल. बाशम कहते हैं: "Indian culture exhibits a rare balance between the preservation of its essential values and the capacity to adapt to changing environments."विरासत में यह "संरक्षण और नवाचार" का द्वंद्व उसे न केवल प्राचीन बनाता है, बल्कि सर्वकालिक प्रासंगिकता (timeless relevance) भी प्रदान करता है।

● विरासत का बहुरूपता में विकास: भारतीय विरासत की गहराई और विविधता का एक महत्वपूर्ण कारण है इस उपमहाद्वीप की भौगोलिक व्यापकता और सांस्कृतिक बहुलता। हिमालय की बर्फीली चोटियों से लेकर दक्षिण के समुद्री तटों तक, और पश्चिमी रेगिस्तानों से लेकर पूर्वोत्तर के घने जंगलों तक — प्राकृतिक परिदृश्य की यह विविधता न केवल जीवनशैली को प्रभावित करती है, बल्कि सांस्कृतिक प्रथाओं, विश्वासों और अभिव्यक्तियों को भी विशिष्ट बनाती है।भारत एक ऐसा भूगोल है जहाँ अनेक जातीय समूहों, भाषाई समुदायों, धार्मिक विश्वासों और सामाजिक प्रणालियों ने समानांतर रूप से सह-अस्तित्व और पारस्परिक प्रभाव की संस्कृति विकसित की है। यही कारण है कि भारतीय विरासत एक एकरेखीय प्रवाह (linear flow) न होकर, एक बहुस्तरीय और बहु-मुखी विकासक्रम का उदाहरण है। इसे हम स्थानिक विविधता और सांस्कृतिक विरासत के रूप में समझ सकते हैं:

- उत्तर भारत में गंगा-जमुनी तहज़ीब, वैदिक और बौद्ध परंपराओं से लेकर मुग़ल स्थापत्य तक विरासत को अनेक रूपों में प्रस्तुत करती है।

- दक्षिण भारत में तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम भाषाई संस्कृति के साथ-साथ चोल और विजयनगर साम्राज्य की स्थापत्य परंपराएँ एक अलग सांस्कृतिक विरासत निर्मित करती हैं।

- पूर्वोत्तर भारत में आदिवासी समुदायों की मौखिक परंपराएँ, शमन परंपराएँ और प्रकृति-पूजा की पद्धतियाँ भारत की अमूर्त विरासत का अनूठा स्वरूप हैं।

- पश्चिम भारत में सूफी-भक्ति परंपराओं, लोक नाट्य (जैसे भवाई, लावणी), और हस्तशिल्प परंपराओं ने क्षेत्रीय विरासत को समृद्ध किया है।

यहाँ सांस्कृतिक संवाद और संश्लेषण भी देखा जा सकता है; भारतीय संस्कृति की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह रही है कि उसने न केवल बाहरी प्रभावों को समाहित किया, बल्कि उनसे संवाद कर नवाचार भी उत्पन्न किया।

- भक्ति आंदोलन ने परंपरागत संस्कृत-प्रधान धार्मिकता को लोकभाषाओं में सरल और सुलभ बनाया।
- इस्लामी स्थापत्य कला ने भारतीय मंदिरों और महलों की शैली को प्रभावित किया — जैसे कि मथुरा, वाराणसी और गोलकुंडा में संरचनात्मक मिश्रण देखा जा सकता है।
- संत, सूफ़ी, लोक और आदिवासी परंपराओं ने विरासत को एक स्थिर या 'शुद्ध' परंपरा नहीं रहने दिया, बल्कि उसे गतिशील, बहुआयामी और संवादशील बनाए रखा।

इतिहासकार डियाना एकमैन (Diana Eck) कहती हैं: "India's sacred geography is not just sacred because of its temples, but because of the stories, movements and interactions that continuously reshape their meanings." इस विविधता और संवाद की प्रक्रिया ने भारतीय विरासत को केवल संरक्षित अतीत नहीं, बल्कि निरंतर विकसित होती जीवंत परंपरा बना दिया है।

वर्तमान संदर्भ में विरासत का गतिशील अर्थ: आज विरासत केवल संग्रहालयों या ग्रंथों में नहीं है — वह सिनेमा, साहित्य, त्योहारों, शहरों के नामों, पारिवारिक अनुष्ठानों और निजी स्मृतियों में भी जीवित है। विरासत एक ऐसी सामूहिक प्रक्रिया है, जो अतीत को वर्तमान में अर्थ प्रदान करती है और भविष्य के लिए मार्ग प्रशस्त करती है। भारतीय विरासत की विशेषता उसकी संवेदनशील स्थिरता है — वह बदलती है, लेकिन अपनी आत्मा नहीं खोती; वह पुरानी होती है, लेकिन अप्रासंगिक नहीं होती।

1.2.3 सामूहिक स्मृति और विरासत

विरासत को केवल भौतिक वस्तुओं, भवनों, पुस्तकों या त्योहारों की सूची तक सीमित करना उसकी संकीर्ण व्याख्या होगी। वस्तुतः, विरासत उस स्मृति और चेतना का समुच्चय है जो किसी समाज, समुदाय या राष्ट्र की सामूहिक पहचान को बनाता और सहेजता है। इसे ही विद्वान सामूहिक स्मृति (Collective Memory) कहते हैं।

● सामूहिक स्मृति क्या है?

सामूहिक स्मृति उस साझा अनुभव, ज्ञान और स्मरण की प्रक्रिया है जो किसी समाज के भीतर पीढ़ी दर पीढ़ी निर्मित होती है। यह स्मृति केवल ऐतिहासिक तथ्य नहीं होती, बल्कि उन घटनाओं, प्रतीकों, कथाओं और विश्वासों का समावेश होती है जो किसी समुदाय को एक साझा 'हम' की भावना प्रदान करते हैं। दर्शनशास्त्री जान असमैन (Jan Assmann) के अनुसार: "Cultural memory is that body of reusable texts, images, and rituals specific to each society through which it maintains continuity with its past." इस दृष्टि से, विरासत

एक सक्रिय स्मृति है — वह बीते युगों की निष्क्रिय छाया नहीं, बल्कि एक ऐसा संवेदनशील सेतु है जो अतीत, वर्तमान और भविष्य को जोड़ता है।

● कैसे निर्मित होती है यह स्मृति?

सामूहिक स्मृति विविध माध्यमों से निर्मित होती है:

- मौखिक परंपराएँ (लोककथाएँ, गीत, कथा)
- धार्मिक और सामाजिक अनुष्ठान (त्योहार, व्रत, मेलों की परंपरा)
- स्थानों और स्मारकों की पवित्रता (चार धाम, काशी, अजमेर)
- सांस्कृतिक प्रथाएँ (खाना-पीना, वस्त्र, विवाह संस्कार आदि)
- राजनीतिक-सांस्कृतिक स्मरण (आज़ादी की लड़ाई, संविधान सभा, गांधी दर्शन)

इन माध्यमों के माध्यम से समाज अपने अतीत को न केवल याद रखता है, बल्कि उसे पुनः जीवंत करता है।

● विरासत और पहचान का संबंध

सामूहिक स्मृति ही किसी समुदाय की सांस्कृतिक पहचान (Cultural Identity) को परिभाषित करती है। जब हम कहते हैं कि "भारतीय संस्कृति सहिष्णु है" या "हम विविधता में एकता के प्रतीक हैं," तो ये कथन सामूहिक स्मृति के माध्यम से बनी सांस्कृतिक आत्म-छवियाँ (self-representations) हैं।ये स्मृतियाँ कभी-कभी विवादास्पद भी होती हैं — जैसे किसी स्मारक या परंपरा की अलग-अलग व्याख्याएँ — लेकिन यही बहस भी विरासत को जीवंत बनाए रखती है। इतिहासकार एरिक हॉब्सबॉम कहते हैं: "Traditions that seem or claim to be old are often quite recent in origin and sometimes invented."यह कथन हमें यह भी सिखाता है कि विरासत का स्वरूप नैतिक और भावनात्मक मूल्यांकन से जुड़ा होता है — वह तर्क और भावना दोनों से निर्मित होती है। आज जब वैश्वीकरण, बाज़ारीकरण और डिजिटल संस्कृति तेजी से समाजों को बदल रही है, तब यह और भी ज़रूरी हो गया है कि हम विरासत को केवल 'पिछड़ेपन' से न जोड़ें, बल्कि उसे एक सक्रिय सामूहिक चेतना के रूप में समझें, जो हमारी जड़ों से जुड़ने और नई पीढ़ियों को मूल्य देने का माध्यम बनती है।

1.3 भारतीय विरासत के प्रमुख क्षेत्र

भारतीय विरासत एक बहुआयामी और बहुस्तरीय संरचना है, जिसमें भौतिक और अमूर्त, दोनों प्रकार के तत्व शामिल हैं। इस विरासत को हम विभिन्न क्षेत्रों या अनुशासनों (domains) में बाँटकर बेहतर ढंग से समझ सकते हैं। प्रत्येक क्षेत्र न केवल ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है, बल्कि आज के भारत की सामाजिक-सांस्कृतिक पहचान को भी परिभाषित करता है।

1.3.1 भौतिक विरासत (Tangible Heritage)

भौतिक विरासत विरासत स्थानिक (spatial) रूप से स्थायी होती है, और अक्सर किसी विशेष भौगोलिक क्षेत्र, ऐतिहासिक घटना या धार्मिक विश्वास से जुड़ी होती है। UNESCO ने भौतिक विरासत को तीन मुख्य श्रेणियों में बाँटा है:

1. स्थापत्य/स्मारक (Monuments): जैसे मंदिर, मस्जिद, चर्च, स्तूप, किले, महल, समाधियाँ आदि
2. स्थल (Sites): जैसे पुरातात्विक स्थल, ऐतिहासिक नगर, युद्धस्थल
3. संपूर्ण समूह (Groups of buildings): जैसे ऐतिहासिक नगरीय परिसर या स्थापत्य समूह (जैसे जैसलमेर, मथुरा, हंपी)

धार्मिक स्थापत्य; भारतीय उपमहाद्वीप की धार्मिक स्थापत्य परंपरा अत्यंत समृद्ध और प्राचीन है। यह न केवल धार्मिक आस्था का प्रतीक है, बल्कि स्थापत्य शिल्प, भौगोलिक विविधता और कलात्मक दृष्टि का भी परिचायक है। इसके कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं:

- काशी विश्वनाथ मंदिर: वाराणसी स्थित यह मंदिर शिवभक्ति और शैव परंपरा का एक केंद्रीय स्थल है। यह मंदिर बार-बार विध्वस्त और पुनर्निर्मित होता रहा है, जिससे इसकी परतदार ऐतिहासिक स्मृति सामने आती है।
- अजमेर शरीफ: यह ख्वाजा मोइनुद्दीन चिश्ती की दरगाह है, जो सूफी परंपरा का जीवंत केंद्र है और धार्मिक सहिष्णुता का प्रतीक भी।
- स्वर्ण मंदिर (हरमंदिर साहिब): सिख धर्म का सर्वोच्च तीर्थस्थान, जो न केवल धार्मिक आस्था बल्कि मानव समानता, सेवा और सौंदर्यबोध का भी केंद्र है।

- कोणार्क सूर्य मंदिर: 13वीं शताब्दी में निर्मित यह मंदिर ओडिशा की स्थापत्य कला और खगोलविद्या की समझ का अद्भुत उदाहरण है, जो सूर्य उपासना के सांस्कृतिक पक्ष को भी दर्शाता है।

धार्मिक स्थापत्य केवल ईश्वर का निवास नहीं, बल्कि सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक अभिव्यक्ति का माध्यम भी रहा है।

राजनैतिक-ऐतिहासिक स्मारक; भारत की राजनैतिक और सैन्य विरासत को दर्शाने वाले स्थापत्य संरचनाएँ सत्ता, प्रशासन, और विरोध के प्रतीकों के रूप में कार्य करती हैं। इसके कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं:

- लाल किला (दिल्ली): मुग़ल साम्राज्य की स्थापत्य शान और राजनीतिक शक्ति का प्रतीक, जिसे स्वतंत्रता दिवस पर प्रधानमंत्री के भाषण द्वारा आधुनिक राष्ट्रीय स्मृति में जोड़ा गया है।

- गोलकुंडा किला: दक्षिण भारत के शक्तिशाली कुतुबशाही शासकों की राजधानी और हीरा व्यापार का केंद्र रहा यह किला सैन्य रणनीति और वास्तुशास्त्र का अद्भुत उदाहरण है।

- राजघाट: महात्मा गांधी की समाधि-स्थल, जो भारत के स्वतंत्रता आंदोलन और अहिंसा के मूल्यों की सांकेतिक विरासत बन चुका है।

- गेटवे ऑफ इंडिया: औपनिवेशिक स्थापत्य की पहचान, जहाँ से ब्रिटिश सैनिकों की अंतिम विदाई हुई, और यह अब राष्ट्रीय गौरव और आत्मसम्मान का प्रतीक बन गया है।ये स्मारक हमें इतिहास से जुड़े संघर्ष, सत्ता और पहचान की याद दिलाते हैं।

पुरातात्विक स्थल; भारत की पुरातात्विक विरासत उसकी प्राचीन सभ्यताओं और शहरी योजनाओं का भौतिक प्रमाण है। इसके कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं:

- मोहनजोदड़ो और धौलावीरा: सिंधु घाटी सभ्यता की नगर योजना, जल प्रबंधन प्रणाली और सामाजिक संरचना के जीवंत प्रमाण। धौलावीरा की विशिष्टता है उसका 'हर्ष-वृत्त' लेआउट और जल-भंडारण तकनीक।

- सांची स्तूप: मौर्य और शुंग काल की बौद्ध कला और धर्म के प्रचार का केंद्र। इसकी रेलिंगों और तोरणों पर बुद्ध की जीवनकथाओं की मूर्तियाँ अंकित हैं।

- अत्रेयपुर (उ.प्र.): गंगा घाटी की उत्तरवैदिक और शेष-वैदिक संस्कृति का पुरातात्विक स्थल, जिससे ग्रामीण और लघु नगरीय जीवन का ज्ञान मिलता है।

ये स्थल इतिहास को केवल पढ़ने की नहीं, बल्कि देखने और अनुभव करने की प्रक्रिया बनाते हैं।

चित्रकला और मूर्तिकला; भारतीय चित्र और मूर्तिकला ने धार्मिक, सामाजिक, और सौंदर्यात्मक पक्षों को अनुकरणीय सौंदर्यशास्त्र के माध्यम से व्यक्त किया है। इसके कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं:

- अजंता की गुफाएँ: बौद्ध जीवन, जातक कथाएँ और राजसी संस्कृति पर आधारित भित्तिचित्र, जो दूसरी सदी ई.पू. से 6ठी सदी तक के हैं।

- खजुराहो की मूर्तियाँ: चंदेल वंश द्वारा निर्मित यह मंदिर समूह न केवल धार्मिक वास्तुकला का उदाहरण हैं, बल्कि काम, धर्म, अर्थ, मोक्ष के चार पुरुषार्थों की कलात्मक अभिव्यक्ति हैं।

- चोल कांस्य प्रतिमाएँ: विशेषकर नटराज (नृत्यरत शिव) की मूर्ति — यह धार्मिक सौंदर्य, संतुलन और अभिजात कारीगरी का प्रतीक है।

इन कलात्मक अभिव्यक्तियों में धर्म, सौंदर्य और सामाजिक चेतना का त्रिवेणी-संगम दिखाई देता है।

हस्तशिल्प और वस्तुएँ; हस्तशिल्प भारतीय समाज की स्थानीय ज्ञान परंपरा, कारीगरी और लोक अभिव्यक्ति का मूर्त रूप हैं। इसके कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं:

- बस्तर धातु शिल्प (छत्तीसगढ़): 'ढोकरा' तकनीक से बनी यह मूर्तियाँ जनजातीय जीवन, प्रकृति और आस्था का रूप हैं।

- वाराणसी की बुनकरी: सिल्क की साड़ियों की बुनाई कला (जैसे बनारसी साड़ी) स्थानीय मुस्लिम और हिंदू बुनकरों की साझी विरासत को दर्शाती है।

- मिट्टी के खिलौने (कुम्हार कला): ग्रामीण भारत की पारंपरिक कुम्हारी परंपरा जो खिलौनों, दीपकों और अनुष्ठानों की वस्तुओं के माध्यम से सांस्कृतिक जीवन को अभिव्यक्त करती है।

इन हस्तशिल्पों में न केवल कला की सुंदरता, बल्कि आजीविका, परंपरा और पर्यावरण के साथ संतुलन की झलक मिलती है।

1.3.2 अमूर्त विरासत

अमूर्त विरासत से आशय उन जीवंत सांस्कृतिक परंपराओं, ज्ञान प्रणालियों, विश्वासों, कलाओं, रीति-रिवाज़ों और सामाजिक मूल्यों से है जिन्हें किसी सामुदायिक अभ्यास, मौखिक परंपरा, अनुष्ठान या शिल्पकला के रूप में अनुभव किया जाता है, लेकिन जिन्हें किसी इमारत, वस्तु या स्थल की तरह संरक्षित नहीं किया जा सकता।

भाषा और साहित्य (Language and Oral Traditions): भाषा केवल संवाद का माध्यम नहीं, बल्कि संस्कृति का वाहक होती है। भारतीय उपमहाद्वीप में सैकड़ों भाषाओं और बोलियों में मौखिक साहित्य, लोककथाएँ, गीत, मुहावरे, कहावतें और धार्मिक श्लोक संरक्षित हैं।संस्कृत, पालि, प्राकृत, तमिल, और अपभ्रंश जैसी प्राचीन भाषाओं से लेकर हिन्दी, बांग्ला, उर्दू, मराठी, गुजराती, और अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं में रचित साहित्य भारतीय विरासत की आत्मा है। रामायण, महाभारत, वेद, उपनिषद, जातक कथा, संगम साहित्य, सूफ़ी कव्वालियाँ, भक्तिकाव्य और आधुनिक उपन्यास — ये सभी भारतीय समाज की भावनात्मक और बौद्धिक धरोहर हैं।भाषाई विविधता भारत की एक प्रमुख सांस्कृतिक विशेषता है, जहाँ 22 संविधानिक भाषाएँ और सैकड़ों बोलियाँ जीवंत हैं।

- लोककथाएँ और कहावतें: जैसे राजा-रानी की कहानियाँ, पंचतंत्र, बिरसा मुंडा की गाथाएँ, मीरा और कबीर की वाणी।
- भाषाई विविधता: संविधान की आठवीं अनुसूची में 22 भाषाओं के अलावा भारत में 1200 से अधिक मातृभाषाएँ बोली जाती हैं।
- काव्य परंपराएँ: भक्तिकाल, सूफ़ी काव्य, वीरगाथाएँ, शृंगार गीत।

ये परंपराएँ समाज की नैतिक शिक्षा, मनोरंजन और ऐतिहासिक स्मृति को एकत्र करती हैं।

धार्मिक परंपराएँ और दर्शन (Religious Practices and Philosophy): भारत की अमूर्त विरासत में धार्मिक अनुष्ठान, दर्शन परंपराएँ, पंथ और तीर्थ यात्राएँ एक केंद्रीय स्थान रखते हैं।भारत विविध धार्मिक परंपराओं का उद्गम स्थल रहा है — जैसे हिन्दू धर्म, बौद्ध धर्म, जैन धर्म और सिख धर्म — और साथ ही इस्लाम, ईसाई, यहूदी, पारसी और बहाई जैसे धर्मों ने भी यहाँ गहरा प्रभाव डाला।भारतीय दर्शन में सांख्य, योग, न्याय, वेदांत, बौद्ध, जैन और सूफ़ी चिंतन की परंपराएँ रही हैं।धार्मिक सहिष्णुता, बहुलता और संवाद की परंपरा भारतीय विरासत की एक विशेष पहचान है।

- योग और ध्यान परंपरा: पतंजलि योगसूत्र से लेकर आधुनिक अंतर्राष्ट्रीय योग दिवस तक — यह शारीरिक-मानसिक और आध्यात्मिक स्वास्थ्य का समन्वय है।

- तीर्थ यात्रा: जैसे चार धाम, व्रज यात्रा, अमरनाथ यात्रा, शबरीमला।
- संत-परंपरा और सूफ़ीवाद: कबीर, रविदास, तुलसी, बाबा फरीद, निज़ामुद्दीन औलिया जैसे संतों की शिक्षाएँ धार्मिक सीमाओं से परे जाकर मानवीय मूल्यों पर बल देती हैं।

ये परंपराएँ धर्म के आत्मिक और व्यावहारिक पक्ष को जीवित रखती हैं।

लोक परंपराएँ और जीवन शैली (Folk Traditions and Cultural Practices):लोक परंपराएँ किसी क्षेत्र विशेष की सामूहिक चेतना, पर्यावरणीय अनुभव और सामाजिक संरचना की अभिव्यक्ति होती हैं।भारत की लोक-संस्कृति, लोकगीत, लोकनाट्य (नौटंकी, तमाशा, यक्षगान), ग्रामीण कलाएँ, रीति-रिवाज़, भोज्य परंपराएँ, वस्त्रशैली और वास्तुशिल्प शैली विविधतापूर्ण हैं।हर क्षेत्र की अपनी सांस्कृतिक विशिष्टता (regional identity) है — जैसे राजस्थान का घूमर, असम का बिहू, पंजाब का भांगड़ा, कश्मीर का काहवा और बंगाल की दुर्गा पूजा।त्योहारों, मेलों और लोक उत्सवों में यह विरासत जीवंत रूप में दिखाई देती है।

- लोकनाट्य: जैसे नौटंकी (उत्तर भारत), यक्षगान (कर्नाटक), तमाशा (महाराष्ट्र), थिय्याट्टू (केरल)।
- लोकगीत और नृत्य: जैसे आल्हा, घूमर, लावणी, बिहू, डोलो गीत।
- पारंपरिक जीवनशैली: जैसे पर्व-त्योहारों की तैयारी, लोक-भोजन, वस्त्र-आभूषण, बुनाई-बुनकरी।

इन परंपराओं में सामूहिकता, रीति-नीति और परंपरागत ज्ञान का गहरा समावेश होता है।

पारंपरिक ज्ञान और चिकित्सा प्रणाली (Traditional Knowledge and Healing Systems): अमूर्त विरासत में प्राकृतिक चिकित्सा, मौसम पूर्वानुमान, कृषि ज्ञान, और स्थानीय औषधि प्रणालियाँ शामिल होती हैं, जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी अनुभव और मौखिक परंपरा से संचरित होती हैं।प्राचीन भारत ने गणित (शून्य की खोज, आर्यभट, भास्कराचार्य), ज्योतिष, धातु विज्ञान (लोहे के स्तंभ), वास्तुशास्त्र, जल प्रबंधन प्रणाली और शिल्प विज्ञान में उल्लेखनीय योगदान दिया।आयुर्वेद, सिद्ध, और यूनानी चिकित्सा पद्धतियाँ भारतीय चिकित्सा विरासत का हिस्सा हैं, जिन्हें आज वैश्विक मान्यता प्राप्त है।योग और ध्यान पद्धति न केवल धार्मिक साधना का हिस्सा हैं, बल्कि जीवनशैली और मानसिक स्वास्थ्य से भी जुड़ी हैं।

- आयुर्वेद और सिद्ध चिकित्सा: शरीर-मन संतुलन की प्रणाली, जो 'त्रिदोष' सिद्धांत पर आधारित है।

- ज्योतिष और वास्तुशास्त्र: आकाशीय गणनाओं और स्थापत्य की पारंपरिक समझ।
- लोक ज्ञान: जैसे बीजों का चयन, औषधीय पौधों की पहचान, पशुपालन की स्थानीय विधियाँ।

यह ज्ञान स्थानीय पारिस्थितिकी, आत्मनिर्भरता और स्वास्थ्य चेतना को बनाए रखने में सहायक होता है।

सामाजिक संरचना और मूल्य प्रणाली (Social Systems and Ethical Values): सामाजिक विरासत में परिवार, विवाह, जाति, उत्सव, न्यायबोध और नैतिक आचार संहिता आते हैं जो भारत में पीढ़ियों से संरक्षित हैं।जाति व्यवस्था, परिवार व्यवस्था, आश्रम और वर्ण परंपरा, संयुक्त परिवार, विवाह संस्कार आदि भारतीय समाज की संरचना में ऐतिहासिक रूप से अंतर्निहित रहे हैं।यद्यपि इनमें कई सुधारवादी आंदोलन भी हुए हैं — जैसे ब्रह्म समाज, आर्य समाज, दलित आंदोलन, नारी शिक्षा आंदोलन — जो इस विरासत को आलोचनात्मक और परिवर्तनशील दृष्टिकोण से देखने की ओर प्रेरित करते हैं।

- संयुक्त परिवार व्यवस्था, ग्राम पंचायतें, सामुदायिक निर्णय प्रणाली
- विवाह की वैदिक, सूफ़ी या जनजातीय विधियाँ
- नारी और पुरुष की सामाजिक भूमिकाओं का लोक परिप्रेक्ष्य

यद्यपि इनमें अनेक सुधार हुए हैं, फिर भी ये सामाजिक अनुभव की मूलभूत संरचना का अंग हैं।

आधुनिक अमूर्त विरासत (Modern Intangible Heritage): यह आधुनिक युग में निर्मित वह स्मृति और मूल्य प्रणाली है जो स्वतंत्रता संग्राम, संविधान, और लोकतांत्रिक मूल्यों से जुड़ी है।भारतीय स्वतंत्रता संग्राम, गांधीवाद, स्वराज, असहयोग, दलित चेतना, और संविधान का निर्माण — ये सभी भारत की राजनीतिक-सांस्कृतिक विरासत का अंग बन चुके हैं।संवैधानिक मूल्य — जैसे न्याय, स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व — भी अब हमारी विरासत का हिस्सा हैं, जिनकी रक्षा और पुनर्पाठ आज आवश्यक है।

- गांधी, अम्बेडकर, भगत सिंह, सुभाष चंद्र बोस जैसे ऐतिहासिक व्यक्तित्वों की प्रेरणाएँ।
- राष्ट्रीय पर्व, संविधान की प्रस्तावना, लोकसभा बहसें, सार्वजनिक शपथ।
- स्वराज, स्वदेशी, समानता और सामाजिक न्याय जैसे मूल्य।

ये मूल्य भारतीय लोकतंत्र और नागरिक चेतना की बुनियाद बनाते हैं।

1.4 भारतीय विरासत का महत्व

भारतीय विरासत न केवल हमारे अतीत की स्मृति है, बल्कि यह हमारे वर्तमान की पहचान और भविष्य की दिशा भी निर्धारित करती है। यह विरासत भारत की सांस्कृतिक निरंतरता, विचारधारात्मक विविधता और सामाजिक बुनावट की जीवंत अभिव्यक्ति है। यह खंड भारतीय विरासत के बहुआयामी महत्व को चार मुख्य पक्षों से विश्लेषित करता है:

सांस्कृतिक पहचान और राष्ट्रीय चेतना में योगदान: भारतीय विरासत ने सदियों से राष्ट्रीय एकता और सांस्कृतिक आत्मबोध की भावना को पोषित किया है। विभिन्न धर्मों, भाषाओं, कला-रूपों और परंपराओं के होते हुए भी भारत की विरासत ने एक साँझा सांस्कृतिक ढाँचा निर्मित किया है।स्वतंत्रता संग्राम के दौरान गांधी, टैगोर, अम्बेडकर, और नेहरू जैसे नेताओं ने भारतीय विरासत के तत्वों को राष्ट्रीय चेतना के निर्माण में प्रयुक्त किया — जैसे स्वदेशी आंदोलन में खादी, पंचायती परंपरा, लोकगीत आदि।प्राचीन ग्रंथों, स्थापत्य, संगीत और लोक परंपराओं ने भारतीय समाज को अपनी ऐतिहासिक जड़ों से जोड़ने का कार्य किया।उदाहरण: भारत के संविधान की प्रस्तावना में "हम भारत के लोग" का विचार भी भारतीय सांस्कृतिक दृष्टिकोण की विविधता और एकता से प्रेरित है।

बहुलता और सहिष्णुता की परंपरा: भारतीय विरासत की सबसे प्रमुख विशेषता है उसका बहुलतावादी (pluralistic) स्वभाव और सहिष्णुता की दीर्घ परंपरा।भारत में वैदिक धर्म, बौद्ध, जैन, शैव, वैष्णव, सूफ़ी, सिख, यहूदी, ईसाई, पारसी — सभी परंपराओं ने सहअस्तित्व की भावना के साथ फलने-फूलने का अवसर पाया।विरासत का यह पक्ष संवाद और समन्वय को प्रोत्साहित करता है, न कि टकराव को।लोक परंपराओं में अलग-अलग विश्वासों और समुदायों का संस्कृति-संगम जैसे उदाहरण मिलते हैं — जैसे सूफ़ी दरगाहों पर हिंदू श्रद्धालुओं की उपस्थिति। उदाहरण: कबीर और नानक की वाणी में हिंदू और मुस्लिम दर्शन का समन्वय, या अम्बेडकर द्वारा बौद्ध परंपरा की पुनर्व्याख्या।

विश्व इतिहास और वैश्विक सांस्कृतिक संवाद में योगदान: भारतीय विरासत ने केवल भारत की ही नहीं, बल्कि विश्व संस्कृति को भी समृद्ध किया है।भारतीय गणित, खगोलशास्त्र, योग, और आयुर्वेद ने वैश्विक ज्ञान परंपरा में महत्वपूर्ण योगदान दिया।बौद्ध धर्म भारत से निकलकर चीन, जापान, कोरिया, तिब्बत और दक्षिण-पूर्व एशिया तक फैला और वहाँ की सांस्कृतिक पहचान का हिस्सा बना।भारतीय वस्त्र, व्यंजन, संगीत और शिल्पकला ने विश्व के विभिन्न भागों में सांस्कृतिक आदान-प्रदान को जन्म दिया।उदाहरण: नालंदा और तक्षशिला जैसे प्राचीन विश्वविद्यालयों ने वैश्विक शैक्षिक और बौद्धिक संवाद को पोषित किया।

समकालीन भारत में विरासत की प्रासंगिकता:

आज के समय में भी भारतीय विरासत न केवल संरक्षण की वस्तु है, बल्कि सामाजिक, आर्थिक और नैतिक दिशा का स्रोत भी है।पर्यटन उद्योग में विरासत का महत्वपूर्ण योगदान है — जैसे विश्व धरोहर स्थल, धार्मिक यात्रा, लोक उत्सव आदि।स्थानीय और पारंपरिक ज्ञान जैसे जैविक कृषि, पारंपरिक औषधियाँ, वास्तु आदि सतत विकास (sustainable development) के संदर्भ में पुनर्मूल्यांकित हो रहे हैं।लोकतंत्र, विविधता और समावेशन जैसे आधुनिक मूल्यों को भारतीय सांस्कृतिक विरासत से वैचारिक आधार प्राप्त होता है।युवा पीढ़ी के लिए विरासत एक आत्मबोध, सांस्कृतिक संवाद और रचनात्मक प्रेरणा का स्रोत बन सकती है।उदाहरण: अंतर्राष्ट्रीय योग दिवस, GI टैग से संरक्षित पारंपरिक शिल्प, और स्मार्ट सिटी परियोजनाओं में विरासत संरक्षण की प्राथमिकता।

1.6 सारांश

यह इकाई भारतीय विरासत की परिभाषा, उसके आयामों और विविधताओं को समझने के उद्देश्य से तैयार की गई थी। 'विरासत' केवल अतीत की संपत्ति नहीं, बल्कि एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है जिसके माध्यम से हम अपने अतीत को वर्तमान संदर्भ में पुनः समझते और पुनः गढ़ते हैं।प्रस्तावना में हमने जाना कि विरासत की अवधारणा केवल स्थापत्य या मूर्त धरोहर तक सीमित नहीं है, बल्कि इसमें अमूर्त पहलू भी शामिल हैं — जैसे विचार, परंपराएँ, मूल्य और सामाजिक स्मृति। हमने भौतिक विरासत और अमूर्त विरासत के बीच अंतर और परस्पर संबंध को स्पष्ट किया।

इस इकाई में प्रमुख रूप से निम्नलिखित बिंदुओं पर चर्चा की गई:

🔷 भौतिक विरासत में स्थापत्य, चित्रकला, मूर्तिकला, हस्तशिल्प और पुरातात्विक स्थलों जैसे क्षेत्र आते हैं, जो हमारी ऐतिहासिक निरंतरता और दृश्य संस्कृति को प्रकट करते हैं।

🔷 अमूर्त विरासत में भाषा, साहित्य, लोक परंपराएँ, धार्मिक अनुष्ठान, पारंपरिक ज्ञान और सामाजिक मूल्य शामिल हैं — जो सामूहिक स्मृति और जीवंत सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का वाहक हैं।

🔷 भारत की भौगोलिक, जातीय, भाषिक और धार्मिक विविधता ने उसकी विरासत को बहुरूपीय और संवादशील बनाया है। यह विरासत एक ही समय में परंपरा और नवाचार, स्थानीयता और सार्विकता का समावेश करती है।

भारतीय विरासत को केवल संग्रहालयीय वस्तु या स्मारक समझना उसकी सीमा को छोटा करना होगा। यह एक जीवंत, गतिशील और बहुआयामी अनुभव है, जो भारत को भारत बनाता है। इसे समझना, संरक्षित करना और आलोचनात्मक रूप से पुनर्परिभाषित करना हमारी साझा ज़िम्मेदारी है।

1.6 अभ्यास प्रश्न

🔷 बहुविकल्पीय प्रश्न (Objective Type Questions):

1. भारतीय विरासत का कौन-सा पक्ष अमूर्त विरासत में आता है?
   (a) कोणार्क सूर्य मंदिर
   (b) अजंता की गुफाएँ
   (c) योग और ध्यान परंपरा ✅
   (d) लाल किला

2. कौन-सा उदाहरण भौतिक सांस्कृतिक विरासत का है?
   (a) लोककथाएँ
   (b) संयुक्त परिवार व्यवस्था
   (c) मधुबनी चित्रकला ✅
   (d) लोकगीत

🔷 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (Long Answer Type Questions):

1. भारतीय विरासत की परिभाषा दीजिए। इसके भौतिक और अमूर्त पक्षों की तुलना उदाहरणों सहित कीजिए।

2. भारतीय अमूर्त सांस्कृतिक विरासत के विभिन्न स्वरूपों की विवेचना कीजिए। इस विरासत को संरक्षित करने के लिए किन प्रयासों की आवश्यकता है?

3. विरासत की अवधारणा को बहुलता और विविधता के संदर्भ में समझाइए। भारतीय उपमहाद्वीप में इसके स्वरूप किस प्रकार बहुस्तरीय हैं?

4. भारतीय धार्मिक और स्थापत्य परंपरा को भौतिक विरासत के संदर्भ में समझाइए। काशी, अजमेर और कोणार्क जैसे स्थलों के उदाहरण दीजिए।

5. विरासत को केवल अतीत की स्मृति न मानकर वर्तमान के सक्रिय सांस्कृतिक निर्माण की प्रक्रिया के रूप में कैसे समझा जा सकता है? स्पष्ट कीजिए।

1.7 संदर्भ ग्रंथ

1. Mukhia, Harbans (1999). The Feudalism Debate. New Delhi: Vikas Publishing.

2. Thapar, Romila (2000). Cultural Pasts: Essays in Early Indian History. New Delhi: Oxford University Press.

3. UNESCO (2003). Convention for the Safeguarding of the Intangible Cultural Heritage. Paris.

4. Chandra, Bipan (2008). History of Modern India. New Delhi: Orient Blackswan.

5. Jain, Jyotindra (2010). Indian Folk and Tribal Art. New Delhi: Niyogi Books.

6. Bose, N.K. (1967). Culture and Society in India. Bombay: Asia Publishing House.

7. Singh, K.S. (Ed.) (1993). People of India: National Series. Anthropological Survey of India.

8. IGNCA (2012). Intangible Heritage Documentation Handbook. Indira Gandhi National Centre for the Arts.

9. Smith, Laurajane (2006). Uses of Heritage. Routledge.

10. Guha-Thakurta, Tapati (2004). Monuments, Objects, Histories: Institutions of Art in Colonial and Postcolonial India. Columbia University Press.

इकाई दो

भारत की मूर्त सांस्कृतिक विरासत: निर्मित विरासत

इकाई की संरचना

2.1 प्रस्तावना
2.2 उद्देश्य
2.3 निर्मित विरासत की परिभाषा और विशेषताएँ
2.4 भारत की स्थापत्य परंपरा का ऐतिहासिक विकास
2.5 धार्मिक स्थापत्य
    2.5.1 हिन्दू मंदिर स्थापत्य
    2.5.2 बौद्ध स्थापत्य
    2.5.3 जैन स्थापत्य
    2.5.4 इस्लामी स्थापत्य
    2.5.5 सिख स्थापत्य
    2.5.6 ईसाई स्थापत्य
2.5. ईसाई स्थापत्य
2.6 राजनैतिक और सैन्य स्थापत्य
2.7 स्मारक, समाधियाँ और स्तंभ
2.8 क्षेत्रीय विविधता और स्थापत्य शैली
2.9 निर्मित विरासत और संरक्षण की चुनौतियाँ
2.10 सारांश
2.11 अभ्यास प्रश्न
2.12 संदर्भ ग्रंथ

2.1 प्रस्तावना

भारत की सांस्कृतिक विरासत अत्यंत समृद्ध, बहुरूपी और कालातीत है। इसमें जहाँ एक ओर अमूर्त सांस्कृतिक धरोहर — जैसे कि लोकगीत, धार्मिक परंपराएँ, भाषा और जीवनशैली शामिल हैं, वहीं दूसरी ओर मूर्त सांस्कृतिक विरासत (Tangible Cultural Heritage) भी है, जो स्थापत्य, मूर्तिकला, चित्रकला, वस्त्र एवं शिल्पकला जैसी ठोस भौतिक अभिव्यक्तियों के रूप में हमारे सामने आती है। इस इकाई का केंद्रबिंदु इसी मूर्त सांस्कृतिक विरासत के एक प्रमुख हिस्से — निर्मित विरासत (Built Heritage) — की समझ को विकसित करना

है।

निर्मित विरासत केवल ईंट, पत्थर और स्थापत्य कौशल का परिणाम नहीं होती, बल्कि वह समाज की सांस्कृतिक स्मृति, राजनीतिक चेतना, धार्मिक विश्वास और सामूहिक पहचान की भौतिक अभिव्यक्ति होती है। भारत के धार्मिक स्थल, मंदिर, मस्जिदें, गुरुद्वारे, किले, महल, समाधियाँ, स्तूप और नगर नियोजन की परंपराएँ न केवल वास्तुकला की दृष्टि से विलक्षण हैं, बल्कि वे उस कालखंड की सामाजिक संरचना, राजनीतिक सत्ता, धार्मिक विचारधारा और कलात्मक बोध का दर्पण भी हैं।

भारत की स्थापत्य परंपरा का विकास सिन्धु घाटी सभ्यता से प्रारंभ होकर वैदिक, बौद्ध, मौर्य, गुप्त, मध्यकालीन, इस्लामी, औपनिवेशिक और स्वतंत्रता-उत्तर काल तक जारी रहा है। हर युग ने अपनी विशिष्ट शैली, तकनीक, और दर्शन से निर्मित विरासत में कुछ न कुछ नया जोड़ा है। यही कारण है कि भारत की निर्मित विरासत एक बहुस्तरीय सांस्कृतिक पाठ की भाँति है, जिसे पढ़ना केवल इतिहास का अध्ययन नहीं, बल्कि संस्कृति को समझने का सशक्त माध्यम भी है।

आज जब शहरीकरण, पर्यावरणीय संकट और बाज़ारीकरण की प्रक्रिया तेज़ी से हमारी ऐतिहासिक संरचनाओं को प्रभावित कर रही है, तब यह आवश्यक हो जाता है कि हम इस विरासत को न केवल संरक्षित करें, बल्कि उसे आलोचनात्मक ढंग से समझें, ताकि वह समकालीन समाज के लिए भी सार्थक बनी रहे।

इस इकाई के माध्यम से आप जानेंगे कि भारत की निर्मित विरासत में कौन-कौन से घटक आते हैं, उनकी ऐतिहासिक व स्थापत्य विशेषताएँ क्या हैं, क्षेत्रीय विविधताएँ कैसी हैं, और किस प्रकार से इन स्थलों के संरक्षण की चुनौती आज हमारे सामने है।भारत की निर्मित विरासत की विशिष्टता इस बात में है कि यह बहुलता और संवाद की भौतिक अभिव्यक्ति करती है। उत्तर भारत के इस्लामी स्थापत्य में हिन्दू और जैन शिल्प परंपराओं के तत्वों का समावेश, या दक्षिण भारत के मंदिरों में वैदिक और द्रविड़ मूल्यों की एकसूत्रता, इस बात का प्रमाण है कि भारत की वास्तुकला केवल निर्माण नहीं, संस्कृतियों के बीच रचनात्मक समागम भी है। फ़तेहपुर सीकरी जैसे नगर, मथुरा और वाराणसी के घाट, या जैसलमेर के किले — यह सभी स्थल न केवल राजनीतिक सत्ता के केंद्र रहे, बल्कि धर्म, समाज और अर्थनीति के भी प्रतीक बने।अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी भारत की निर्मित विरासत को UNESCO विश्व धरोहर सूची में स्थान मिला है, जो इसकी सांस्कृतिक सार्वभौमिकता (Universal Cultural Value) को प्रमाणित करता है। ताजमहल, खजुराहो, हम्पी, महाबलीपुरम, जंतर मंतर, और रानी की वाव जैसे स्थल यह दर्शाते हैं कि भारत की स्थापत्य परंपरा ने केवल तकनीकी दृष्टि से नहीं, बल्कि सौंदर्यशास्त्र, प्रतीकवाद और दार्शनिक गहराई में भी विश्व को प्रेरित किया है। इस इकाई का अध्ययन इस दिशा में पहला कदम है कि हम अपनी विरासत को केवल अतीत की वस्तु नहीं, बल्कि वर्तमान और भविष्य के लिए प्रेरणा स्रोत के रूप में समझ सकें।

2.2 अध्ययन के उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरांत, विद्यार्थी निम्नलिखित बातों को समझने, विश्लेषण करने और मूल्यांकन करने में सक्षम होंगे:

🔷 निर्मित सांस्कृतिक विरासत (Built Heritage) की अवधारणा को ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और स्थापत्य परिप्रेक्ष्य में समझ सकेंगे।

🔷 भारत की स्थापत्य परंपरा के ऐतिहासिक विकास क्रम — सिंधु घाटी से आधुनिक काल तक — का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करेंगे।

🔷 भारत में धार्मिक, राजनैतिक, सामुदायिक और स्मृति से जुड़े प्रमुख स्थापत्य स्थलों और शैलियों की पहचान और विश्लेषण कर सकेंगे।

🔷 भारतीय निर्मित विरासत में क्षेत्रीय विविधताओं और स्थानीय सामग्रियों की भूमिका को समझ सकेंगे।

🔷 निर्मित विरासत के संरक्षण की समकालीन चुनौतियों, जैसे शहरीकरण, पर्यावरणीय क्षरण और नीति संबंधी सीमाओं की विवेचना कर सकेंगे।

🔷 राष्ट्रीय और वैश्विक स्तर पर भारतीय स्थापत्य के योगदान और UNESCO विश्व धरोहर स्थलों के महत्व को समझ पाएँगे।

🔷 विरासत के संरक्षण में समुदाय, सरकार और शैक्षणिक संस्थानों की भूमिकाओं का मूल्यांकन कर सकेंगे।

2.3 निर्मित विरासत की परिभाषा और विशेषताएँ

निर्मित विरासत (Built Heritage) से आशय उन भौतिक संरचनाओं, स्थापत्य रूपों और स्थानों से है जो ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, धार्मिक या सामाजिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होते हैं, और जो किसी समुदाय, समाज या राष्ट्र की सांस्कृतिक स्मृति का भौतिक प्रतिनिधित्व करते हैं। इनमें मंदिर, मस्जिद, स्तूप, किले, महल, समाधियाँ, बावड़ियाँ, दरबार भवन, औपनिवेशिक इमारतें, सार्वजनिक स्थल और नगर नियोजन की संरचनाएँ सम्मिलित हैं।

प्रसिद्ध सांस्कृतिक सिद्धांतकार डेविड लाउण्थल के अनुसार,"विरासत केवल वह अतीत नहीं है जो हमें उत्तराधिकार में मिला है, बल्कि वह अतीत है जिसे हम वर्तमान में चुनते हैं और उसे मूल्य प्रदान करते हैं।" इस कथन

से स्पष्ट होता है कि निर्मित विरासत केवल पुरानी इमारतों का संकलन नहीं, बल्कि एक सक्रिय सांस्कृतिक चयन की प्रक्रिया है, जिसमें हम अतीत के किसी रूप को वर्तमान समाज के लिए अर्थपूर्ण बनाते हैं।भारतीय विद्वान प्रो. अजीत कुमार (JNU) लिखते हैं: "भारतीय निर्मित विरासत केवल स्थापत्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं है, बल्कि यह हमारे सांस्कृतिक विकासक्रम का साक्षात् रूप है, जिसमें धर्म, राजनीति, समाज और सौंदर्यशास्त्र की कई परतें एक साथ जुड़ी होती हैं।"

🟢 UNESCO (World Heritage Centre):

"Built heritage refers to immovable structures such as buildings, monuments, archaeological sites, which have historical, cultural, architectural or scientific value and are worthy of preservation."

निर्मित विरासत से आशय उन स्थायी संरचनाओं से है जिनका ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, स्थापत्य या वैज्ञानिक महत्व हो, और जिन्हें संरक्षित किया जाना चाहिए।

🔵 ICOMOS (International Council on Monuments and Sites):

"Built heritage encompasses all forms of architectural work that reflect human interaction with the environment and society over time."

निर्मित विरासत वह स्थापत्य कार्य है जो समय के साथ मानव और उसके परिवेश के बीच संबंध को प्रतिबिंबित करता है।

🟣 डॉ. विभूति सक्सेना (भारतीय स्थापत्य इतिहासकार):

"Built heritage in India is not just architectural memory; it is a dynamic text layered with religion, power, art, and local ethos."

भारत में निर्मित विरासत केवल स्थापत्य स्मृति नहीं है, बल्कि यह एक गतिशील पाठ है जिसमें धर्म, सत्ता, कला और स्थानीय चेतना की परतें समाहित हैं।

निर्मित विरासत की प्रमुख विशेषताएँ:

1. ऐतिहासिकता (Historic Value):

निर्मित विरासत समय की साक्षी होती है — यह किसी विशेष कालखंड, राजवंश, धर्म या शैली का द्योतक होती है। निर्मित विरासत किसी समाज के ऐतिहासिक अनुभवों की साक्षात अभिव्यक्ति होती है। प्रत्येक संरचना—चाहे

वह किला हो, मंदिर हो या स्तूप—किसी कालखंड की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक प्रवृत्तियों को दर्शाती है। उदाहरणस्वरूप, अशोक स्तंभ मौर्य काल की धार्मिक सहिष्णुता और शासकीय वैचारिकता को दर्शाते हैं, जबकि गोलकुंडा किला दक्षिण भारत के मध्यकालीन सैन्य वास्तु का उत्कृष्ट उदाहरण है। ऐसी विरासतें समय के प्रवाह में स्थायित्व की अनुभूति कराती हैं और इतिहास को 'दृश्य अनुभव' में बदल देती हैं।

2. सांस्कृतिक और प्रतीकात्मक अर्थ (Cultural & Symbolic Meaning):

हर निर्मित स्थल केवल स्थापत्य नहीं, बल्कि संस्कृति का प्रतीक होता है — यह सभी सांस्कृतिक विचारधाराओं को मूर्त रूप देते हैं।निर्मित विरासत केवल भौतिक संरचना नहीं होती, बल्कि वह एक गहन सांस्कृतिक प्रतीक भी होती है। मंदिरों की ऊँचाई, मस्जिदों की गुम्बदाकार छत, या गुरुद्वारों की छतरियाँ, ये सभी समाज की मूलभूत आस्थाओं, मान्यताओं और सामाजिक व्यवहारों के प्रतीक हैं। उदाहरण के लिए, नागर और द्रविड़ मंदिर शैलियों की योजना केवल स्थापत्य कौशल का नहीं, बल्कि ब्रह्मांडीय दर्शन का मूर्त रूप है। विरासत का यह सांकेतिक पक्ष उसे केवल संरचना न बनाकर 'सांस्कृतिक पाठ' में बदल देता है।

3. स्थानीयता और पर्यावरणीय अनुकूलता (Material & Climatic Adaptation):

भारतीय निर्मित विरासत में स्थानीय सामग्री (जैसे बलुआ पत्थर, संगमरमर, लकड़ी), पर्यावरणीय ज़रूरतों (जैसे हवेलियों में जालीदार खिड़कियाँ) और स्थानीय वास्तु तकनीकों का अद्भुत संतुलन देखने को मिलता है।भारतीय निर्मित विरासत की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह अपने भौगोलिक और पर्यावरणीय परिप्रेक्ष्य के अनुरूप विकसित हुई है। कश्मीर में लकड़ी और स्लेट पत्थर का प्रयोग, राजस्थान में पीले बलुआ पत्थर, केरल में ढलानदार छतें — ये सभी उदाहरण दर्शाते हैं कि कैसे स्थापत्य स्थानीय सामग्रियों और जलवायु के अनुसार ढला। इससे न केवल संरचनाओं की दीर्घायु सुनिश्चित होती थी, बल्कि यह समाज के प्राकृतिक संतुलन और सतत जीवन-शैली की समझ को भी दर्शाता है।

4. निरंतरता और स्तरीयता (Continuity and Layering):

भारत की स्थापत्य संरचनाएँ अक्सर कालगत परतों से युक्त होती हैं — जैसे दिल्ली का कुतुब परिसर, जिसमें राजपूत, अफगान, तुर्क और मुग़ल शैलियाँ एक-दूसरे पर चढ़ी हुई हैं। यह विरासत को सांस्कृतिक संवाद का स्थल बना देती है।भारत की निर्मित विरासत अक्सर एक से अधिक कालखंडों की परतों को समेटे होती है। ऐसी संरचनाएँ 'इतिहास के संवाद' की तरह होती हैं—जहाँ प्रत्येक परत एक नए युग की सोच, शैली और शक्ति को दर्शाती है। यह विशेषता भारत की संस्कृतियों की निरंतरता और रचनात्मक अनुकूलनशीलता को प्रकट करती है।

5. सामुदायिक स्मृति और पहचान (Community Memory and Identity):

निर्मित विरासत किसी समुदाय की सामूहिक स्मृति और पहचान का वाहक होती है। स्थानीय लोगों के लिए मंदिर, घाट, बाजार, बावड़ी, या स्मारक केवल वास्तुशिल्प नहीं, बल्कि जीवन के अनुभवों और भावनाओं से जुड़े स्थल होते हैं। इन स्थलों के साथ रीति-रिवाज़, पर्व, लोककथाएँ और सामाजिक रीतियाँ जुड़ी होती हैं। जैसे वाराणसी का दशाश्वमेध घाट या अजमेर की दरगाह, स्थानीय और राष्ट्रीय दोनों स्तरों पर सांस्कृतिक स्मृति को संजोने का कार्य करते हैं।

6. स्थिरता और परिवर्तनशीलता का द्वंद्व (Fixity and Fluidity):

निर्मित विरासत दिखने में स्थिर प्रतीत होती है, लेकिन समय के साथ इसका प्रयोग, अर्थ और सामाजिक भूमिका बदलती रही है। कई पुराने किले आज संग्रहालय या होटल में बदल चुके हैं, पुराने मंदिरों का पुनरुद्धार हुआ है, और कई ऐतिहासिक भवन नए सामाजिक उपयोगों के लिए पुनः परिभाषित किए गए हैं। यह गुण विरासत को 'संरक्षण योग्य अतीत' से आगे बढ़ाकर 'प्रासंगिक वर्तमान' बनाता है। यह द्वंद्व ही विरासत को गतिशील बनाता है और उसे समाज की बदलती ज़रूरतों से जोड़े रखता है।

निर्मित विरासत की प्रमुख विशेषताएँ :

क्रम	विशेषता	संक्षिप्त व्याख्या
1	**ऐतिहासिकता**	प्रत्येक संरचना किसी विशिष्ट काल, सत्ता या समाज की ऐतिहासिक साक्षी होती है।
2	**सांस्कृतिक प्रतीकात्मकता**	स्थापत्य में समाज की धार्मिक, दार्शनिक और सांस्कृतिक अवधारणाएँ प्रतिबिंबित होती हैं।
3	**स्थानीयता और पर्यावरणीयता**	स्थानीय सामग्रियों व जलवायु के अनुसार विकसित शैली; सतत निर्माण दृष्टिकोण।
4	**कालगत परतबद्धता**	विभिन्न कालों की स्थापत्य परंपराओं का समन्वय — जैसे कुतुब परिसर या
5	**सामुदायिक स्मृति**	ये स्थल समुदायों की पहचान, भावनात्मक जुड़ाव और परंपराओं के केंद्र होते हैं।
6	**परिवर्तनशीलता और पुनर्परिभाषा**	विरासत स्थल समय के साथ अपने प्रयोग और अर्थ को परिवर्तित करते हैं — गतिशील सांस्कृतिक संसाधन।

2.4 भारत की स्थापत्य परंपरा का ऐतिहासिक विकास

भारत की स्थापत्य परंपरा विश्व की सबसे पुरानी और सतत विकसित होती रही परंपराओं में से एक है। यह परंपरा केवल तकनीकी कौशल या सौंदर्यशास्त्र की अभिव्यक्ति नहीं है, बल्कि यह भारत के धार्मिक विश्वासों, दार्शनिक दृष्टिकोण, सामाजिक संरचनाओं और राजनीतिक सत्ता का भौतिक दस्तावेज़ भी है। इस खंड में हम भारतीय स्थापत्य के विकास को विभिन्न कालखंडों में विभाजित कर अध्ययन करेंगे, ताकि यह स्पष्ट हो सके कि कैसे भारतीय समाज ने अपने ऐतिहासिक अनुभवों को स्थापत्य के माध्यम से अभिव्यक्त किया।

सिन्धु घाटी सभ्यता (2600–1900 ई.पू.)

भारत की स्थापत्य परंपरा की नींव सिन्धु घाटी सभ्यता में ही रखी गई थी। मोहनजोदड़ो और धौलावीरा जैसे नगर योजनाओं से परिपूर्ण थे — पक्की ईंटों से बनी सड़कें, ग्रिड प्रणाली, जल निकासी व्यवस्था, स्नानागार और अनाज भंडारण गृह। इस काल की स्थापत्य दृष्टि नागरिक जीवन, स्वच्छता और संगठन पर केंद्रित थी। भले ही धार्मिक या प्रतीकात्मक भवन सीमित थे, लेकिन यह स्पष्ट था कि यह सभ्यता संगठित शहरी जीवन के लिए स्थापत्य समाधान प्रस्तुत कर रही थी।

वैदिक और उत्तरवैदिक काल (1500–600 ई.पू.)

इस काल में स्थायी स्थापत्य के प्रमाण सीमित हैं, लेकिन यज्ञ वेदियों, आरण्यकों और सामुदायिक संरचनाओं का उल्लेख वेदों और ब्राह्मण ग्रंथों में मिलता है। हालांकि अधिकतर भवन काष्ठ और मिट्टी के होते थे, परंतु वास्तुशास्त्र और स्थापत्य के प्रारंभिक सिद्धांत इसी युग में विकसित हुए। इस काल की विरासत बाद के मौर्यकालीन स्थापत्य विकास की आधारभूमि बनी।

मौर्य काल (321–185 ई.पू.)

सम्राट अशोक के शासनकाल में भारतीय स्थापत्य को बौद्ध संरचनाओं, स्तंभों और गुफा स्थापत्य के माध्यम से नई दिशा मिली। अशोक स्तंभ, लोरीया नंदनगढ़, सारनाथ आदि स्थलों पर निर्मित हैं — जिन पर धर्मशिला लेख और सिंह-शीर्ष उत्कीर्ण हैं। बराबर की गुफाएँ (बिहार) इस काल की उत्कृष्ट रॉक-कट आर्किटेक्चर का उदाहरण हैं। इस दौर की स्थापत्य दृष्टि धर्म-प्रचार, राजकीय अनुशासन, और सांस्कृतिक समरसता पर केंद्रित थी।

गुप्त काल (लगभग 4थी–6ठी सदी):

इस काल को अक्सर भारतीय स्थापत्य का स्वर्ण युग कहा जाता है। इस समय हिंदू मंदिर स्थापत्य की परिपक्वता देखी जाती है — जैसे दशावतार मंदिर (देवगढ़) और भीतरी गुफाएँ (उदयगिरि)। मंदिर निर्माण में शिखर, गर्भगृह, मंडप, और कलश जैसे तत्वों का प्रचलन हुआ। इस काल में स्थापत्य में धार्मिक प्रतीकात्मकता, काल्पनिक भूगोल, और मिथकीय चेतना का समावेश स्पष्ट था।

मध्यकालीन भारत (7वीं–13वीं सदी)

इस अवधि में नागर (उत्तर भारत), द्रविड (दक्षिण भारत) और वेसर (दक्कन क्षेत्र) शैलियों का विकास हुआ। उदाहरण के लिए — एलोरा के कैलाश मंदिर, बृहदीश्वर मंदिर (तंजावुर), कोणार्क सूर्य मंदिर, खजुराहो समूह। स्थापत्य की दृष्टि से यह काल अत्यधिक रचनात्मक था — जटिल मूर्तिकला, प्रतीकात्मकता, विशाल आकार और क्षेत्रीय विविधता इसकी प्रमुख विशेषताएँ थीं।

इस्लामी स्थापत्य और समागम (13वीं–18वीं सदी)

इस काल में भारतीय स्थापत्य में गुम्बद, मेहराब, मिनार, मक़बरे, जाली, और भित्तिचित्र जैसी इस्लामी विशेषताएँ जुड़ीं। लेकिन महत्वपूर्ण यह रहा कि स्थानीय शैलियाँ इस्लामी स्थापत्य में समाहित हुईं — उदाहरणस्वरूप कुतुब मीनार परिसर, हुमायूँ का मकबरा, फतेहपुर सीकरी, ताजमहल। यह काल संस्कृतियों के समन्वय और कलात्मक संवाद का प्रतीक बन गया।

औपनिवेशिक स्थापत्य (18वीं–20वीं सदी)

ब्रिटिश शासनकाल में गोथिक, इंडो-सारसेनिक, और नेओ-क्लासिकल शैली में भवन बनाए गए। भारतीय संसद भवन, गेटवे ऑफ इंडिया, मुंबई का विक्टोरिया टर्मिनस, चेन्नई का हाई कोर्ट — सभी ब्रिटिश-भारतीय मिश्र शैली के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इस दौर में स्थापत्य के माध्यम से राजकीय नियंत्रण और आधुनिक प्रशासनिक प्रणाली का प्रदर्शन हुआ।

स्वतंत्रता के बाद का स्थापत्य (1950 के बाद)

भारत के स्वतंत्र होने के बाद स्थापत्य में नवीन प्रयोग, सांस्कृतिक आत्मनिर्भरता और वैश्विक प्रभावों का मिश्रण देखा गया। चंडीगढ़ की योजना (Le Corbusier द्वारा), इंदिरा गांधी नेशनल सेंटर फॉर आर्ट्स, और संग्रहालयों, विश्वविद्यालयों की आधुनिक संरचनाएँ इस काल की पहचान हैं। समकालीन स्थापत्य में अब स्मृति स्थलों के निर्माण और सामाजिक-सांस्कृतिक उपयोगिता की ओर रुझान है।

भारतीय स्थापत्य परंपरा की रूपरेखा

कालखंड	शैली/प्रभाव	उदाहरण स्थल
सिन्धु घाटी	नगर योजना, ईंट निर्माण	मोहनजोदड़ो, धौलावीरा
मौर्य	स्तंभ, गुफाएँ	अशोक स्तंभ, बराबर गुफाएँ

गुप्त	शास्त्रीय मंदिर शैली	दशावतार मंदिर, उदयगिरि गुफाएँ
मध्यकालीन	नागर, द्रविड, वेसर	खजुराहो, कोणार्क, बृहदीश्वर मंदिर
इस्लामी काल	गुम्बद, मेहराब, जाली	ताजमहल, कुतुब परिसर, फतेहपुर सीकरी
औपनिवेशिक काल	इंडो-सारसेनिक	संसद भवन, गेटवे ऑफ इंडिया, विक्टोरिया टर्मिनस
समकालीन भारत	आधुनिक/प्रायोगिक शैली	चंडीगढ़, आईआईटी, एनजीओ भवन आदि

2.5 धार्मिक स्थापत्य (Religious Architecture)

भारतीय स्थापत्य परंपरा में धार्मिक संरचनाओं का एक केंद्रीय स्थान रहा है। यह केवल पूजा-अर्चना के स्थल नहीं रहे, बल्कि सामाजिक एकता, सांस्कृतिक संवाद, कला और स्थापत्य रचनाशीलता के उत्कृष्ट उदाहरण भी हैं। मंदिर, मस्जिद, गुरुद्वारे, चर्च और स्तूप जैसी धार्मिक इमारतें भारतीय समाज में धार्मिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक चेतना की अभिव्यक्तियाँ हैं। भारतीय धार्मिक स्थापत्य केवल स्थापत्य संरचना नहीं, बल्कि वह धर्म, समाज, कला, भूगोल और इतिहास का एक जटिल और सुंदर समुच्चय है — जो भारत की बहुलतावादी संस्कृति और आध्यात्मिक जीवंतता को अभिव्यक्त करता है। धार्मिक स्थापत्य की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार है:

1. आध्यात्मिकता और प्रतीकवाद (Spirituality and Symbolism):धार्मिक स्थापत्य केवल वास्तुकला नहीं होती, वह एक आध्यात्मिक अनुभव भी होती है। मंदिरों में शिखर (ऊर्ध्वगामी ऊर्जा का प्रतीक), स्तूपों की गोलाई (बुद्ध के निर्वाण का प्रतीक), मस्जिद की मीनारें (ईश्वर से संवाद की आकांक्षा) — ये सभी संरचनात्मक तत्व गहरे प्रतीकात्मक अर्थ लिए होते हैं। उदाहरण: नागर शैली के मंदिरों में शिखर आत्मा की परमात्मा की ओर यात्रा का प्रतीक होता है।

2. स्थान की पवित्रता (Sacrality of Place): धार्मिक स्थापत्य अक्सर ऐसे स्थलों पर निर्मित होता है जिन्हें पवित्र, पौराणिक या ऐतिहासिक महत्व प्राप्त होता है। स्थल का चुनाव संस्कृति और भूगोल दोनों से प्रभावित होता है। उदाहरण: गंगा नदी के किनारे काशी विश्वनाथ मंदिर या सरोवर के मध्य हरमंदिर साहिब।

3. स्थानीय शैली और सामग्रियों का प्रयोग (Use of Local Styles and Materials): भारत में धार्मिक भवन स्थानीय जलवायु, मिट्टी, कारीगर परंपरा और सामाजिक जरूरतों के अनुसार निर्मित होते थे। यही कारण है कि एक

ही धर्म की इमारतें अलग-अलग क्षेत्रों में भिन्न दिखती हैं। उदाहरण: दक्षिण भारत के द्रविड़ मंदिर — ग्रेनाइट में निर्मित तथा राजस्थान के जैन मंदिर — संगमरमर से बने हुए हैं

4. समुदाय केंद्रितता (Community Orientation): धार्मिक स्थापत्य न केवल आराधना का स्थान है, बल्कि वह सामाजिक संवाद, सांस्कृतिक एकता और सामूहिकता का केंद्र भी होता है। गुरुद्वारे में लंगर, मस्जिद में जुमे की नमाज़, मंदिर में उत्सव — यह सब सामाजिक सहभागिता दर्शाते हैं। उदाहरण: मस्जिदों के प्रांगण में इकट्ठे होकर नमाज़ पढ़ना; मंदिरों में मेला और नृत्य।

5. शिल्पकला और अलंकरण (Artistry and Ornamentation): धार्मिक स्थापत्य में कला और आस्था का संगम देखने को मिलता है। दीवारों पर मूर्तियाँ, चित्रकला, जालियाँ, छतों की नक्काशी — ये सब केवल सौंदर्य नहीं, बल्कि दर्शन को दृश्य रूप देते हैं।उदाहरण: खजुराहो के मंदिरों की नारी-मूर्ति श्रृंखला, अजंता की गुफाओं की भित्ति चित्रकला या मुग़ल मकबरों की पर्शियन ज्यामितीय डिज़ाइन।

6. ध्वनि और अनुभव (Acoustics and Experience): धार्मिक इमारतों का निर्माण इस प्रकार किया जाता था कि वह ध्वनि, प्रकाश और वातावरण से आध्यात्मिक वातावरण उत्पन्न करे। गुंबदों की प्रतिध्वनि, गर्भगृह की गूंज, मंदिर की घंटियाँ — ये सब मिलकर एक संवेदी अनुभव उत्पन्न करते हैं। उदाहरण: गोल गुम्बद में की गई बात की गूंज या मंदिर में मंत्रोच्चारण की गूंज का प्रभाव।

7. कालगत परतबद्धता (Temporal Layering): धार्मिक स्थल समय के साथ नवीनीकरण, पुनर्निर्माण और नए घटकों को जोड़ने से परतबद्ध होते जाते हैं। एक ही परिसर में प्राचीन, मध्यकालीन और आधुनिक काल के अवशेष मिल सकते हैं। उदाहरण: वाराणसी या मथुरा जैसे धार्मिक नगरों में पौराणिक और आधुनिक धार्मिक स्थल साथ-साथ।

2.5.1 हिन्दू मंदिर स्थापत्य (Hindu Temple Architecture)

1. नागर शैली (उत्तर भारत की शैली):

नागर शैली मुख्यतः उत्तर भारत में विकसित हुई मंदिर स्थापत्य की प्रमुख शैली है। इसकी सबसे प्रमुख विशेषता इसका ऊँचा, सीधा और रेखीय शिखर (Rekha-Prasada) होता है, जो गर्भगृह के ऊपर ऊर्ध्वगामी रूप में निर्मित होता है। इस शैली में मंदिर एक ऊँचे चबूतरे पर निर्मित होते हैं, जिनमें शिखर अत्यधिक प्रमुखता के साथ ऊँचाई की ओर जाता है, जिससे वह ब्रह्मांडीय उर्जा और ईश्वर की ओर आरोहण का प्रतीक बनता है। इस शैली में गवाक्ष (झरोखे),

अलंकरणयुक्त द्वार, एवं बहुस्तरीय मण्डपों की परंपरा रही है। खजुराहो के कंदारिया महादेव मंदिर, कोणार्क का सूर्य मंदिर और ओडिशा के लिंगराज मंदिर इसके प्रसिद्ध उदाहरण हैं।

2. द्राविड शैली (दक्षिण भारत की शैली):

द्राविड शैली दक्षिण भारत, विशेषकर तमिलनाडु, आंध्र प्रदेश और कर्नाटक में विकसित हुई। यह शैली अपनी विस्तृत वास्तु योजना, भव्यता, और सुसंगठित स्थापत्य संरचना के लिए जानी जाती है। द्राविड शैली की सबसे विशिष्ट पहचान इसका विशाल गोपुरम (प्रवेश द्वार की टॉवर संरचना) है, जो अत्यधिक ऊँचा, अलंकृत और बहुस्तरीय होता है। मंदिर परिसरों में कई मण्डप, गलियारों और जलाशयों का समावेश होता है। गर्भगृह प्रायः छोटे आकार में होता है, जबकि गोपुरम और प्रांगण अत्यधिक विस्तृत होते हैं। बृहदीश्वर मंदिर (तंजावुर), चिदंबरम मंदिर, और मीनाक्षी मंदिर (मदुरै) द्राविड शैली के प्रमुख उदाहरण हैं।

3. वेसर शैली (मिश्रित शैली - दक्कन क्षेत्र):

वेसर शैली भारतीय मंदिर स्थापत्य में द्राविड और नागर शैलियों का समन्वय है। यह मुख्यतः दक्कन क्षेत्र (मध्य भारत और कर्नाटक) में विकसित हुई, जहाँ उत्तर और दक्षिण भारत की सांस्कृतिक परंपराएँ एक-दूसरे से प्रभावित हुईं। इस शैली के मंदिरों में नागर शैली की शिखर संरचना के साथ द्राविड शैली के गोपुरम जैसे तत्वों का समावेश देखने को मिलता है। वेसर शैली के मंदिरों में स्थापत्य संतुलन, सजावटी मूर्तिकला, और भव्यता का विशिष्ट समन्वय होता है। पट्टदकल मंदिर समूह, बादामी के रॉक-कट मंदिर, और एहोल इस शैली के महत्वपूर्ण उदाहरण हैं।1. नागर शैली (उत्तर भारत)

मंदिर स्थापत्य शैलियाँ

विशेषताएँ	नागर शैली	द्राविड शैली	वेसर शैली
भौगोलिक क्षेत्र	उत्तर भारत	दक्षिण भारत	दक्कन क्षेत्र
मुख्य आकृति	ऊँचा सीधा शिखर (रेक्हा)	पिरामिडनुमा विमान + विशाल गोपुरम	मिश्रित रूप (शिखर + गोपुरम)
प्रसिद्ध उदाहरण	कोणार्क, खजुराहो, लिंगराज	मीनाक्षी, बृहदीश्वर, चिदंबरम	पट्टदकल, बादामी, आईहोल
अलंकरण	मूर्तिकला और कथा प्रधान	रंगीन मूर्तियाँ, गोपुरम सज्जा	संतुलित और सरल अलंकरण

संरचना योजना	गर्भगृह केंद्र में, ऊर्ध्वमुखी	विस्तृत प्रांगण, बहुस्तरीय मंडप	गोल और चौकोर मिश्रित योजना

2.5.2 बौद्ध स्थापत्य (Buddhist Architecture)

बौद्ध स्थापत्य ने स्तूप, गुफा-विहार, और चैत्यगृह के रूप में भारतीय स्थापत्य को एक नई शैली प्रदान की। यह स्थापत्य ध्यान, साधना और सामुदायिक जीवन को दर्शाता है। बौद्ध स्थापत्य भारतीय उपमहाद्वीप की सबसे प्राचीन धार्मिक स्थापत्य परंपराओं में से एक है, जो मौर्य काल से लेकर गुप्त, वर्धन और पाल शासकों तक निरंतर विकसित होती रही। यह स्थापत्य केवल धार्मिक विश्वास का प्रतीक नहीं है, बल्कि यह ध्यान, साधना, मौन और आंतरिक चेतना की स्थापत्यीय अभिव्यक्ति भी है। बौद्ध स्थापत्य की तीन मुख्य संरचनाएँ – स्तूप, विहार और चैत्यगृह – न केवल भौतिक वास्तुशिल्पीय संरचनाएँ थीं, बल्कि आध्यात्मिक साधना के केंद्र भी थीं। स्तूप मूलतः बुद्ध के अवशेषों को संजोने का स्मारक था, जो समय के साथ ध्यान और स्मृति का प्रतीक बन गया। विहार बौद्ध भिक्षुओं के लिए आवासीय स्थल थे, जिनमें साधना, अध्ययन और मठवासी जीवन के लिए आवश्यक संरचनाएँ थीं, जबकि चैत्यगृह सामूहिक पूजा और ध्यान के लिए निर्मित विशाल हॉल होते थे जिनमें स्तंभ और अपार कलात्मक नक्काशियाँ होती थीं।

बौद्ध स्थापत्य का उत्कृष्ट उदाहरण साँची स्तूप (म.प्र.) है, जिसका मूल निर्माण सम्राट अशोक के काल में हुआ था। यह गोलाकार गुम्बद, चक्र-प्रेरित रेलिंग और विस्तृत तोरण द्वारों के माध्यम से न केवल सौंदर्य का उदाहरण है, बल्कि यह बौद्ध धर्म के प्रतीकवाद — जैसे धर्मचक्र, पद्म, हाथी और बुद्धचरित — को भी दर्शाता है। अजंता और एलोरा की गुफाएँ भी बौद्ध स्थापत्य की कलात्मक उपलब्धियों का प्रतीक हैं, जहाँ चट्टानों को काटकर अत्यंत सूक्ष्म और जटिल रूप में ध्यान-कक्ष, विहार और चित्रित चैत्यगृहों का निर्माण हुआ। अजंता की भित्ति चित्रकला में जातक कथाओं, बुद्ध के जीवन प्रसंगों और लोक-सांस्कृतिक जीवन का सजीव चित्रण मिलता है। इसी तरह नालंदा और विक्रमशिला विश्वविद्यालयों ने बौद्ध स्थापत्य को एक नया आयाम प्रदान किया, जहाँ शैक्षणिक परिसर, पुस्तकालय, छात्रावास और ध्यान-कक्ष बौद्ध ज्ञान-परंपरा की स्थापत्यीय रूपरेखा बनाते हैं।

बौद्ध स्थापत्य की मूल भावना में सरलता, सौम्यता और प्रतीकात्मकता का समावेश होता है। यहाँ भव्यता की अपेक्षा शांतिपूर्ण अनुशासन और आत्मचिंतन का वातावरण महत्वपूर्ण होता है। शिल्प और स्थापत्य के माध्यम से यह परंपरा 'शून्यता' ,'अनित्य' और 'करुणा' जैसे बौद्ध सिद्धांतों को स्थापत्य रूप देती है। यह परंपरा भारत तक ही सीमित नहीं रही, बल्कि इसके स्थापत्यीय रूपों का प्रसार श्रीलंका, तिब्बत, चीन, जापान, म्यांमार, थाईलैंड और इंडोनेशिया तक हुआ, जहाँ बोरबुदुर और महाबोधि मंदिर जैसे अंतरराष्ट्रीय स्मारक इसके प्रमाण हैं। इस प्रकार बौद्ध

स्थापत्य न केवल भारतीय स्थापत्य परंपरा का एक शांत, विचारशील और संतुलित रूप है, बल्कि यह वैश्विक सांस्कृतिक संवाद और धार्मिक स्थापत्य के क्षेत्र में एक सेतु भी है।

2.5.3 जैन स्थापत्य (Jain Architecture)

जैन स्थापत्य भारतीय धार्मिक वास्तुकला की एक विशिष्ट और अत्यंत परिष्कृत परंपरा है, जो जैन धर्म के मूल सिद्धांतों — तप, संयम, अहिंसा और आत्मशुद्धि — को मूर्त रूप प्रदान करती है। ये मंदिर केवल पूजन के स्थल नहीं होते, बल्कि वे आध्यात्मिक साधना, तात्त्विक विचार और नैतिक अनुशासन के स्थान होते हैं। जैन मंदिरों की वास्तुकला में सटीक ज्यामिति, अद्भुत संतुलन, और अत्यंत सूक्ष्म कारीगरी का समावेश होता है। जैन आचार्य और स्थापत्यकार यह मानते थे कि मंदिर केवल ईश्वर की मूर्ति का आवास नहीं बल्कि एक ऊर्जा केंद्र है जो साधक की अंतरात्मा को प्रभावित करता है। यही कारण है कि इन मंदिरों का निर्माण अत्यंत शुद्धता और वैदिक दिशा–निर्देशों के अनुसार किया जाता था।

जैन स्थापत्य का सर्वोत्तम उदाहरण दिलवाड़ा मंदिर (माउंट आबू, राजस्थान) है, जिसे 11वीं–13वीं शताब्दी के मध्य चालुक्य वंश के सहयोग से निर्मित किया गया। यह मंदिर श्वेत संगमरमर की अत्यंत बारीक नक्काशी के लिए विश्वप्रसिद्ध है। स्तंभों, छतों और द्वारों पर की गई महीन कलाकृतियाँ, जैसे लटकती झालरें और पद्म पुष्प — शिल्पकला की पराकाष्ठा मानी जाती हैं। इसी प्रकार श्रवणबेलगोला (कर्नाटक) जैन स्थापत्य और मूर्तिकला दोनों का एक विलक्षण उदाहरण प्रस्तुत करता है। यहाँ की गोमतेश्वर (बाहुबली) की 57 फीट ऊँची एकाश्म प्रतिमा न केवल स्थापत्य कौशल का उदाहरण है, बल्कि त्याग और आत्म–जयरूपी संदेश को भी दर्शाती है। गुजरात के गिरनार पर्वत और पालीताना में स्थित जैन मंदिरों की श्रृंखला तीर्थ स्थापत्य की महान परंपरा का उदाहरण हैं, जहाँ हजारों मंदिर पहाड़ी ढलानों पर ऐसे बसे हैं जैसे स्वर्ग की सीढ़ियाँ।

जैन स्थापत्य की विशेषता इसकी अनुशासित संरचना, संतुलित अनुपात और आध्यात्मिक सौंदर्यबोध में निहित है। प्रत्येक मंदिर का शिखर, गर्भगृह, सभा मंडप और प्रवेशद्वार — यह सब एक ध्यान केंद्रित रूप में संयोजित होता है। मंदिरों की दीवारें और छतें किसी कथा या दृश्य को नहीं बल्कि नैतिक प्रतीकों को उकेरती हैं। यह स्थापत्य न केवल धार्मिक या कलात्मक दृष्टि से महत्वपूर्ण है, बल्कि यह स्थायित्व, शांति और तात्त्विक चिंतन की भावना को भी प्रोत्साहित करता है। जैन स्थापत्य की परंपरा भारत तक ही सीमित नहीं रही, इसका प्रभाव मध्य एशिया और दक्षिण–पूर्व एशिया तक देखा गया है। आज भी जैन मंदिर अपने संयमित सौंदर्य, साफ-सफाई, और स्थापत्य–नैतिक आदर्शों के लिए स्थापत्य इतिहास में एक आदर्श मापदंड के रूप में माने जाते हैं।

2.5.4 इस्लामी स्थापत्य (Islamic Architecture)

इस्लामी स्थापत्य भारतीय उपमहाद्वीप में धार्मिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक परिवर्तनों के साथ विकसित हुई एक समृद्ध स्थापत्य परंपरा है। इसकी मूल विशेषताएँ हैं — गुंबद, मेहराब, मीनारें, जालीदार खिड़कियाँ, और हास-नक़्श (arabesque) जैसे ज्यामितीय व पुष्पीय अलंकरण। इस्लामी स्थापत्य का दर्शन मूलतः तौहीद (एकेश्वरवाद) और अनात्मीयता पर आधारित है, इसलिए इसमें मानव या देव-प्रतिमाओं की अनुपस्थिति रहती है और उसकी जगह ज्यामितीय रूपाकार, कुरानिक आयतें, और संतुलित स्थापत्य समरूपता को प्राथमिकता दी जाती है। जैसे ही यह स्थापत्य भारतीय भूखंड में आया, इसने स्थानीय वास्तुशैली, कारीगरी और सामग्री को आत्मसात करते हुए एक विशिष्ट इंडो-इस्लामिक शैली का विकास किया, जो अपने सौंदर्य और सामंजस्य के लिए जानी जाती है।

भारत में इस्लामी स्थापत्य का प्रारंभिक उदाहरण कुतुब मीनार परिसर (दिल्ली) है, जिसे गुलाम वंश (कुतुबुद्दीन ऐबक और इल्तुतमिश) ने निर्मित किया। इसकी मीनारें, अरबी लेखशिल्प, और छतरियों में भारतीय शैली का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। इसके बाद हुमायूँ का मकबरा (दिल्ली) ने मुगल स्थापत्य की नींव रखी, जहाँ चारबाग (चार उद्यान) योजना, ऊँचा चबूतरा, लाल बलुआ पत्थर व सफेद संगमरमर का समन्वय स्थापत्य की गरिमा को दर्शाता है। यह शैली अपने शिखर पर ताजमहल (आगरा) के रूप में पहुँची — जो न केवल स्थापत्य की दृष्टि से अनुपम है, बल्कि प्रेम, शांति और अनंतता का प्रतीक भी बन गया है। ताजमहल की मध्य-गुंबदी संरचना, सममित चारबाग, संगमरमर की जाली, और कुरानिक आयतों से सुसज्जित दीवारें इस शैली के चरम सौंदर्यबोध को प्रकट करती हैं।

इस्लामी स्थापत्य की सबसे बड़ी विशेषता इसका समन्वयशील चरित्र है, जो भारतीय कला परंपराओं — जैसे स्थानीय शिल्प, हिंदू-मंदिर स्थापत्य, बौद्ध चट्टान कला, और राजस्थानी-मराठा कारीगरी — को आत्मसात करता है। उदाहरणस्वरूप, मुगल स्थापत्य में बंगाल की छत्रछाया छतें, गुजरात की जालियाँ, और राजस्थान की चित्रांकन कला का समावेश देखने को मिलता है। इस शैली में ध्वनि की गूँज, प्राकृतिक प्रकाश का नियंत्रित प्रवेश, और प्राकृतिक तत्वों (जल, उद्यान, छाया) का उपयोग गहन अर्थवत्ता के साथ किया जाता है। इस्लामी स्थापत्य ने भारत को न केवल भव्य मस्जिदों और मकबरों का उपहार दिया, बल्कि स्थापत्य में सौंदर्य और आध्यात्मिकता के अद्भुत संगम का मार्ग भी प्रशस्त किया। यह शैली आज भी भारत के सांस्कृतिक परिदृश्य का एक महत्वपूर्ण और प्रभावशाली हिस्सा है।

2.5.5 सिख स्थापत्य (Sikh Architecture)

सिख स्थापत्य भारतीय धार्मिक स्थापत्य परंपरा में एक विशेष स्थान रखता है। यह न केवल धार्मिक आस्था का प्रतीक है, बल्कि यह सेवा, समानता, आध्यात्मिकता और सौंदर्य का भी मूर्त रूप है। गुरुद्वारे केवल पूजा और कीर्तन के स्थल नहीं हैं, बल्कि वे लंगर, शिक्षा, आवास और आत्मिक शांति के केंद्र होते हैं। सिख स्थापत्य की सबसे

बड़ी विशेषता इसकी सादगी और गरिमा में निहित कलात्मकता है। इसमें अनावश्यक अलंकरण की अपेक्षा कार्यात्मक सौंदर्यबोध, खुला वातावरण, और सामूहिकता का अनुभव अधिक महत्वपूर्ण होता है। गुरुद्वारों की रचना इस प्रकार की जाती है कि वे सभी जातियों, वर्गों और धर्मों के लोगों के लिए समान रूप से सुलभ और आमंत्रणकारी हों — यही सिख धर्म का मूल संदेश भी है।

सिख स्थापत्य की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति हरमंदिर साहिब (स्वर्ण मंदिर), अमृतसर में देखी जा सकती है। यह गुरुद्वारा न केवल धार्मिक दृष्टि से सिख धर्म का सबसे पवित्र स्थल है, बल्कि स्थापत्य कला की दृष्टि से भी एक अद्वितीय कृति है। सरोवर (पवित्र जलकुंड) के बीच स्थित इस मंदिर तक पहुँचने के लिए संगमरमर से बनी एक पतली पुलिया है जो नम्रता और एकात्मकता का प्रतीक मानी जाती है। मंदिर का ऊपरी भाग शुद्ध सोने की परत से ढँका हुआ है, जो इसकी आभा को दिव्यता प्रदान करता है। मंदिर की दीवारों और छतों पर की गई काँच मोज़ाइक, सोने की नक्काशी और पंजाबी-इस्लामी-अलंकृत कला का समन्वय इसकी स्थापत्य गरिमा को बढ़ाता है। इसके चारों दिशाओं से प्रवेश के खुले द्वार समावेशी दृष्टिकोण को दर्शाते हैं, जो यह संदेश देते हैं कि यह स्थान सभी के लिए समान रूप से पवित्र है।

हरमंदिर साहिब के अतिरिक्त सिख स्थापत्य के अन्य प्रमुख उदाहरणों में पटना साहिब (बिहार) — गुरु गोविंद सिंह की जन्मस्थली, हजूर साहिब (नांदेड़) — उनका निर्वाण स्थल, और बांग्ला साहिब (दिल्ली) — गुरु हरकृष्ण साहिब से जुड़ा स्थल, विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये सभी गुरुद्वारे भव्यता और आध्यात्मिक गहराई दोनों के प्रतीक हैं। इनमें प्रयुक्त स्थापत्य तत्वों में गुंबद, मेहराब, अष्टकोणीय या गोलाकार निर्माण, संगमरमर की दीवारें, तथा विस्तृत लंगर हॉल और सरोवर शामिल होते हैं। आधुनिक सिख गुरुद्वारे पारंपरिक स्थापत्य के साथ-साथ पर्यावरणीय अनुकूलन और सामाजिक सहभागिता को भी महत्व देते हैं। इस प्रकार, सिख स्थापत्य धार्मिकता और सामाजिक न्याय के संगम का सजीव उदाहरण बनकर उभरा है — जहाँ सौंदर्य, सेवा और समर्पण एकाकार हो जाते हैं।

2.5.6 ईसाई स्थापत्य (Christian Architecture)

भारत में ईसाई स्थापत्य मुख्यतः 16वीं शताब्दी के बाद यूरोपीय उपनिवेशवाद के आगमन के साथ विकसित हुआ। विशेष रूप से पुर्तगाली, डच, फ्रांसीसी और ब्रिटिश उपनिवेशकों ने भारत के विभिन्न क्षेत्रों में चर्चों और मिशनरी भवनों का निर्माण किया, जिनमें यूरोप की गोथिक, रोमनस्क, बैरोक और नवशिल्पीय परंपराओं का प्रभाव देखा जा सकता है। लेकिन इन शैलियों ने स्थानीय स्थापत्य तत्वों और सामग्री के साथ समन्वय स्थापित करते हुए एक इंडो-यूरोपीय स्थापत्य की रचना की, जो न केवल धर्म के प्रचार का माध्यम बनी, बल्कि सांस्कृतिक संवाद और समन्वय का प्रतीक भी बनी। गिरजाघरों के स्थापत्य में ऊँचे मेहराब, विशाल खिड़कियाँ, गुलाब आकृति के झरोखे, घंटाघर और क्रॉस-आकार की संरचना आम रूप से पाई जाती है।

भारत में निर्मित सबसे प्राचीन यूरोपीय गिरजाघर सेंट फ्रांसिस चर्च (कोच्चि, केरल) है, जिसे 1503 में पुर्तगालियों ने बनवाया था। यह चर्च सरल रोमनस्क शैली में निर्मित है जिसमें स्थानीय पत्थर और लकड़ी का प्रयोग हुआ है, और इसे वास्को डी गामा की अस्थायी समाधि के लिए भी जाना जाता है। गोवा में स्थित बेसिलिका ऑफ बॉम जीसस और सी कैथेड्रल पुर्तगाली बारोक शैली के उत्कृष्ट उदाहरण हैं, जिनमें सोने की नक्काशीदार वेदी, सजावटी कॉलम, और धार्मिक चित्रकला का अद्भुत समन्वय है। इसी प्रकार बॉम्बे कैथेड्रल (सेंट थॉमस कैथेड्रल) मुंबई में ब्रिटिश गोथिक शैली का प्रतिनिधित्व करता है, जिसकी नुकीली मेहराबें, रंगीन काँच की खिड़कियाँ और ऊँचा घंटाघर इसे विशिष्ट बनाते हैं।

ईसाई स्थापत्य ने भारत में केवल धार्मिक संरचनाओं का निर्माण ही नहीं किया, बल्कि स्थानीय कला, संस्कृति और स्थापत्य शिल्प को अपनाकर एक जीवंत शैली का विकास किया। गोवा और केरल जैसे क्षेत्रों में चर्चों की वेदियाँ और सजावट स्थानीय शिल्पकारों द्वारा तैयार की गईं, जिनमें काष्ठकला, लोक चित्रण, और भित्ति चित्र शामिल हैं। ईसाई स्थापत्य ने शिक्षा, स्वास्थ्य और सामाजिक सेवा के क्षेत्र में भी संस्थान स्थापित किए, जो इन इमारतों को सिर्फ धार्मिक नहीं, बल्कि सामुदायिक केंद्र बनाते हैं। आज भी कई गिरजाघर भारतीय शहरों और कस्बों में स्थापत्यीय धरोहर के रूप में जीवित हैं, और क्रिसमस तथा अन्य पर्वों पर सांस्कृतिक एकता का प्रतीक बनते हैं। इस प्रकार, ईसाई स्थापत्य भारतीय धार्मिक स्थापत्य परंपरा में एक महत्वपूर्ण, समन्वयी और जीवंत धारा के रूप में स्थापित है।

धार्मिक स्थापत्य और सामाजिक प्रभाव

धर्म	स्थापत्य शैली	सामाजिक-धार्मिक प्रभाव
हिंदू	नागर, द्रविड, वेसर	देवता, लोक परंपरा, जातीय सामाजिकता
बौद्ध	स्तूप, चैत्य, विहार	ध्यान, शिक्षण, मोक्ष मार्ग
जैन	संगमरमर मंदिर, प्रतिमाएँ	संयम, तप, शुद्धता
इस्लामी	मस्जिद, मकबरे, जाली	सौंदर्य, आस्था, सामूहिक प्रार्थना
सिख	गुरुद्वारे, सरोवर	सेवा, भक्ति, समानता
ईसाई	चर्च, कैथेड्रल	प्रेम, त्याग, सेवा भावना

2.6 राजनैतिक और सैन्य स्थापत्य (Political and Military Architecture)

किले, महल और दरबार भवन — सत्ता के स्थापत्य के प्रतीक:

राजनैतिक और सैन्य स्थापत्य प्राचीन और मध्यकालीन भारत में सत्ता, सुरक्षा और वैभव का मूर्त रूप था। किले (Fortresses) न केवल सैन्य दृष्टिकोण से रक्षण के साधन थे, बल्कि वे शासन की स्थिरता, शक्ति और भव्यता का प्रतीक भी बनते थे। गोलकुंडा, चित्तौड़, ग्वालियर, और दिल्ली का लाल किला इस परंपरा के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इन किलों में उच्च प्राचीर, बुर्ज, जलाशय, तोपों के स्थान और छिपे हुए मार्ग शामिल होते थे — जो सैनिक रणनीति और सुरक्षा को दर्शाते हैं। इसके साथ ही, महल और दरबार भवन (जैसे आगरा का दीवान-ए-आम व दीवान-ए-खास, जयपुर का सिटी पैलेस) शासक के वैभव, शिष्टाचार और प्रशासनिक शक्ति को दर्शाने वाले स्थान थे, जहाँ न्याय, कूटनीति और राजकीय आयोजन होते थे। इनमें संगमरमर, रंगीन काँच, नक्काशी, और भित्ति चित्रों का विलक्षण प्रयोग सत्ता के सौंदर्यबोध को व्यक्त करता था।

नगर नियोजन की स्थापत्य परंपरा

भारतीय उपमहाद्वीप में राजधानी शहरों के निर्माण में नगर नियोजन की समृद्ध परंपरा रही है। फतेहपुर सीकरी (अकबर द्वारा निर्मित) भारतीय स्थापत्य और फारसी योजना-शैली का उत्कृष्ट उदाहरण है, जिसमें भवनों का अनुपात, जल-तंत्र और धार्मिक सहअस्तित्व की स्थापत्यीय योजना स्पष्ट देखी जा सकती है। जयपुर, जिसे सवाई जयसिंह द्वितीय ने 18वीं शताब्दी में 'वैज्ञानिक नगर' के रूप में बसाया, गणितीय ग्रिड प्रणाली, चौड़ी सड़कें, बाजारों की स्पष्ट रूपरेखा और महलों-दीवारों का सामंजस्यपूर्ण संयोजन दर्शाता है। यह नगर नियोजन केवल सौंदर्यशास्त्र नहीं, बल्कि प्रशासनिक कुशलता, सामाजिक संगठन और पर्यावरणीय अनुकूलन का स्थापत्यीय समाधान था। कई नगरों में धर्म, राजनीति और बाज़ार तीनों को नियोजित ढंग से साथ रखा गया — जो शासन की बहुआयामी दृष्टि को प्रतिबिंबित करता है।

औपनिवेशिक स्थापत्य और आधुनिक गवर्नेंस आर्किटेक्चर

19वीं और 20वीं शताब्दी में ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के दौरान भारतीय स्थापत्य में यूरोपीय शैली (गोथिक, नियोक्लासिकल, इंडो-सारासेनिक) का प्रभाव व्यापक हुआ। औपनिवेशिक स्थापत्य ने शासन की आधुनिक संस्थाओं — सचिवालय, न्यायालय, संसद, रेलवे स्टेशन, विश्वविद्यालय भवन — को एक नए स्थापत्य अनुशासन के तहत गढ़ा। सेंट पॉल्स कैथेड्रल (कोलकाता), मुम्बई हाई कोर्ट, मद्रास विश्वविद्यालय, बॉम्बे विक्टोरिया टर्मिनस (अब छत्रपति शिवाजी टर्मिनस) जैसे भवन इसकी मिसाल हैं। स्वतंत्रता से पूर्व और बाद में निर्मित नई दिल्ली का वायसराय हाउस (अब राष्ट्रपति भवन), नॉर्थ ब्लॉक, साउथ ब्लॉक, संसद भवन आदि Lutyens Delhi के रूप

में भारतीय शासन की स्थापत्यीय नई पहचान बने। यह स्थापत्य जहाँ एक ओर सत्ता के केंद्रीकरण और औपचारिकता को दर्शाता है, वहीं यह भारतीय स्थापत्य परंपरा के साथ यूरोपीय अनुशासन का संयोजन भी प्रस्तुत करता है।

2.7 स्मारक, समाधियाँ और स्तंभ (Monuments, Memorials and Pillars)

अशोक स्तंभ — नैतिकता और राज्यशक्ति का प्रतीक

भारतीय स्मारक परंपरा में अशोक स्तंभ एक अद्वितीय स्थान रखते हैं। मौर्य सम्राट अशोक (3rd सदी ई.पू.) द्वारा स्थापित ये स्तंभ केवल वास्तुकला के प्रतीक नहीं थे, बल्कि धर्म, न्याय और नैतिक शासन के संदेशवाहक भी थे। इन पर ब्राह्मी लिपि में उत्कीर्ण धम्म लेख न केवल प्रजा के प्रति सम्राट की नैतिक ज़िम्मेदारी को दर्शाते हैं, बल्कि शासन और आध्यात्मिकता के संयोजन की परंपरा को भी स्पष्ट करते हैं। सारनाथ का अशोक स्तंभ, जिसका शेर-शीर्ष भारतीय गणराज्य का राष्ट्रीय प्रतीक बना, एक उत्कृष्ट कला रूप भी है, जो मौर्य कला की परिपक्वता और राजनीतिक आदर्शवाद का परिचायक है।

मुग़ल मक़बरे — स्थापत्य और स्मृति का समावेश

मुग़ल काल में समाधियाँ केवल अंतिम विश्राम स्थल नहीं थीं, बल्कि वे मृत व्यक्ति के वैभव, शक्ति, और स्मरण की सार्वजनिक अभिव्यक्ति भी थीं। हुमायूँ का मक़बरा इस परंपरा का आरंभिक उदाहरण है, जहाँ चारबाग योजना और गुम्बदों की श्रेष्ठता मुग़ल स्थापत्य की नींव बनती है। ताजमहल (शाहजहाँ द्वारा मुमताज़ महल की याद में निर्मित) तो संसार की स्मारकात्मक स्थापत्य परंपरा का शिखर है — जहाँ प्रेम, समर्पण और वैभव का अनुपम संगम है। सिकंदरा (अकबर का मक़बरा) और सफदरजंग का मक़बरा जैसी संरचनाएँ इस स्थापत्य शैली में विविधता और विकसित स्थापत्य चेतना को दर्शाती हैं। ये मक़बरे स्मृति के साथ-साथ राजनीतिक वैधता और सांस्कृतिक रचनाशीलता का भी प्रतीक बने।

स्वतंत्रता संग्राम और समकालीन स्मृति-स्थल

आधुनिक भारत में स्मारक केवल शासकों की स्मृति नहीं बल्कि जन-आंदोलन, बलिदान और राष्ट्रीय चेतना के प्रतीक हैं। राजघाट (महात्मा गांधी की समाधि) केवल एक समाधि नहीं, बल्कि अहिंसा, सादगी और आत्मबलिदान की स्थायी प्रेरणा है। इंडिया गेट (नई दिल्ली) ब्रिटिश काल के उन भारतीय सैनिकों की स्मृति में बनाया गया था जिन्होंने प्रथम विश्व युद्ध में प्राण दिए — और आज यह राष्ट्र की सामूहिक स्मृति और सम्मान का केंद्र बन चुका है। इसके समीप स्थित अमर जवान ज्योति और राष्ट्रीय समर स्मारक समकालीन सैन्य बलिदान की स्मृति को जीवित रखते हैं। इसके अतिरिक्त जलियाँवाला बाग स्मारक (अमृतसर), सेलुलर जेल (अंडमान) और सुभाष चंद्र बोस स्मारक

जैसे स्थल भी स्मारक स्थापत्य की उस परंपरा को आगे बढ़ाते हैं जो इतिहास को नैतिक बोध और प्रेरणा के माध्यम में बदल देती है।

2.8 क्षेत्रीय विविधता और स्थापत्य शैली (Regional Diversity and Architectural Style)

विविधता का भूगोल और स्थापत्य की आवश्यकता:

भारत एक ऐसा उपमहाद्वीप है जहाँ भौगोलिक विविधता—पहाड़, मैदान, पठार, रेगिस्तान, तटीय क्षेत्र और द्वीप—अपने साथ स्थापत्य की भिन्न शैलियों को जन्म देती है। यह विविधता केवल जलवायु और स्थलाकृति तक सीमित नहीं है, बल्कि इसके भीतर सांस्कृतिक, भाषाई, धार्मिक और सामाजिक विविधताएँ भी गहराई से अंतर्निहित हैं। इसी कारण, कश्मीर की घाटियों से लेकर कन्याकुमारी के तटों तक, भारत में निर्मित भवन, मंदिर, मस्जिदें, गिरजाघर, महल और स्मारक अपने-अपने क्षेत्रीय संदर्भ, सामग्रियों, कलात्मक परंपराओं और जीवन दृष्टियों को प्रतिबिंबित करते हैं। स्थापत्य का यह क्षेत्रीय रूपांतरण न केवल स्थानीय आवश्यकता के अनुसार ढलता है, बल्कि वह सांस्कृतिक आत्माभिव्यक्ति का भी रूप ले लेता है।

उत्तर से दक्षिण तक स्थापत्य रूपों का भिन्न स्वरूप:

उत्तर भारत में जहाँ नागर शैली के मंदिरों में ऊर्ध्वमुखी शिखर और खंडन संरचना प्रमुख हैं (जैसे — खजुराहो, काशी विश्वनाथ), वहीं दक्षिण भारत की द्राविड शैली में विस्तृत प्रांगण, अति-विस्तारित गोपुरम (प्रवेशद्वार), और विस्तृत जलतंत्र होता है (जैसे — मीनाक्षी मंदिर, बृहदीश्वर मंदिर)। कश्मीर में देवालयों और मस्जिदों में देवदार लकड़ी और तहखानों का प्रयोग, पर्वतीय स्थापत्य का उदाहरण है, जबकि पश्चिमी भारत (राजस्थान, गुजरात) में रेगिस्तानी पत्थर और झरोखे आधारित निर्माण देखने को मिलते हैं। मध्य भारत के बौद्ध गुफा-स्तूप (सांची, भरहुत), पूर्वोत्तर की बाँस और लकड़ी की संरचनाएँ, और पूर्व भारत की ओड़िशा की रेखा देउल शैली (जैसे — कोणार्क, लिंगराज) इस विविधता के अभिन्न आयाम हैं।

स्थानीय सामग्रियों और पारंपरिक ज्ञान का समावेश:

स्थापत्य की क्षेत्रीय विविधता में एक महत्वपूर्ण भूमिका स्थानीय उपलब्ध निर्माण सामग्रियों की रही है। राजस्थान में पीले और गुलाबी पत्थर, केरल में लकड़ी और टाइल, बंगाल में ईंट, हिमालयी क्षेत्रों में स्लेट पत्थर और लकड़ी—ये सभी स्थानीय संसाधनों का तर्कसंगत और कलात्मक प्रयोग हैं। इसी तरह से, पारंपरिक निर्माण तकनीकें, जैसे — काथ-कोणी शैली (हिमाचल), आटे-चूने का प्लास्टर (राजस्थान), वेस्टर्न घाट की मनवेल प्रणाली, आदि, एक स्थायित्व और पर्यावरणीय संतुलन का बोध देती हैं। स्थापत्य शैली केवल सौंदर्य की खोज नहीं है, बल्कि वह समाज और प्रकृति के बीच सामंजस्य की अभिव्यक्ति भी है।

अतः यह कहा जा सकता है कि भारत में स्थापत्य एकरूप नहीं, बल्कि बहुरूपता और स्थानीय संवेदनशीलता से समृद्ध है। यह न केवल हमारी सांस्कृतिक पहचान को मजबूती देता है, बल्कि यह स्थानीय ज्ञान, सामर्थ्य और रचनात्मकता का भी साक्ष्य है।

2.9 निर्मित विरासत और संरक्षण की चुनौतियाँ

विरासत का संरक्षण क्यों आवश्यक है?

निर्मित सांस्कृतिक विरासत — जैसे मंदिर, मस्जिदें, किले, स्मारक, गुफाएँ, महल और अन्य ऐतिहासिक स्थल — न केवल हमारे अतीत का साक्ष्य हैं, बल्कि वे राष्ट्रीय अस्मिता, सांस्कृतिक निरंतरता और सामूहिक स्मृति के भी वाहक हैं। इन संरचनाओं का संरक्षण न केवल ऐतिहासिक ज्ञान की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, बल्कि यह स्थानीय अर्थव्यवस्था, पर्यटन, और सांस्कृतिक शिक्षा से भी जुड़ा हुआ है। फिर भी, भारत में इन धरोहरों के संरक्षण में कई प्रकार की चुनौतियाँ मौजूद हैं — भौतिक, संस्थागत, सामाजिक और राजनीतिक।

संरक्षण की प्रमुख चुनौतियाँ (Key Challenges in Conservation):

भौतिक क्षरण और प्राकृतिक प्रभाव

वर्षा, प्रदूषण, मौसम परिवर्तन, भूकंप और समयजनित क्षरण जैसे प्राकृतिक कारण भारतीय विरासत स्थलों के क्षय में योगदान करते हैं। उदाहरण के लिए, ताजमहल का सफेद संगमरमर वायु प्रदूषण से पीला पड़ता जा रहा है। वहीं हिमालयी क्षेत्र में स्थित पत्थर निर्मित स्मारक बर्फबारी और कटाव से प्रभावित होते हैं।

मानवजनित खतरे (Man-Made Threats)

शहरीकरण, अनधिकृत निर्माण, अतिक्रमण, पर्यटन का अत्यधिक दबाव, और अवैज्ञानिक मरम्मत कार्य विरासत स्थलों के अस्तित्व के लिए सबसे बड़े खतरे हैं। दिल्ली का पुराना किला, वाराणसी के घाट, और चोल कालीन मंदिर — सभी ऐसी समस्याओं से जूझ रहे हैं। साथ ही, धार्मिक राजनीति और उपेक्षा के चलते कई ऐतिहासिक स्थल उपेक्षित या नष्ट हो चुके हैं।

वित्तीय और प्रशासनिक सीमाएँ

भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण (ASI), राज्य पुरातत्व विभागों और स्थानीय निकायों के पास अक्सर प्रर्याप्त बजट, मानव संसाधन, और तकनीकी विशेषज्ञता की कमी होती है। इससे संरक्षण कार्य धीमा, प्रतिक्रियाशील और अल्पकालिक बन जाता है। कई बार कानूनी ढाँचा भी अस्पष्ट और जटिल होता है।

सामुदायिक सहभागिता की कमी

स्थानीय समुदायों को विरासत के संरक्षण में साझेदार नहीं बनाया गया है। इसके कारण उन्हें न तो उसका महत्व समझ में आता है, न ही वे संरक्षण के प्रयासों से भावनात्मक रूप से जुड़ पाते हैं। इसके विपरीत, कई बार सांस्कृतिक विरासत को केवल पर्यटन और लाभ के उपकरण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

युद्ध, संघर्ष और वैचारिक टकराव

भारत में धार्मिक और राजनीतिक वैमनस्य भी कई बार विरासत स्थलों को नुकसान पहुँचा चुके हैं — जैसे बाबरी मस्जिद-राम जन्मभूमि विवाद, कुछ बौद्ध स्थलों का उपेक्षा में पड़ जाना, या उपनिवेशकालीन संरचनाओं का जानबूझकर नष्ट करना। इससे संरक्षण के प्रयास विवादास्पद और भावनात्मक बन जाते हैं।

संरक्षण के प्रयास और संभावनाएँ

हाल के वर्षों में भारत सरकार, गैर-सरकारी संगठनों और अंतरराष्ट्रीय निकायों (जैसे UNESCO, ICOMOS) द्वारा कई सकारात्मक कदम उठाए गए हैं — "Adopt a Heritage" योजना, World Heritage Sites की सूची, डिजिटल डॉक्युमेंटेशन, और पारंपरिक कारीगरों को पुनः प्रशिक्षण देना। इसके अतिरिक्त, कुछ सार्वजनिक-निजी साझेदारियाँ (PPP) जैसे हुमायूँ का मक़बरा का संरक्षण, सफल उदाहरण हैं। निर्मित सांस्कृतिक विरासत केवल भूतकाल का सौंदर्य शेष नहीं है, बल्कि यह वर्तमान और भविष्य की सामाजिक चेतना, राष्ट्रीय आत्मसम्मान और सांस्कृतिक संवाद का माध्यम है। इसलिए, इसके संरक्षण को केवल तकनीकी दायित्व नहीं, बल्कि सांस्कृतिक कर्तव्य के रूप में समझने की आवश्यकता है।

2.10 सारांश (Summary)

इस इकाई में हमने भारत की मूर्त सांस्कृतिक विरासत की विभिन्न रूपों का अध्ययन किया, विशेषकर निर्मित स्थापत्य के विविध पक्षों को — धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक और स्मारक रूपों में।

भारत की स्थापत्य परंपरा उसकी भौगोलिक विविधता, सांस्कृतिक बहुलता और ऐतिहासिक निरंतरता का सजीव प्रमाण है। मंदिर, मस्जिद, गिरजाघर, गुरुद्वारे, स्तूप, गुफाएँ, किले, महल, दरबार भवन, समाधियाँ और आधुनिक स्मारक — ये सभी भारत की जीवित विरासत के भिन्न-भिन्न आयाम हैं।

हमने यह भी जाना कि कैसे क्षेत्रीय निर्माण सामग्री, स्थानीय स्थापत्य शैली और सांस्कृतिक संवेदनशीलता भारत की निर्मित विरासत को विशिष्ट बनाते हैं। साथ ही, विरासत के संरक्षण से जुड़ी प्राकृतिक, मानवजनित, वित्तीय और संस्थागत चुनौतियों पर भी विचार किया गया।

यह इकाई न केवल अतीत को समझने का माध्यम है, बल्कि वर्तमान में सांस्कृतिक चेतना, सामूहिक स्मृति और उत्तरदायित्व की भावना को जागरूक करने का एक उपकरण भी है।

2.11 अभ्यास प्रश्न (Exercise Questions)

1. भारत में मंदिर स्थापत्य की प्रमुख शैलियों (नागर, द्राविड, वेसर) की विशेषताओं और उदाहरणों का विवेचन कीजिए।
2. बौद्ध, जैन और इस्लामी स्थापत्य परंपराओं की स्थापत्यीय विशेषताओं की तुलनात्मक समीक्षा कीजिए।
3. औपनिवेशिक स्थापत्य की प्रमुख विशेषताओं को स्पष्ट करते हुए, नई दिल्ली के प्रशासनिक भवनों का वर्णन कीजिए।
4. भारत की स्मारक परंपरा में अशोक स्तंभ, मुग़ल मक़बरे, और आधुनिक स्मृति-स्थलों की भूमिका का विश्लेषण कीजिए।
5. निर्मित सांस्कृतिक विरासत के संरक्षण में आने वाली प्रमुख समस्याओं और उनके समाधान की संभावनाओं पर चर्चा कीजिए।

2.12 संदर्भ ग्रंथ (Bibliography / Suggested Readings)

1. Michell, George. The Hindu Temple: An Introduction to Its Meaning and Forms. University of Chicago Press, 1988.
2. Brown, Percy. Indian Architecture: Buddhist and Hindu Period. D. B. Taraporevala, 1959.
3. Fergusson, James. History of Indian and Eastern Architecture. John Murray, 1910.
4. Tadgell, Christopher. The History of Architecture in India. Phaidon, 1990.
5. Mukhia, Harbans (Ed.). The Feudalism Debate. Tulika Books, 1999.
6. Singh, Rana P. B. Heritage and Cultural Landscapes: Understanding the Cultural Values. Aryan Books, 2009.

7. UNESCO World Heritage Centre. World Heritage Sites – India. (https://whc.unesco.org)

8. Archaeological Survey of India (ASI). Annual Reports and Conservation Documents. (https://asi.nic.in)

इकाई तीन

भारत की मूर्त सांस्कृतिक विरासत: औद्योगिक, वाणिज्यिक और शिल्प उत्पादन क्षेत्र

इकाई की संरचना

3.0 परिचय
3.1 उद्देश्य
3.2 प्राचीन भारत में शिल्प और औद्योगिक परंपराएँ
    3.2.1 सिंधु घाटी सभ्यता के शिल्प
    3.2.2 वैदिक एवं उत्तरवैदिक कालीन उत्पादन
    3.2.3 छठी सदी ईसा पूर्व: नए नगरों के युग में
    3.2.4 मौर्य और उत्तर मौर्य कालीन शिल्प
    3.2.5 गुप्तकाल के शिल्प और वाणिज्य
    3.2.6 गुप्तोत्तर काल के शिल्प और वाणिज्य
3.3 मध्यकालीन भारत में वाणिज्य और शिल्प उत्पादन
    3.3.1 सल्तनत कालीन शिल्प परंपराएँ
    3.3.2 मुगल कालीन वाणिज्य और शिल्प उद्योग
    3.3.3 अंतरराष्ट्रीय व्यापार और भारतीय शिल्प
3.4 औपनिवेशिक काल में औद्योगिक और वाणिज्यिक परिवर्तन
    3.4.1 औपनिवेशिक नीतियाँ और शिल्प का पतन
    3.4.2 भारतीय बुनकर और कारीगरों पर प्रभाव
    3.4.3 औद्योगिक क्रांति और भारतीय बाजार
    3.4.4 भारतीय औद्योगिक घरानों का उदय
3.5 स्वतंत्रता संग्राम और भारतीय उद्योग
3.6 स्वतंत्रता के बाद संरक्षण और पुनरुत्थान
    3.6.1 खादी एवं ग्रामोद्योग
    3.6.2 हस्तशिल्प बोर्ड और सहकारी समितियाँ
    3.6.3 GI टैग और आधुनिक विपणन
3.7 नेहरूवादी समाजवाद और उदारीकरण सारांश
3.8 सारांश
3.9 मुख्य शब्दावली

3.10 निबंधात्मक प्रश्न
3.11 संदर्भ ग्रंथ

3.0 परिचय

भारत की सांस्कृतिक विरासत बहुआयामी है। इसमें धार्मिक परंपराएँ, साहित्य, कला और स्थापत्य के साथ-साथ वे सभी रूप भी शामिल हैं जो समाज के आर्थिक जीवन से जुड़े हुए हैं। विशेषकर शिल्प, उद्योग और वाणिज्य भारतीय संस्कृति की मूर्त अभिव्यक्ति हैं, क्योंकि ये न केवल आज भी प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं बल्कि लोगों की आजीविका और सामाजिक संगठन का आधार भी बने हुए हैं। सिंधु घाटी सभ्यता की मुहरों और आभूषणों से लेकर आधुनिक काल की बनारसी साड़ी, कांचीपुरम सिल्क या कश्मीर के पश्मीना शॉल तक, भारतीय शिल्प एक सतत परंपरा का प्रतिनिधित्व करते हैं।

इतिहास गवाह है कि भारत प्राचीन काल से ही शिल्प उत्पादन और वाणिज्य का केंद्र रहा है। प्राचीन ग्रीक और रोमन यात्रियों ने भारतीय वस्त्र, मसाले और आभूषणों की प्रशंसा की। मध्यकाल में यह परंपरा और अधिक सुदृढ़ हुई, जब मुगल दरबारों ने शिल्पकारों को संरक्षण दिया और भारतीय वस्त्रों व आभूषणों की ख्याति पूरे एशिया और यूरोप तक फैली। इस निरंतरता ने भारतीय समाज की समृद्धि को बनाए रखा और भारतीय संस्कृति को वैश्विक स्तर पर पहचान दिलाई।

हालाँकि औपनिवेशिक काल में ब्रिटिश नीतियों ने इस परंपरा को गहरी क्षति पहुँचाई। शिल्प उद्योगों के पतन और मशीन निर्मित वस्त्रों के आगमन ने लाखों कारीगरों को बेरोजगार कर दिया। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद इन शिल्पों और उद्योगों को पुनर्जीवित करने के प्रयास हुए। आज़ादी के बाद खादी, ग्रामोद्योग, हस्तशिल्प बोर्ड और GI टैग जैसी पहलों ने भारतीय शिल्प को पुनः सम्मान दिलाया है। समकालीन दौर में यह विरासत पर्यटन, ई-कॉमर्स और वैश्विक बाजार से जुड़कर न केवल सांस्कृतिक पहचान बनाए हुए है, बल्कि करोड़ों लोगों को आजीविका भी प्रदान कर रही है।

3.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप:

- भारत में शिल्प और औद्योगिक परंपराओं के ऐतिहासिक विकास को समझ सकेंगे।
- मध्यकालीन भारत में वाणिज्य और व्यापार नेटवर्क की विशेषताओं को पहचान सकेंगे।

- औपनिवेशिक शासन के प्रभावों का मूल्यांकन कर सकेंगे।
- स्वतंत्रता के बाद शिल्प व उद्योगों के पुनरुत्थान के प्रयासों से परिचित होंगे।
- समकालीन भारत में शिल्प और वाणिज्य की चुनौतियों व संभावनाओं पर विचार कर सकेंगे।

3.2 प्राचीन भारत में शिल्प और औद्योगिक परंपराएँ

प्राचीन भारत की आर्थिक और सांस्कृतिक पहचान में शिल्प और औद्योगिक परंपराओं की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। भारतीय सभ्यता की जड़ें कृषि में अवश्य थीं, किंतु कृषि के साथ-साथ धातु-कर्म, वस्त्र निर्माण, मिट्टी और पत्थर के शिल्प, आभूषण, और स्थापत्य कला ने समाज के विकास को बहुआयामी रूप दिया। इन शिल्पों के विकास से न केवल जीवन की आवश्यकताएँ पूरी हुईं, बल्कि सांस्कृतिक प्रतीक भी निर्मित हुए।

भारतीय शिल्प परंपराओं की विशेषता यह रही कि वे केवल स्थानीय मांग तक सीमित नहीं थीं, बल्कि प्राचीन काल से ही बाहरी देशों के साथ व्यापारिक संबंधों के माध्यम से अंतरराष्ट्रीय स्तर तक पहुँच गई थीं। भारतीय कारीगरों की दक्षता और कलात्मकता ने उन्हें विशिष्ट पहचान दिलाई। वस्त्र, आभूषण, धातु उपकरण और मिट्टी के बर्तन न केवल आर्थिक महत्व रखते थे, बल्कि सामाजिक और धार्मिक संदर्भों में भी उनका प्रयोग होता था।

अब हम कुछ प्रमुख ऐतिहासिक चरणों में शिल्प और उद्योग की प्रगति को समझेंगे—सिंधु घाटी सभ्यता, वैदिक एवं उत्तरवैदिक काल, और मौर्य-गुप्त काल और गुप्तोत्तर काल।

3.2.1 सिंधु घाटी सभ्यता के शिल्प

सिंधु घाटी सभ्यता (2600–1900 ई.पू.) भारतीय उपमहाद्वीप की सर्वप्रथम नगरीय सभ्यता मानी जाती है। इसकी विशेषता केवल सुव्यवस्थित नगर नियोजन और जल-निकासी प्रणाली ही नहीं थी, बल्कि यहाँ के शिल्प और औद्योगिक उत्पादन भी उल्लेखनीय थे। हड़प्पा, मोहनजोदड़ो, लोथल और धोलावीरा जैसे नगरों से प्राप्त पुरातात्त्विक साक्ष्य यह प्रमाणित करते हैं कि यहाँ के लोग उच्च कोटि के कारीगर थे। मिट्टी, धातु, पत्थर और अर्द्ध-बहुमूल्य रत्नों से बने आभूषण, मनके और खिलौने इस सभ्यता के लोगों की सौंदर्य-बोध और शिल्प-कौशल का परिचायक हैं। विशेष रूप से ताम्र और कांस्य का प्रयोग इस बात को दर्शाता है कि धातुकर्म इस सभ्यता में अच्छी तरह विकसित था।

सिंधु सभ्यता के शिल्पों की एक प्रमुख विशेषता उनका व्यापक विविधीकरण और संगठन था। लोथल से प्राप्त विशाल गोदी और मनका निर्माण केंद्र यह प्रमाणित करते हैं कि उत्पादन केवल घरेलू उपयोग तक सीमित नहीं था, बल्कि व्यापार के लिए भी बड़े पैमाने पर किया जाता था। यहाँ मनका निर्माण, धातु ढलाई, कुम्हारी और वस्त्र निर्माण की संगठित कार्यशालाओं के प्रमाण मिले हैं। मोहरों पर उकेरे गए पशु चित्र और लिपि-चिह्न यह दर्शाते हैं कि इनका प्रयोग प्रशासनिक नियंत्रण और वाणिज्यिक लेन-देन में होता था। यह तथ्य यह भी दर्शाता है कि उस समय शिल्प और वाणिज्यिक गतिविधियाँ आपस में घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई थीं।

सिंधु सभ्यता के शिल्पों का महत्व केवल स्थानीय स्तर तक सीमित नहीं रहा, बल्कि उनका अंतरराष्ट्रीय आयाम भी था। मेसोपोटामिया से प्राप्त पुरावशेषों में सिंधु मूल के मनके और मुहरें पाई गई हैं, जो समुद्री और स्थलमार्गी व्यापार की सशक्त परंपरा को दर्शाती हैं। लोथल की गोदी और व्यापारिक गोदाम इस अंतरराष्ट्रीय संपर्क का ठोस प्रमाण देते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सिंधु घाटी सभ्यता में शिल्प उत्पादन केवल आर्थिक गतिविधि नहीं था, बल्कि यह सांस्कृतिक अभिव्यक्ति और सामाजिक संगठन का भी महत्वपूर्ण अंग था।

3.2.2 वैदिक काल के शिल्प

वैदिक काल (1500–600 ई.पू.) भारत के सामाजिक और आर्थिक जीवन में संक्रमण का काल था। इस युग में कृषि के साथ-साथ विभिन्न शिल्प और व्यवसायिक गतिविधियों का विकास हुआ। ऋग्वेद में 'तक्षक' (काष्ठ-शिल्पी), 'कर्मार' (धातुकार), 'कुंभकार' (घड़ा बनाने वाला), 'तन्तर' (बुनकर) आदि अनेक शिल्पकारों का उल्लेख मिलता है, जो यह दर्शाता है कि समाज में विविध प्रकार के शिल्प अस्तित्व में थे। इस युग में लोहा, ताँबा और सोना जैसे धातुओं का प्रयोग व्यापक रूप से हुआ। इन धातुओं से कृषि उपकरण, हथियार, आभूषण और घरेलू वस्तुएँ तैयार की जाती थीं। वैदिक समाज में शिल्प केवल आजीविका का साधन नहीं, बल्कि धार्मिक और सामाजिक महत्व का भी अंग था — जैसे यज्ञों में प्रयुक्त पात्र, वेदी और उपकरण शिल्प-कौशल की उत्कृष्ट मिसाल थे।

उत्तर वैदिक काल में जब लौह-प्रयोग सामान्य हो गया, तब धातुकर्म और काष्ठ-शिल्प दोनों में गुणात्मक परिवर्तन आया। लोहे के औजारों ने कृषि उत्पादन को बढ़ाया और इसके साथ ही वस्त्र निर्माण, मिट्टी के बर्तन और धातु-शिल्प का विस्तार हुआ। इस काल में नगरीय जीवन के आरंभिक संकेत भी मिलते हैं, जिससे व्यापारिक उत्पादन और श्रम विभाजन की परंपरा और सशक्त हुई। शतपथ ब्राह्मण और अथर्ववेद में स्वर्णकारों और बुनकरों का उल्लेख है, जो यह दर्शाता है कि शिल्पियों का समाज में सम्मानजनक स्थान था। शिल्प उत्पादन प्रायः पारिवारिक और वंशानुगत था, जिससे विशिष्ट कौशल पीढ़ी दर पीढ़ी संरक्षित रहा।

वैदिक काल के शिल्पों में उपयोगिता और सौंदर्य का सुंदर समन्वय दिखाई देता है। लकड़ी और धातु के बर्तन, रथों के पहिए, आभूषण, और वस्त्र न केवल उपयोगी थे बल्कि सांस्कृतिक प्रतीकों के रूप में भी माने जाते थे। वैदिक समाज में कला और शिल्प का संबंध धर्म, सामाजिक संरचना और प्रकृति से गहराई से जुड़ा था। देवताओं को प्रसन्न करने हेतु निर्मित यज्ञ-वेदी, रथ और धातु पात्र शिल्प परंपरा के धार्मिक पक्ष को दर्शाते हैं। इस प्रकार वैदिक काल में शिल्प उत्पादन केवल आर्थिक गतिविधि नहीं था, बल्कि यह सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन का अभिन्न हिस्सा था — जो आगे चलकर भारतीय शिल्प और उद्योग की दीर्घ परंपरा की नींव बना।

3.2.3 छठी सदी ईसा पूर्व: नए नगरों के युग में

छठी शताब्दी ईसा पूर्व भारतीय इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण संक्रमण काल था। यह वह समय था जब कृषि उत्पादन में वृद्धि, लौह-प्रयोग के प्रसार और नगरीकरण की प्रक्रिया ने सामाजिक एवं आर्थिक ढाँचे को बदलना शुरू किया। गंगा के मैदानी क्षेत्र में नई-नई बस्तियाँ बसने लगीं और उनके साथ व्यापारिक गतिविधियाँ भी बढ़ीं। ग्रामीण उत्पादन के अधिशेष ने विनिमय को प्रोत्साहित किया, और यहीं से आंतरिक तथा बाह्य व्यापार के नए रूप विकसित हुए। इस काल में वस्त्र, धातु, मिट्टी के बर्तन, और आभूषण जैसे शिल्प उत्पाद बाजार में प्रचलित हुए। वैदिक युग के सीमित स्थानीय विनिमय की तुलना में यह युग व्यवस्थित वाणिज्यिक लेन-देन का प्रतीक था।

व्यापार की इस प्रगति में लौह उपकरणों की भूमिका निर्णायक रही। कृषि भूमि के विस्तार और उपज में वृद्धि से अधिशेष उत्पाद उत्पन्न हुआ, जिसने वस्तुओं के आदान-प्रदान को गति दी। नगरों का विकास हुआ—विशेषतः कौशांबी, वाराणसी, राजगृह, श्रावस्ती और वैशाली जैसे नगर व्यापारिक केंद्र के रूप में उभरे। इन नगरों में व्यापारी वर्ग का सशक्त उदय हुआ, जो धीरे-धीरे सामाजिक संरचना का प्रभावशाली अंग बनने लगा। नदी मार्गों और स्थलमार्गों ने वस्तुओं के आवागमन को सुगम बनाया, जिससे उत्तर भारत के विभिन्न क्षेत्रों के बीच आर्थिक संपर्क सुदृढ़ हुआ।

इसी काल में श्रेणी और श्रेष्ठी जैसे संस्थानों का उदय हुआ। श्रेणी उन कारीगरों या व्यापारियों के संगठित समूहों को कहा जाता था जो किसी विशेष शिल्प या व्यवसाय से जुड़े होते थे। उदाहरणस्वरूप—कुंभकार, सुवर्णकार, तंतुवाय (बुनकर) या धातुकार अपनी-अपनी श्रेणियाँ बनाते थे। ये श्रेणियाँ उत्पादन की गुणवत्ता, मूल्य निर्धारण और लेन-देन की व्यवस्था सुनिश्चित करती थीं। इनके अपने नियम, अधिकारी और निधियाँ होती थीं। 'श्रेष्ठी' शब्द व्यापारिक जगत के प्रतिष्ठित और संपन्न व्यक्तियों के लिए प्रयुक्त होता था, जो प्रायः इन श्रेणियों के प्रमुख या संरक्षक होते थे। श्रेष्ठी व्यापारियों का कार्य केवल वाणिज्य तक सीमित नहीं था—वे धार्मिक दान, निर्माण कार्यों और सामाजिक कल्याण में भी भाग लेते थे।

बौद्ध ग्रंथों में श्रेणी और श्रेष्ठी के अनेक उल्लेख मिलते हैं। अंगुत्तर निकाय, विनय पिटक और जातक कथाएँ इस विषय में अमूल्य स्रोत हैं। इन ग्रंथों में यह उल्लेख मिलता है कि श्रेणियों के अपने सभा-गृह होते थे, जिनमें सदस्य मिलकर आर्थिक निर्णय लेते थे। जातक कथाओं में श्रेष्ठी पात्रों के माध्यम से व्यापारिक जीवन की जटिलताओं, नैतिकताओं और सामाजिक सम्मान की झलक मिलती है। एक श्रेष्ठी का वर्णन ऐसे व्यक्ति के रूप में किया गया है जो विशाल धन का स्वामी होने के साथ-साथ दानशील और धर्मनिष्ठ भी है। यह बौद्ध दृष्टिकोण यह भी दर्शाता है कि व्यापारिक वर्ग समाज में प्रतिष्ठित था और आर्थिक समृद्धि को नैतिक उत्तरदायित्व से जोड़ा जाता था।

छठी शताब्दी ईसा पूर्व में यह समूची प्रक्रिया—व्यापार की प्रगति, श्रेणियों का संगठन और श्रेष्ठियों का उदय —भारत में नगरीकरण की नींव साबित हुई। इस काल में व्यापार केवल आर्थिक गतिविधि नहीं रहा, बल्कि उसने सामाजिक ढाँचे को नया स्वरूप दिया। व्यापारियों और शिल्पकारों ने धर्म और समाज दोनों को समृद्ध किया—उन्होंने बौद्ध और जैन संघों को दान दिए, विहारों और स्तूपों के निर्माण में सहयोग किया। इससे एक नया शहरी समाज उभरा जो श्रम, पूँजी और धर्म के संतुलन पर आधारित था। यह युग आगे चलकर मौर्यकालीन औद्योगिक संगठन और भारतीय शिल्प परंपरा की संस्थागत नींव बना।

3.2.4 मौर्य एवं उत्तर मौर्य कालीन शिल्प

मौर्य काल (चौथी–दूसरी शताब्दी ई.पू.) भारतीय इतिहास का एक ऐसा दौर था जब राज्यसत्ता, नगरीकरण और औद्योगिक उत्पादन में उल्लेखनीय वृद्धि हुई। चंद्रगुप्त मौर्य द्वारा स्थापित साम्राज्य ने विशाल क्षेत्र को एक राजनीतिक इकाई में बाँध दिया, जिससे संसाधनों का आदान-प्रदान और उत्पादन का संगठन संभव हुआ। अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने राज्य के नियंत्रण में अनेक शिल्पों और उद्योगों का उल्लेख किया है — जैसे धातु शोधन, बुनाई, मिट्टी के बर्तन बनाना, रथ निर्माण, और आभूषण निर्माण। इससे यह स्पष्ट होता है कि शिल्प न केवल निजी व्यवसाय था बल्कि राज्य की अर्थव्यवस्था का एक नियंत्रित और संगठित अंग था।

मौर्यकालीन स्थापत्य और मूर्तिकला भारतीय शिल्पकला की चरम उपलब्धि मानी जाती है। अशोक द्वारा निर्मित स्तंभ, स्तूप और गुफाएँ न केवल धार्मिक आस्था के प्रतीक थे बल्कि शिल्प-कौशल की उत्कृष्ट मिसाल भी प्रस्तुत करते हैं। सारनाथ और लौरिया-नंदनगढ़ के अशोक स्तंभों पर पॉलिश की हुई चमक और सिंह आकृति वाली लाट भारतीय शिल्पकला की तकनीकी और सौंदर्यगत उन्नति का प्रमाण हैं। ये कृतियाँ यह दिखाती हैं कि मौर्यकालीन शिल्पकार अत्यंत दक्ष थे और उन्हें उच्च कोटि का राजकीय संरक्षण प्राप्त था।

राजकीय निर्माणों के साथ-साथ नगरों में निजी उत्पादन और वाणिज्यिक गतिविधियाँ भी व्यापक रूप से विकसित हुईं। पाटलिपुत्र, तक्षशिला, उज्जैन और अमरावती जैसे नगर औद्योगिक और व्यापारिक केंद्र बन चुके थे। पत्थर और लकड़ी के काम में दक्ष कारीगर मंदिरों, प्रासादों और आवासीय भवनों का निर्माण करते थे। नालंदा और सोनभद्र क्षेत्र से प्राप्त मिट्टी के खिलौने, बर्तन और धातु उपकरण यह दर्शाते हैं कि घरेलू उपयोग की वस्तुओं के निर्माण में भी उच्च स्तर का कौशल था।

मौर्योत्तर काल में शुंग, कण्व और सातवाहन शासकों के समय शिल्पकला में विविधता और विस्तार आया। इस काल की विशेषता यह रही कि राज्य संरक्षण के साथ-साथ बौद्ध संघों और व्यापारी संघों ने भी शिल्पों को प्रोत्साहन दिया। साँची, भरहुत और अमरावती के स्तूपों की रेलिंगों और तोरणों पर की गई उत्कृष्ट नक्काशी, यक्ष-यक्षिणी मूर्तियाँ और गांधार–मथुरा कला की परंपरा इस युग की कलात्मक प्रगति को दर्शाती हैं। यहाँ धार्मिक विषयों के साथ-साथ लोकजीवन के दृश्य भी चित्रित किए गए, जो शिल्पकला को जन-सांस्कृतिक आयाम प्रदान करते हैं।

इस काल में व्यापारिक गतिविधियों के विस्तार के साथ शिल्प उत्पादन ने एक संगठित रूप धारण किया। गिल्ड प्रणाली (श्रेणी या श्रेणियाँ) का विकास हुआ, जिसमें समान व्यवसाय से जुड़े कारीगर एक संगठन बनाकर कार्य करते थे। ये संगठन न केवल उत्पादन और गुणवत्ता का ध्यान रखते थे, बल्कि सामाजिक और धार्मिक जीवन में भी भूमिका निभाते थे। शिल्पकारों का यह संघटन भारतीय आर्थिक जीवन में सामुदायिक सहयोग और व्यावसायिक नैतिकता की परंपरा को स्थापित करता है। इस प्रकार मौर्य और उत्तर मौर्य काल भारतीय शिल्पकला के सुव्यवस्थित, सशक्त और बहुआयामी विकास का काल था, जिसने आगे चलकर गुप्त युग की स्वर्णिम कला परंपरा की नींव रखी।

3.2.5 गुप्त काल के शिल्प और वाणिज्य

गुप्त काल (चौथी से छठी शताब्दी ईस्वी) भारतीय इतिहास का एक ऐसा युग था जिसमें राजनीतिक स्थिरता, आर्थिक समृद्धि और सांस्कृतिक उत्कर्ष का अद्भुत संगम दिखाई देता है। साम्राज्य की एकता, सुव्यवस्थित प्रशासन और सुरक्षित संचार मार्गों ने वाणिज्य और शिल्प उद्योगों को भरपूर अवसर दिए। इस काल में आंतरिक और बाह्य व्यापार दोनों ही सशक्त रूप में फले-फूले। गुप्त शासकों द्वारा जारी किए गए स्वर्ण मुद्राएँ उस आर्थिक समृद्धि का स्पष्ट प्रमाण हैं, जिनमें उत्कृष्ट शिल्पकला और उच्च धातु-कौशल का मेल दिखाई देता है। यह काल शिल्प उत्पादन के संगठन, व्यापारिक संस्थाओं की परिपक्वता और नगरों की आर्थिक सक्रियता का युग था।

गुप्त युग की शिल्पकला विविध रूपों में विकसित हुई। धातु, पत्थर, लकड़ी और मिट्टी — इन सभी माध्यमों में उच्च स्तरीय उत्पादन हुआ। धातुशिल्प विशेष रूप से उल्लेखनीय था; सोने, चाँदी, ताँबे और कांस्य से निर्मित मूर्तियाँ और दैनिक उपयोग की वस्तुएँ अत्यंत परिष्कृत थीं। बिहार, मथुरा, और सारनाथ से प्राप्त कांस्य प्रतिमाएँ इस युग की

कलात्मक परिपक्वता को दर्शाती हैं। वस्त्र उद्योग भी व्यापक रूप से फला-फूला; मथुरा, वाराणसी और उज्जैन जैसे नगर सूती तथा रेशमी वस्त्र निर्माण के केंद्र बन गए। भारतीय रेशमी और सूती कपड़े उस समय दक्षिण-पूर्व एशिया, चीन, और रोमन जगत तक निर्यात किए जाते थे, जिससे विदेशी व्यापार का विस्तार हुआ।

गुप्तकालीन वाणिज्य के संगठन में 'श्रेणी' और 'श्रेष्ठी' संस्थाएँ अभी भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रही थीं। ये श्रेणियाँ अब अधिक सुदृढ़ और प्रभावशाली बन चुकी थीं। प्रत्येक श्रेणी के अपने नियम, निधि और प्रमुख अधिकारी होते थे। श्रेष्ठी और नगरश्रेष्ठी व्यापारिक वर्ग के प्रतिष्ठित सदस्य माने जाते थे जो व्यापार मार्गों, कर व्यवस्था और उत्पादन की गुणवत्ता पर निगरानी रखते थे। इन संगठनों ने केवल आर्थिक हितों की रक्षा नहीं की बल्कि समाज में धार्मिक और दान-संस्कृति को भी प्रोत्साहित किया। अनेक अभिलेखों में यह उल्लेख मिलता है कि व्यापारी संघों ने मंदिरों और विहारों को दान दिए और यात्रियों के लिए धर्मशालाएँ, सरायें तथा जलाशय बनवाए।

इस काल में व्यापार मार्गों का जाल और अधिक विस्तृत हुआ। उत्तर भारत से दक्षिण और पश्चिम भारत को जोड़ने वाले स्थल मार्गों के साथ-साथ समुद्री व्यापार भी अत्यंत सक्रिय था। गुजरात, ताम्रलिप्ति, कावेरीपट्टनम और बारूगाजा (भरूच) जैसे बंदरगाहों से वस्त्र, मसाले, रत्न, धातु और हाथीदाँत की वस्तुएँ विदेशों को भेजी जाती थीं। विदेशी व्यापार से राजकोष को कर और शुल्क के रूप में पर्याप्त राजस्व प्राप्त होता था। रोमन और पश्चिम एशियाई क्षेत्रों से सोना, चाँदी और मूल्यवान वस्तुएँ आयात होती थीं, जबकि भारत का प्रमुख निर्यात शिल्प उत्पादों पर आधारित था। इस व्यापार ने न केवल आर्थिक समृद्धि लाई बल्कि सांस्कृतिक आदान-प्रदान को भी बढ़ावा दिया।

गुप्त काल की यह आर्थिक संरचना भारतीय इतिहास में स्वर्ण युग के रूप में इसलिए प्रतिष्ठित है क्योंकि इसने आत्मनिर्भर और संगठित शिल्प-वाणिज्यिक व्यवस्था को जन्म दिया। शिल्पकारों, व्यापारियों और राज्य के बीच एक संतुलित संबंध बना, जिसमें प्रत्येक ने दूसरे की उन्नति में योगदान दिया। यही वह युग था जब भारतीय शिल्पकला, स्थापत्य और व्यापारिक नैतिकता ने विश्व को आकर्षित किया और भारत को "सुवर्ण भूमि" के रूप में प्रतिष्ठा दिलाई। गुप्त युग की यह विरासत मध्यकालीन भारत के वाणिज्यिक संगठन, नगरजीवन और कला परंपरा की नींव बनी, जो आगे चलकर मुगल युग तक अपनी छाप छोड़ती रही।

3.2.6 गुप्तोत्तर काल में शिल्प और वाणिज्य

गुप्त साम्राज्य के पतन (छठी शताब्दी ईस्वी के बाद) के पश्चात भारत में राजनीतिक अस्थिरता का काल आरंभ हुआ, जिसे सामान्यतः गुप्तोत्तर काल कहा जाता है। यद्यपि राजनीतिक एकता में शिथिलता आई, परंतु आर्थिक और शिल्प परंपराएँ पूरी तरह समाप्त नहीं हुईं। इस युग में क्षेत्रीय राज्यों का उदय हुआ—हर्षवर्धन का कन्नौज साम्राज्य, वर्धन वंश, चालुक्य, पल्लव, राष्ट्रकूट, और बाद में पाल-प्रतिहार—इन सबने स्थानीय शिल्प और वाणिज्य को

संरक्षण दिया। परिणामस्वरूप शिल्प उत्पादन ने एक विकेन्द्रीकृत लेकिन निरंतर रूप बनाए रखा।

इस काल में शहरी जीवन में कुछ परिवर्तन अवश्य आए, किंतु प्रमुख नगर जैसे वाराणसी, उज्जैन, कांचीपुरम, पाटलिपुत्र, ताम्रलिप्ति और मदुरै व्यापारिक दृष्टि से सक्रिय रहे। लौह, कांस्य, तांबे और पीतल से बनी वस्तुएँ, रेशम और सूती वस्त्र, आभूषण, और मिट्टी के पात्र अब भी व्यापार के महत्त्वपूर्ण उत्पाद थे। समुद्री और स्थल व्यापार दोनों ही रूपों में जारी रहे, विशेष रूप से पूर्वी भारत के तटीय नगरों से दक्षिण-पूर्व एशिया (सुवर्णद्वीप या आधुनिक इंडोनेशिया, मलेशिया) तक व्यापारिक संपर्क बने रहे। इस काल की व्यापारिक गतिविधियाँ भारतीय संस्कृति के बाह्य प्रसार का माध्यम भी बनीं—भारतीय लिपि, धर्म और कला दक्षिण-पूर्व एशिया तक पहुँची।

शिल्प उत्पादन में भी इस युग में विविधता और क्षेत्रीय विशिष्टता देखने को मिलती है। उत्तर भारत में धातु शिल्प और मूर्तिकला, विशेषकर पाल काल में, अत्यंत उच्च स्तर की थी। बौद्ध धर्म के प्रभाव के कारण नालंदा, बोधगया और विक्रमशिला जैसे केंद्रों के आसपास कांस्य मूर्तियों का निर्माण हुआ, जो तकनीकी रूप से परिष्कृत और कलात्मक दृष्टि से श्रेष्ठ थीं। दक्षिण भारत में पल्लवों और चोलों के शासन में पत्थर और कांस्य मूर्तिकला ने उत्कृष्टता प्राप्त की। तंजावुर के नटराज प्रतिमाएँ और कांस्य मूर्तियाँ इस परंपरा की चरम उपलब्धि हैं। ये न केवल धार्मिक प्रतीक थीं, बल्कि शिल्प कौशल और सौंदर्यबोध की मूर्त अभिव्यक्ति भी।

गुप्तोत्तर काल में व्यापारिक संगठन अब और अधिक परिपक्व हुए। 'श्रेणी' और 'श्रेष्ठी' की परंपरा दक्षिण भारत में 'नानादेशीय' और 'मणिग्रामम' जैसे शक्तिशाली व्यापारी संघों में परिणत हुई। ये संघ न केवल व्यापारिक लेन-देन करते थे, बल्कि राजनयिक और सामाजिक कार्यों में भी सक्रिय थे। इनके अपने प्रतीक, ध्वज, नियम और निधियाँ होती थीं। inscriptions से ज्ञात होता है कि इन संगठनों के सदस्यों ने मंदिरों को दान दिए, सड़कों और सरायों का निर्माण कराया, तथा व्यापारिक मार्गों की सुरक्षा का दायित्व भी निभाया। यह संगठनात्मक ढाँचा भारतीय वाणिज्य की आत्मनिर्भरता और सामाजिक उत्तरदायित्व दोनों का परिचायक था।

गुप्तोत्तर युग में, यद्यपि राजनैतिक सत्ता का विखंडन हुआ, परंतु आर्थिक जीवन और शिल्प परंपरा ने सतत विकास किया। क्षेत्रीय कला शैलियाँ, मंदिर स्थापत्य, धातु मूर्तिकला और वस्त्र निर्माण ने इस युग को सांस्कृतिक रूप से समृद्ध बनाए रखा। भारतीय व्यापारियों के समुद्री संपर्कों ने न केवल आर्थिक समृद्धि दी, बल्कि भारतीय संस्कृति का वैश्विक प्रसार भी सुनिश्चित किया। इस प्रकार गुप्तोत्तर काल संक्रमण का युग था—जहाँ प्राचीन शिल्प परंपरा नई सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों के अनुरूप ढलकर मध्यकालीन भारत के शिल्प और वाणिज्य के लिए आधार तैयार कर रही थी।

3.3 मध्यकालीन भारत में वाणिज्य और शिल्प उत्पादन

मध्यकालीन भारत, विशेषकर 13वीं से 18वीं शताब्दी के बीच, शिल्प और वाणिज्यिक गतिविधियों की दृष्टि से अत्यंत गतिशील काल था। इस युग में शहरीकरण, तकनीकी कौशल, और विदेशी व्यापार में तीव्र वृद्धि हुई। दिल्ली सल्तनत से लेकर मुगल साम्राज्य तक के काल में भारत की आर्थिक संरचना कृषि पर आधारित थी, किन्तु नगरों में शिल्प उत्पादन और व्यापारिक संगठन ने समृद्धि के नये आयाम खोले। इस काल में विभिन्न कला और शिल्प परंपराएँ न केवल राजकीय संरक्षण में फली-फूलीं, बल्कि उन्होंने भारत को अंतरराष्ट्रीय व्यापारिक तंत्र का सक्रिय अंग बना दिया।

3.3.1 सल्तनत कालीन शिल्प परंपराएँ

दिल्ली सल्तनत (1206–1526 ई.) के समय भारत में शिल्प परंपराओं का एक नया रूप विकसित हुआ। तुर्क-अफगान शासकों के आगमन से मध्य एशियाई कलात्मक शैलियाँ भारतीय परंपराओं के साथ मिलकर एक विशिष्ट मिश्रण का निर्माण करती हैं। इस काल में स्थापत्य कला ने विशेष प्रगति की—लाल पत्थर, संगमरमर, और चूने का उपयोग कर कुतुब मीनार, अलाई दरवाज़ा, और तुगलक वास्तुशिल्प जैसे अद्भुत निर्माण हुए। स्थापत्य में ज्यामितीय आकृतियों, गुम्बदों और मेहराबों का प्रयोग भारतीय कला में नवीनता लाया।

बुनाई और वस्त्र उद्योग इस काल का दूसरा प्रमुख शिल्प था। बंगाल, गुजरात, और उत्तर प्रदेश के नगर सूती, रेशमी और ऊनी वस्त्रों के लिए प्रसिद्ध थे। मलमल, तनसुख और दौरिया जैसे महीन वस्त्रों की माँग न केवल भारत में, बल्कि अरब और मध्य एशिया के बाजारों में भी थी। रेशम उद्योग विशेषकर बंगाल और दक्षिण भारत में विकसित हुआ।

धातुकर्म भी सल्तनत काल की एक महत्वपूर्ण शिल्प परंपरा थी। लोहे, तांबे, कांसे और पीतल से बने औज़ार, बर्तन, और सजावटी वस्तुएँ स्थानीय और अंतरराष्ट्रीय दोनों बाज़ारों में बिकती थीं। दिल्ली, फिरोजाबाद और लाहौर में धातु शिल्प के केंद्र स्थापित हुए। इस काल में सिक्का ढलाई भी एक उन्नत कला के रूप में विकसित हुई—सुल्तानों ने सुव्यवस्थित मिंटिंग सिस्टम बनाया जिससे व्यापार में विश्वास और स्थायित्व बढ़ा।

इक्तादारी व्यवस्था के कारण नगरों में बाजार और मंडियाँ विकसित हुईं। इक्ता प्राप्त अधिकारी और सैनिक अपने क्षेत्रों से राजस्व संग्रह करते थे, जिससे मुद्रा का प्रवाह बढ़ा। परिणामस्वरूप दिल्ली, लाहौर, जौनपुर, गुजरात और बंगाल जैसे नगरों में व्यापारिक गतिविधियाँ तीव्र हुईं।

बाजारों में विदेशी व्यापारियों की उपस्थिति से सांस्कृतिक और आर्थिक आदान-प्रदान भी हुआ। अरब और फ़ारसी व्यापारी भारतीय बंदरगाहों—जैसे सूरत, कैलीकट (कोझिकोड), और मसुलीपट्टनम—से भारत में आए। इस

संपर्क ने भारतीय शिल्प को अंतरराष्ट्रीय पहचान दिलाई और आगे चलकर मुगल काल के औद्योगिक उत्कर्ष का आधार तैयार किया।

3.3.2 मुगल कालीन वाणिज्य और शिल्प उद्योग

मुगल काल (1526–1707 ई.) भारतीय शिल्प उद्योग का स्वर्ण युग कहा जा सकता है। इस युग में भारत की अर्थव्यवस्था अत्यंत समृद्ध थी और शिल्प उत्पादन राजकीय संरक्षण में नये शिखर पर पहुँचा। मुगलों ने शिल्पकारों, कारीगरों और कलाकारों को सम्मान दिया, जिसके परिणामस्वरूप स्थापत्य, चित्रकला, वस्त्र निर्माण, आभूषण कला और धातुकर्म में असाधारण प्रगति हुई।

आगरा, दिल्ली, लाहौर, फतेहपुर सीकरी, और कश्मीर इस काल के प्रमुख शिल्पकेंद्र बने। संगमरमर की जड़ाई (पिएत्रा ड्यूरा), पच्चीकारी, और मीनाकारी जैसी कलाओं का उत्कर्ष हुआ। ताजमहल, इतमाद-उद-दौला का मकबरा और अकबर का मकबरा मुगल स्थापत्य और शिल्प कौशल के सर्वोत्तम उदाहरण हैं। इन कलाओं में स्थानीय और फ़ारसी शैली का सुंदर संगम देखने को मिलता है।

वस्त्र उद्योग मुगल काल की अर्थव्यवस्था की रीढ़ था। ढाका की मलमल, बनारस का रेशम, गुजरात का छपा हुआ सूती कपड़ा और कश्मीर की शालें देश-विदेश में प्रसिद्ध थीं। ये वस्त्र यूरोपीय व्यापारियों के लिए अत्यंत आकर्षक उत्पाद थे। इंग्लिश ईस्ट इंडिया कंपनी के आगमन के बाद भारतीय वस्त्रों का निर्यात और भी बढ़ गया।

आभूषण कला और धातु शिल्प भी इस काल में चरम पर पहुँचे। सोना, चाँदी, हीरे-जवाहरात और कीमती पत्थरों की जड़ाई में मुगल कारीगरों की दक्षता अतुलनीय थी। मुगल शासक स्वयं भी कला प्रेमी थे—जहाँगीर की सूक्ष्म कलात्मक दृष्टि और शाहजहाँ के स्थापत्य शिल्प प्रेम ने शिल्प परंपराओं को राजकीय संरक्षण दिया।

इस काल में आंतरिक और बाह्य व्यापार दोनों ने अभूतपूर्व विस्तार पाया। बाजारों और मंडियों का जाल समूचे देश में फैला हुआ था। आगरा, पटना, अहमदाबाद और सूरत जैसे नगर अंतरराष्ट्रीय व्यापारिक केंद्र बने। इस आर्थिक गतिविधि ने भारत को विश्व अर्थव्यवस्था का प्रमुख घटक बना दिया।

3.3.3 अंतरराष्ट्रीय व्यापार और भारतीय शिल्प

मध्यकालीन भारत का अंतरराष्ट्रीय व्यापार अत्यंत सक्रिय और व्यापक था। भारतीय व्यापारी और शिल्पकार न केवल एशिया, बल्कि यूरोप और अफ्रीका के बाजारों तक अपने उत्पाद पहुँचाते थे। अरब, फ़ारस, मध्य

एशिया, चीन, और बाद में यूरोपीय देशों के साथ भारत का व्यापारिक संपर्क निरंतर बना रहा। मसाले, वस्त्र, रत्न, हाथीदाँत, धातुएँ, और औषधीय पौधे प्रमुख निर्यात उत्पाद थे।

अरबी और फारसी व्यापारी भारतीय बंदरगाहों के माध्यम से चीन और यूरोप के बीच व्यापारिक सेतु का कार्य करते थे। सूरत, ताम्रलिप्ति, कोचीन, नागापट्टिनम और मसुलीपट्टनम जैसे बंदरगाह अंतरराष्ट्रीय संपर्क के केंद्र बने। विशेष रूप से सूरत, जिसे "भारत का द्वार" कहा गया, यूरोपीय व्यापारिक कंपनियों का प्रमुख केंद्र बना।

भारतीय शिल्पकारों की दक्षता और उत्पादों की गुणवत्ता इतनी उच्च थी कि यूरोपीय व्यापारियों ने भारत को "विश्व की कार्यशाला (Workshop of the World)" कहा। ढाका की महीन मलमल, बनारसी रेशम, और कश्मीरी शालें यूरोप के दरबारों तक पहुँचीं। भारत से निर्यातित वस्त्रों के बदले यूरोपीय देश चाँदी और सोना भेजते थे, जिससे भारत की धन-समृद्धि में वृद्धि हुई।

अंतरराष्ट्रीय व्यापार ने न केवल आर्थिक समृद्धि को बढ़ाया, बल्कि सांस्कृतिक आदान-प्रदान को भी प्रोत्साहित किया। भारतीय वस्त्रों की छपाई तकनीक, रंगाई, और डिज़ाइन पश्चिमी देशों में लोकप्रिय हुए, वहीं विदेशी व्यापारियों के माध्यम से नई कलात्मक और तकनीकी जानकारियाँ भी भारत पहुँचीं।

अतः मध्यकालीन भारत में वाणिज्य और शिल्प का चरित्र आत्मनिर्भरता, तकनीकी दक्षता और वैश्विक संपर्क के समन्वय पर आधारित था। यह काल भारतीय आर्थिक इतिहास में उस परंपरा का प्रतीक है जिसने भारत को लंबे समय तक एशिया और यूरोप के बीच व्यापारिक सेतु और शिल्प कौशल के केंद्र के रूप में स्थापित किया।

3.4 औपनिवेशिक काल में औद्योगिक और वाणिज्यिक परिवर्तन

भारतीय आर्थिक इतिहास का औपनिवेशिक काल एक निर्णायक मोड़ था। सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से ईस्ट इंडिया कंपनी के व्यापारिक प्रभुत्व और अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन की स्थापना के साथ भारत की पारंपरिक औद्योगिक और वाणिज्यिक संरचना में व्यापक परिवर्तन हुए। जहाँ एक ओर मध्यकाल में भारत "विश्व की कार्यशाला" के रूप में प्रसिद्ध था, वहीं औपनिवेशिक नीतियों ने इसे धीरे-धीरे कृषि-प्रधान और आश्रित अर्थव्यवस्था में बदल दिया। यह संक्रमण न केवल आर्थिक बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक रूप से भी गहरे प्रभाव उत्पन्न करने वाला था।

3.4.1 औपनिवेशिक नीतियाँ और शिल्प का पतन

अंग्रेजी शासन के प्रारंभिक दौर में भारत एक प्रमुख औद्योगिक देश था। बंगाल, गुजरात, बनारस, ढाका, मुर्शिदाबाद और तंजावुर जैसे नगरों के बुनकर और कारीगर अंतरराष्ट्रीय बाजारों में प्रसिद्ध थे। किंतु कंपनी शासन के बाद ब्रिटिश सरकार ने ऐसी नीतियाँ अपनाईं जिनसे भारतीय शिल्प उद्योग को व्यवस्थित रूप से कमजोर किया गया। ब्रिटिश व्यापारियों और निर्माताओं का उद्देश्य भारत को अपने औद्योगिक उत्पादों का बाजार बनाना था।

अंग्रेजों ने भारतीय वस्त्रों और शिल्प उत्पादों पर भारी कर और निर्यात शुल्क लगाए, जबकि ब्रिटिश मशीन निर्मित वस्त्रों को बिना कर के भारतीय बाजारों में लाया गया। परिणामस्वरूप भारतीय वस्त्र ब्रिटिश बाजार में महंगे और अलाभकारी हो गए, वहीं इंग्लैंड में निर्मित सस्ते कपड़े भारत में तेजी से बिकने लगे। इस आर्थिक असमानता ने भारतीय वस्त्र उद्योग को गंभीर झटका दिया।

साथ ही, अंग्रेजों ने भारत से कच्चा माल — विशेषकर कपास, नील, रेशम और मसाले — सस्ते दामों पर निर्यात किया और तैयार माल महँगे दामों पर भारत में बेचा। यह व्यापारिक नीति 'औपनिवेशिक पूँजीवाद' का मूल सिद्धांत बन गई, जिसने भारत की आर्थिक आत्मनिर्भरता को समाप्त कर दिया।

सरकारी संरक्षण, तकनीकी नवाचार और निवेश के अभाव में भारतीय शिल्प उद्योग धीरे-धीरे अवनति की ओर बढ़ा। पारंपरिक शिल्पकेंद्र उजड़ने लगे और कारीगरों की पीढ़ियाँ बेरोजगारी और निर्धनता की चपेट में आ गईं। इस प्रकार औपनिवेशिक नीतियों ने भारत के शिल्प और उद्योग को एक संगठित योजना के अंतर्गत निष्प्रभावी बना दिया। जो भारत कभी विश्व व्यापार का केंद्र था, वह अब औपनिवेशिक शक्तियों का आश्रित उपभोक्ता बन गया।

3.4.2 भारतीय बुनकर और कारीगरों पर प्रभाव

औपनिवेशिक आर्थिक नीतियों का सबसे भीषण प्रभाव भारतीय बुनकरों और कारीगरों पर पड़ा। सैकड़ों वर्षों से चली आ रही बुनाई, रंगाई और हस्तशिल्प परंपराएँ अचानक अस्थिर हो गईं। बंगाल और ढाका की मलमल, बनारस का रेशम, और गुजरात का सूती कपड़ा, जो कभी अंतरराष्ट्रीय स्तर पर प्रसिद्ध थे, अंग्रेजी मशीनों से बने वस्त्रों के सामने टिक नहीं पाए।

हजारों बुनकर अपनी जीविका खो बैठे। कुछ इतिहासकारों ने इसे 'शिल्प का विनाश' कहा है। ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा लगाए गए करों, मनमाने आदेशों और बाजार पर एकाधिकार ने बुनकरों को दरिद्र बना दिया। इसी पृष्ठभूमि में "धागा काटने" और "अंगूठे काटने" जैसे लोककथात्मक उल्लेख प्रसिद्ध हुए, जो भारतीय कारीगरों की दारुण स्थिति के प्रतीक हैं।

कारीगरों के सामने न केवल आर्थिक, बल्कि सामाजिक संकट भी उत्पन्न हुआ। जो समुदाय शताब्दियों से सम्मानित थे, वे औपनिवेशिक समाज में निम्न समझे जाने लगे। उनके कौशल की उपेक्षा हुई, और नयी पीढ़ियों ने शिल्प व्यवसाय को त्यागना प्रारंभ किया। इससे पारंपरिक ज्ञान और तकनीक का हस्तांतरण रुक गया।

कई बुनकर जीविका की तलाश में कृषि या मजदूरी की ओर मुड़ गए। कुछ लोग औपनिवेशिक नील और चाय बागानों में बंधुआ मजदूर बन गए। वस्त्र उद्योग के पतन ने ग्रामीण अर्थव्यवस्था पर भी प्रतिकूल प्रभाव डाला, क्योंकि यह कृषि से जुड़ा हुआ था।

भारतीय समाज की यह व्यथा केवल आर्थिक नहीं थी, बल्कि सांस्कृतिक थी — एक ऐसी परंपरा का अंत जो भारतीय पहचान का अंग थी। शिल्प का पतन भारत की उस सृजनात्मक ऊर्जा को नष्ट कर गया जो सदियों तक उसके सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन की धुरी रही थी।

3.4.3 औद्योगिक क्रांति और भारतीय बाजार

18वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति ने उत्पादन और व्यापार की दुनिया को बदल दिया। मशीनों के प्रयोग ने उत्पादन को तीव्र, सस्ता और बड़े पैमाने पर करने योग्य बना दिया। ब्रिटेन की फैक्टरियों को नये बाजारों और कच्चे माल की आवश्यकता थी, और भारत इस उद्देश्य के लिए सबसे उपयुक्त उपनिवेश था। औद्योगिक क्रांति के बाद भारत को दोहरी भूमिका में बाँध दिया गया — एक, कच्चे माल का स्रोत और दो, तैयार माल का उपभोक्ता। भारतीय कपास और नील इंग्लैंड की मिलों में भेजे जाते थे, जहाँ से तैयार वस्त्र भारत में वापस लाए जाते। इस असंतुलित व्यापार ने भारतीय उद्योग को पूर्णतः निर्भर और कमजोर बना दिया।

ईस्ट इंडिया कंपनी और बाद में ब्रिटिश सरकार ने भारत में 'फ्री ट्रेड' के नाम पर ऐसी नीतियाँ लागू कीं जिनसे ब्रिटिश व्यापारियों को लाभ हुआ और भारतीय उद्योग असुरक्षित रहे। भारत की मुद्रा और राजस्व प्रणाली को इस व्यापारिक उद्देश्य से जोड़ा गया। रेलवे, डाक और टेलीग्राफ जैसी व्यवस्थाएँ भी मुख्यतः औपनिवेशिक व्यापार की सेवा में थीं।

औद्योगिक क्रांति का प्रभाव केवल आर्थिक नहीं बल्कि सामाजिक भी था। शहरी केंद्रों का स्वरूप बदला; नई औद्योगिक बस्तियाँ बनीं, परंतु उनका लाभ भारतीय जनता को नहीं मिला। भारत का श्रम, संसाधन और उत्पादन ब्रिटिश पूँजी की सेवा में लगा रहा।

इस प्रकार औद्योगिक क्रांति ने भारत को एक परनिर्भर उपनिवेश में बदल दिया। जहाँ पहले भारत उत्पादन और निर्यात का केंद्र था, वहीं अब वह विदेशी वस्त्रों का उपभोक्ता बन गया। यह परिवर्तन भारत की पारंपरिक अर्थव्यवस्था और सामाजिक संरचना पर गहरा आघात था, जिसने आगे चलकर राष्ट्रीय आंदोलन के आर्थिक विमर्श को जन्म दिया।

3.4.4 भारतीय औद्योगिक घरानों का उदय

औपनिवेशिक काल के उत्तरार्ध में, विशेष रूप से 19वीं और 20वीं शताब्दी के प्रारंभ में, भारत में कुछ भारतीय औद्योगिक घरानों का उदय हुआ। ब्रिटिश औपनिवेशिक नीतियों और वैश्विक व्यापार के दबाव के बावजूद कुछ व्यवसायिक परिवारों ने स्थानीय संसाधनों और श्रम का उपयोग कर छोटे और बड़े उद्योग स्थापित किए। सबसे पहले यह उदय बंगाल और पश्चिमी भारत के नगरों में दिखाई दिया, जहाँ बुनाई, जूट, कपड़ा, कागज़ और धातु उद्योगों में नवाचार हुआ।

जूट उद्योग में भारत के कलकत्ता (अब कोलकाता) क्षेत्र ने विशेष महत्व प्राप्त किया। बंगाल की जूट मिलों में भारतीय परिवारों ने ब्रिटिश एजेंसी हाउसों की तकनीकी मदद और बाजार संबंधों का उपयोग कर उत्पादन बढ़ाया। जूट उद्योग के आरंभिक चरण में विदेशी एजेंसी हाउसों की भूमिका निर्णायक थी। ये एजेंसी हाउस कच्चे माल की आपूर्ति, मशीनरी की खरीद और यूरोप तथा अमेरिका तक निर्यात में मध्यस्थ का कार्य करते थे।

कपड़ा उद्योग और सूती वस्त्र उद्योग में भी विदेशी एजेंसी हाउसों की सहायता से भारतीय व्यवसायियों ने प्रतिस्पर्धात्मक लाभ प्राप्त किया। अहमदाबाद, बंबई और मद्रास में भारतीय उद्योगपतियों ने स्थानीय कारीगरों और बुनकरों को संगठित किया। ब्रिटिश तकनीकी उपकरणों और मशीनरी का प्रयोग करके उत्पादन बढ़ाया गया, जबकि एजेंसी हाउसों ने वैश्विक बाजार तक पहुँच सुनिश्चित की।

हालाँकि, विदेशी एजेंसी हाउसों का एक बड़ा उद्देश्य भारतीय उद्योगों को नियंत्रित करना और लाभ को अपने हाथ में रखना भी था। भारतीय औद्योगिक घरानों को प्रारंभिक पूँजी, ऋण और बाजार प्रदान करने के बावजूद, उनकी स्वतंत्रता सीमित थी। इसके बावजूद, अनेक परिवारों ने अपने उद्यमों को स्थायित्व दिया और स्थानीय आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण योगदान किया।

जूट और सूती उद्योगों के उदय ने औपनिवेशिक भारत की अर्थव्यवस्था में नई दिशा दी। भारतीय औद्योगिक घरानों ने आधुनिक उद्योग और व्यापारिक संगठन की नींव रखी। इसके साथ ही, विदेशी एजेंसी हाउसों की सहायता और दबाव ने भारतीय उद्योगपतियों को वैश्विक व्यापार की समझ विकसित करने और आधुनिक प्रबंधन तकनीक अपनाने के लिए प्रेरित किया। इस प्रकार 3.4.4 में यह चरण भारतीय औद्योगिक घरानों की शुरुआती सफलता और वैश्विक संबंधों की संगति का प्रतीक है।

3.5 स्वतंत्रता संग्राम और भारतीय उद्योग

स्वतंत्रता संग्राम के दौरान भारतीय उद्योग और वाणिज्य ने न केवल आर्थिक बल्कि राष्ट्रीय चेतना के विकास में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। 19वीं और 20वीं शताब्दी में ब्रिटिश औपनिवेशिक नीतियों के कारण भारतीय उद्योग कमजोर हो गए थे, परंतु स्वतंत्रता आंदोलन ने स्वदेशी विचारधारा के तहत स्थानीय उत्पादन और उद्योगों को पुनर्जीवित करने का अवसर प्रदान किया। स्वदेशी आंदोलन के माध्यम से खादी, कपड़ा, हथकरघा और अन्य स्थानीय उद्योगों को बढ़ावा दिया गया।

खादी और हथकरघा उद्योग इस आंदोलन का सबसे प्रमुख प्रतीक बन गए। महात्मा गांधी ने खादी को राष्ट्रीय पहचान और आत्मनिर्भरता का प्रतीक बनाया। स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान खादी वस्त्रों का प्रयोग न केवल आर्थिक स्वावलंबन का माध्यम था, बल्कि ब्रिटिश वस्त्र उद्योग के प्रति विरोध भी प्रदर्शित करता था। यह आंदोलन ग्रामीण अर्थव्यवस्था में रोजगार उत्पन्न करने और कारीगरों की आर्थिक स्थिति सुधारने का भी माध्यम बना।

स्वदेशी आंदोलन ने भारतीय औद्योगिक घरानों को प्रोत्साहित किया। बंबई, कोलकाता, अहमदाबाद और अन्य नगरों के उद्योगपतियों ने स्वदेशी वस्त्रों और अन्य घरेलू उत्पादों के उत्पादन में निवेश बढ़ाया। इससे भारतीय उद्योगपतियों और व्यापारियों के बीच राष्ट्रीय एकता और आर्थिक आत्मविश्वास का विकास हुआ। उद्योगों में आधुनिक मशीनरी के प्रयोग और संगठनात्मक संरचना को सुधारकर उत्पादन क्षमता बढ़ाई गई।

इसके साथ ही, स्वतंत्रता संग्राम ने विदेशी व्यापार के संदर्भ में भी प्रभाव डाला। भारतीय उपभोक्ताओं ने ब्रिटिश निर्मित वस्त्रों और उत्पादों का बहिष्कार किया। ब्रिटिश कंपनियों और एजेंसी हाउसों पर इसका दबाव पड़ा और उन्होंने भारत में उत्पादन और व्यापार की नीति में बदलाव किए। यह आर्थिक संघर्ष स्वतंत्रता आंदोलन का एक अनिवार्य आयाम बन गया।

अतः स्वतंत्रता संग्राम ने भारतीय उद्योग और वाणिज्य को पुनर्जीवित करने, स्वदेशी विचारधारा को प्रोत्साहित करने और राष्ट्रीय पहचान के प्रतीक के रूप में उद्योगों को स्थापित करने में निर्णायक भूमिका निभाई। खादी, हथकरघा, स्थानीय बुनाई और उद्योगपतियों की पहल ने आधुनिक भारत के औद्योगिक विकास की नींव रखी और स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात औद्योगिक और वाणिज्यिक पुनर्निर्माण का मार्ग प्रशस्त किया।

3.6 स्वतंत्रता के बाद संरक्षण और पुनरुत्थान

स्वतंत्रता के पश्चात भारत ने अपनी सांस्कृतिक, औद्योगिक और शिल्प परंपराओं को संरक्षित करने और पुनर्जीवित करने के लिए कई नीतियाँ और संस्थाएँ विकसित की। स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान प्रोत्साहित स्वदेशी और खादी परंपरा अब एक औपचारिक सरकारी संरक्षण के अधीन आई। साथ ही, ग्रामीण उद्योग, हस्तशिल्प और शिल्पकला के पुनरुत्थान के लिए अनेक योजनाएँ चलाई गईं। इस काल ने भारतीय शिल्प और उद्योग को आधुनिक तकनीक और विपणन के माध्यम से पुनर्जीवित करने की दिशा निर्धारित की।

3.6.1 खादी एवं ग्रामोद्योग

स्वतंत्रता के बाद खादी और ग्रामोद्योग को औपचारिक सरकारी संरक्षण प्राप्त हुआ। खादी ग्रामोद्योग आयोग (Khadi and Village Industries Commission, KVIC) की स्थापना 1956 में हुई, जिसका उद्देश्य ग्रामीण उद्योगों को तकनीकी, वित्तीय और विपणन सहायता प्रदान करना था। खादी को रोजगार सृजन, ग्रामीण आत्मनिर्भरता और आर्थिक विकास का प्रमुख साधन माना गया।

ग्रामीण उद्योगों में कपड़ा, जूट, हस्तशिल्प, धातु और मिट्टी के बर्तन जैसे पारंपरिक उत्पाद शामिल थे। इन उद्योगों के माध्यम से ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार के अवसर उत्पन्न हुए और शिल्पकारों का कौशल संरक्षित हुआ। विशेष प्रशिक्षण कार्यक्रम और कारीगर केंद्र स्थापित किए गए ताकि नई पीढ़ी में परंपरागत कौशल का हस्तांतरण सुनिश्चित हो सके।

खादी और ग्रामोद्योग का आधुनिक विपणन राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर किया गया। प्रदर्शनी, मेलों और ऑनलाइन बिक्री के माध्यम से उत्पादों को व्यापक पहचान मिली। इससे न केवल आर्थिक लाभ हुआ, बल्कि भारतीय शिल्प की वैश्विक दृश्यता भी बढ़ी।

सरकारी नीतियों ने कारीगरों और छोटे उद्योगपतियों को ऋण और अनुदान के माध्यम से समर्थ बनाया। ग्रामीण उद्योगों की गुणवत्ता, डिजाइन और उत्पादन क्षमता में सुधार के लिए तकनीकी सहयोग प्रदान किया गया।इस प्रकार खादी और ग्रामोद्योग स्वतंत्रता के बाद भारतीय शिल्प परंपरा के पुनरुत्थान और ग्रामीण विकास के केन्द्र बन गए। ये उद्योग आज भी आर्थिक, सांस्कृतिक और पर्यावरणीय दृष्टि से भारत की पहचान का महत्वपूर्ण हिस्सा हैं।

3.6.2 हस्तशिल्प बोर्ड और सहकारी समितियाँ

स्वतंत्रता के बाद हस्तशिल्प और शिल्पकारों के संरक्षण के लिए अनेक राज्य और राष्ट्रीय स्तर के बोर्ड और सहकारी समितियाँ स्थापित की गईं। राष्ट्रीय हस्तशिल्प बोर्ड की स्थापना 1952 में हुई, जिसका उद्देश्य शिल्पकला का

संरक्षण, कारीगरों की आर्थिक सहायता और उत्पादों के विपणन को सुनिश्चित करना था। राज्य स्तर पर भी हस्तशिल्प बोर्डों और विकास निगमों का गठन किया गया। उदाहरणस्वरूप, गुजरात, राजस्थान, उत्तर प्रदेश और कर्नाटक में बोर्डों ने स्थानीय शिल्प के लिए विशेष प्रशिक्षण, डिजाइन विकास और विपणन योजना विकसित की। इन संस्थाओं ने शिल्प उद्योग को संगठित रूप देने और कारीगरों की सामाजिक स्थिति सुधारने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। सहकारी समितियों ने छोटे और मध्यम उद्योगों को आर्थिक सहयोग, कच्चा माल, उपकरण और बिक्री नेटवर्क उपलब्ध कराया। कारीगरों को संयुक्त प्रयास के माध्यम से बाजार तक पहुँचने का अवसर मिला, जिससे उनके उत्पादों का मूल्य और बिक्री में वृद्धि हुई।

हस्तशिल्प बोर्ड और सहकारी समितियों ने प्रतियोगिता, प्रदर्शनी और राष्ट्रीय/अंतरराष्ट्रीय मेलों के माध्यम से कारीगरों के कौशल और उत्पादों की मान्यता बढ़ाई। इस पहल ने शिल्प उद्योग को केवल ग्रामीण रोजगार तक सीमित नहीं रखा, बल्कि राष्ट्रीय और वैश्विक पहचान भी दी।

इस प्रकार, बोर्ड और सहकारी समितियाँ स्वतंत्रता के बाद शिल्प उद्योग के संरक्षक और प्रवर्तक के रूप में उभरीं। इनकी सहायता से पारंपरिक कारीगरी जीवित रही और आधुनिक विपणन एवं तकनीकी सहयोग के साथ शिल्प उद्योग का पुनरुत्थान संभव हुआ।

3.6.3 GI टैग और आधुनिक विपणन

वर्तमान काल में भारतीय शिल्प और हस्तशिल्प की वैश्विक पहचान बढ़ाने के लिए GI (Geographical Indication) टैग का प्रयोग किया गया। GI टैग किसी विशेष भौगोलिक क्षेत्र की विशिष्ट वस्तु की गुणवत्ता और प्रतिष्ठा की पहचान करता है। यह कारीगरों को उनके अधिकार सुरक्षित करने और उत्पाद की कीमत बढ़ाने में सहायक है। राजस्थान के जयपुर पट्टे, वाराणसी की बनारसी सिल्क, कच्छ की हैंडीक्राफ्ट और कोलकाता की जूट वस्तुएँ कुछ प्रमुख GI टैग प्राप्त उत्पाद हैं। GI टैग से न केवल उत्पाद की प्रामाणिकता सुरक्षित होती है, बल्कि यह अंतरराष्ट्रीय बाजार में भारत के शिल्प की विश्वसनीयता भी बढ़ाता है। आधुनिक विपणन तकनीक के माध्यम से भारतीय शिल्प अब ऑनलाइन प्लेटफ़ॉर्म, अंतरराष्ट्रीय प्रदर्शनी और इ-कॉमर्स के जरिए वैश्विक स्तर पर बिकते हैं। सोशल मीडिया, डिज़ाइन और ब्रांडिंग की सहायता से शिल्पकला को नए उपभोक्ताओं तक पहुँचाया जा रहा है।

सरकारी और निजी संस्थाएँ कारीगरों के प्रशिक्षण, डिज़ाइन सुधार, गुणवत्ता नियंत्रण और मार्केटिंग रणनीति में सक्रिय हैं। इससे शिल्प उद्योग के उत्पादक और विक्रेता दोनों को लाभ होता है और उद्योग की सतत वृद्धि सुनिश्चित होती है।

इस प्रकार GI टैग और आधुनिक विपणन के माध्यम से स्वतंत्रता के बाद भारत ने अपनी सांस्कृतिक, औद्योगिक और शिल्प विरासत को संरक्षित करने के साथ-साथ वैश्विक पहचान भी दी। यह कदम पारंपरिक कौशल और आधुनिक तकनीक के संतुलन का उत्कृष्ट उदाहरण है।

3.7 नेहरूवादी समाजवाद और उदारीकरण

स्वतंत्रता के बाद भारतीय अर्थव्यवस्था ने नेहरूवादी समाजवाद (Nehruvian Socialism) की दिशा में कदम बढ़ाया। इसका उद्देश्य था देश को औद्योगिक और कृषि दोनों क्षेत्रों में आत्मनिर्भर बनाना और सामाजिक असमानता को कम करना। सरकारी नियोजन के माध्यम से आर्थिक विकास, औद्योगिक आधार का सृजन और ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार सृजन पर विशेष ध्यान दिया गया। इस नीति के अंतर्गत बड़े उद्योग, सार्वजनिक क्षेत्र और रणनीतिक उद्योग सीधे राज्य के नियंत्रण में आए।

नेहरूवादी समाजवाद ने ग्रामीण उद्योग और हस्तशिल्प के संरक्षण पर भी जोर दिया। खादी, ग्रामोद्योग और सहकारी समितियों को प्रोत्साहित किया गया। इस नीति का उद्देश्य पारंपरिक कौशल का संरक्षण और ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार सृजन था। साथ ही, औद्योगिक विकास के साथ सामाजिक न्याय और आर्थिक समानता को सुनिश्चित करने का प्रयास किया गया।

1970–80 के दशकों में आर्थिक विकास की गति धीमी और केंद्रीकृत योजना मॉडल से सीमित रही। इसी दौरान उदारीकरण (Liberalization) की चर्चा शुरू हुई, जिसका उद्देश्य था भारतीय अर्थव्यवस्था को वैश्विक बाजारों से जोड़ना और निजी क्षेत्र को प्रोत्साहित करना। उदारीकरण ने विदेशी निवेश, निजी उद्यम और अंतरराष्ट्रीय व्यापार के अवसर बढ़ाए। 1991 में औपचारिक उदारीकरण (Economic Liberalization) के बाद भारतीय उद्योग और व्यापार ने वैश्विक प्रतिस्पर्धा के अनुरूप ढांचा अपनाया। सरकारी नियंत्रण कम हुआ, विदेशी कंपनियों को बाजार में प्रवेश मिला और निजी क्षेत्र को विकास के लिए स्वतंत्रता दी गई। इसके परिणामस्वरूप उत्पादन, नवाचार और विपणन में नई प्रवृत्तियाँ विकसित हुईं।

नेहरूवादी समाजवाद और बाद का उदारीकरण दोनों ने भारतीय उद्योग और वाणिज्य को अलग-अलग दृष्टिकोण से प्रभावित किया। नेहरूवादी समाजवाद ने आर्थिक संरचना और सामाजिक सुरक्षा पर जोर दिया, जबकि उदारीकरण ने वैश्विक प्रतिस्पर्धा और बाजार विस्तार को प्रोत्साहित किया। इन दोनों कालों ने स्वतंत्रता के बाद भारतीय उद्योग, व्यापार और शिल्प के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

3.8 सारांश

इस इकाई में हमने भारत की मूर्त सांस्कृतिक विरासत के औद्योगिक, वाणिज्यिक और शिल्प उत्पादन पर विस्तार से अध्ययन किया। हमने देखा कि प्राचीन काल में व्यापारिक गतिविधियाँ और शिल्पकला समाज और अर्थव्यवस्था के अभिन्न अंग थीं। गुप्त और गुप्तोत्तर काल में शिल्प और वाणिज्य का उत्कर्ष हुआ, जहाँ मूर्तिकला, धातुकर्म, वस्त्र और नगर जीवन आर्थिक और सांस्कृतिक प्रगति का प्रतीक बने।

मध्यकालीन भारत में दिल्ली सल्तनत और मुगल काल में शिल्प उद्योग और वाणिज्य ने नई ऊँचाइयाँ प्राप्त कीं। अंतरराष्ट्रीय व्यापार ने भारतीय शिल्प और वस्त्रों को विश्व स्तर पर पहचान दिलाई। औपनिवेशिक काल में ब्रिटिश नीतियों ने भारतीय उद्योग को कमजोर किया, लेकिन स्वतंत्रता आंदोलन ने स्वदेशी और खादी परंपरा के माध्यम से उद्योग और वाणिज्य में पुनरुत्थान की दिशा दी।

स्वतंत्रता के बाद सरकार ने खादी एवं ग्रामोद्योग आयोग, हस्तशिल्प बोर्ड और सहकारी समितियों के माध्यम से शिल्प और उद्योग को संरक्षित और पुनर्जीवित किया। GI टैग और आधुनिक विपणन तकनीकों के माध्यम से भारतीय शिल्प को अंतरराष्ट्रीय स्तर पर पहचान मिली। इस प्रकार, इकाई ने भारतीय शिल्प और वाणिज्य की ऐतिहासिक निरंतरता, संकट और पुनरुत्थान की कहानी को समग्र रूप में प्रस्तुत किया।

3.9 मुख्य शब्दावली

1. शिल्प (Crafts): कला और कौशल के माध्यम से बनाई गई वस्तुएँ।
2. वाणिज्य (Commerce): वस्तुओं और सेवाओं का विनिमय और व्यापार।
3. स्वदेशी आंदोलन (Swadeshi Movement): विदेशी वस्त्र और उत्पादों का बहिष्कार कर स्थानीय उद्योग को प्रोत्साहित करना।
4. खादी (Khadi): हथकरघा से निर्मित सूती वस्त्र।
5. ग्रामोद्योग (Village Industries): ग्रामीण क्षेत्रों में स्थापित छोटे उद्योग।
6. सहकारी समिति (Cooperative Society): व्यापार या उद्योग के लिए सामूहिक संगठन।

7. GI टैग (Geographical Indication Tag): किसी क्षेत्र की विशिष्ट वस्तु की गुणवत्ता और पहचान का प्रमाण।

3.11 संदर्भ ग्रंथ

Thapar, Romila. Early India: From the Origins to AD 1300. University of California Press, 2002.

Eaton, Richard M. India in the Persianate Age: 1000–1765. Primus Books, Delhi, 2019.

Michell, George. The Hindu Temple: An Introduction to Its Meaning and Forms. University of Chicago Press, 1988.

Chaudhuri, K.N. Trade and Civilization in the Indian Ocean. Cambridge University Press, 1985.

Agrawal, O.P. Handicrafts and Industrial Arts of India. New Delhi: National Book Trust, 2005.

Rizvi, S.A.A. The Wonder That Was India, Volume II: Mughal India. Rupa Publications, Delhi, 2008.

8. Habib, Irfan. Medieval India: The Study of a Civilization. National Book Trust, India, 2006.

Chaudhuri, K.N. The Trading World of Asia and the English East India Company, 1660–1760. Cambridge University Press, 1978.

10. Ray, Indrajit. Colonial Economy and Indian Handicrafts. Calcutta University Press, 1985.

Thorner, Daniel. Economic History of India under British Rule. Allied Publishers, 1975.

Khadi & Village Industries Commission (KVIC) Reports, Government of India.
2010.

इकाई चार

भारत की अमूर्त सांस्कृतिक विरासत — पारम्परिक पाक शैली

इकाई की संरचना

4.0 परिचय

4.1 उद्देश्य

4.2 भारत की पाक परंपराएँ : एक ऐतिहासिक अवलोकन

4.3 क्षेत्रीय विविधता और सांस्कृतिक पहचान

4.4 भारतीय पाक परम्परा के कुछ आयाम

4.4.1 धार्मिक अनुष्ठान, त्योहार और भोजन संस्कृति

4.4.2 भारतीय पाक परंपरा में सामाजिकता और सांस्कृतिक विविधता

4.4.3 भारतीय पाक परंपरा और पर्यावरणीय स्थिरता

4.4.4 भारतीय पाक परंपरा का वैश्वीकरण और समकालीन परिप्रेक्ष्य

4.5 शाही रसोई परंपरा : मुगल, राजपूत और दक्षिण भारतीय दरबारों में भोजन

4.6 लोक जीवन में भोजन : ग्रामीण और आदिवासी समुदायों की पाक विधियाँ

4.7 औपनिवेशिक काल और भोजन में परिवर्तन

4.8 स्वतंत्रता के बाद भारतीय भोजन का पुनरुत्थान और वैश्विक प्रसार

4.9 आधुनिकता, बाज़ार और पारम्परिक भोजन का संरक्षण

4.10 सारांश

4.11 मुख्य शब्दावली

4.12 निबंधात्मक प्रश्न

4.13 संदर्भ ग्रंथ

4.0 परिचय

क्या आपको पता है, भारत के हर नुक्कड़ या गली में मिलने वाले चाय-समोसे की कहानी क्या है और यह किस तरह से भारत की परंपरा का अभिन्न हिस्सा है? भले ही अपने शुरुआती रंग-रूप में ये भारत से बाहर से आए हों, लेकिन भारत में इन्होंने अपना एक अलग ही रंग गढ़ लिया। चाय की पत्तियाँ चीन से पहली बार भारत में आईं और भारत में इसमें दूध का रंग इस तरह घुल गया कि अब अधिकतर भारतीय बिना दूध के चाय की कल्पना भी नहीं कर सकते और समोसे में कीमे की जगह आलू ऐसा घुस गया कि जब तक समोसे में यह रहेगा, तब तक दुनिया रहेगी, ऐसा मान लिया गया है। भारत में भोजन की परंपरा न केवल भारत की विविधता की कहानी कहती है बल्कि समय-समय पर होने वाले बदलावों को भी हमारे सामने रखती है।भारत की अमूर्त सांस्कृतिक विरासत में भोजन और पाक परंपरा एक जीवित सांस्कृतिक अभिव्यक्ति है। भारतीय समाज में भोजन केवल जीवन निर्वाह का साधन नहीं, बल्कि यह सामाजिक संरचना, धार्मिक विश्वास, क्षेत्रीय विविधता और ऐतिहासिक अनुभवों का सम्मिलित प्रतीक है। यहाँ भोजन को "अन्न देवता" कहा गया है — अर्थात् अन्न को पवित्र और जीवनी शक्ति का स्रोत माना गया है। इस दृष्टि से भारत की पारम्परिक पाक शैली संस्कृति, धर्म और लोक जीवन के गहन संवाद की वाहक है।

भारतीय भोजन की परंपरा का इतिहास अत्यंत प्राचीन है। सिंधु सभ्यता के अवशेषों में गेहूँ, जौ, तिल और चावल जैसे अन्नों का उपयोग मिलता है, जो दर्शाता है कि भारत में भोजन उत्पादन और पाक कला दोनों का विकास हज़ारों वर्ष पहले से हो रहा था। वैदिक काल में भोजन को धार्मिक आचार और अनुष्ठानों का अभिन्न हिस्सा माना गया। "अन्नं ब्रह्मेति" (अन्न ही ब्रह्म है) की अवधारणा भारतीय दर्शन में भोजन के आध्यात्मिक और सांस्कृतिक महत्त्व को स्पष्ट करती है।

मौर्य, गुप्त और मध्यकालीन काल में भोजन परंपरा में न केवल विविधता आई, बल्कि विदेशी प्रभावों ने इसे समृद्ध भी किया। ईरानी, तुर्क और अरब प्रभावों से भारतीय रसोई में मसालों, मांसाहारी व्यंजनों और मिठाइयों की नई शैलियाँ विकसित हुईं। इस काल में भोजन केवल एक घरेलू क्रिया नहीं, बल्कि राजसी वैभव और सांस्कृतिक प्रदर्शन का प्रतीक बन गया। मुगल दरबारों की शाही रसोईयाँ, राजपूतों के भोज और दक्षिण भारतीय मंदिरों के प्रसाद इस सांस्कृतिक विकास के प्रमाण हैं।

भारत की पाक परंपरा की एक विशेषता इसकी क्षेत्रीय विविधता है। हिमालय से लेकर समुद्र तट तक, और पश्चिमी मरुस्थल से लेकर पूर्वोत्तर के हरे-भरे इलाकों तक, प्रत्येक क्षेत्र की अपनी विशिष्ट खाद्य पहचान है। स्थानीय कृषि, जलवायु, मसाले, धार्मिक परंपराएँ और सामाजिक वर्ग संरचनाएँ भोजन की विविधता को आकार देती हैं। इसीलिए भारत का भोजन क्षेत्रीय पहचान, स्थानीय पारिस्थितिकी और सांस्कृतिक स्मृति का जीवंत दस्तावेज़ है।

आज के युग में, जब वैश्वीकरण और फास्ट-फूड संस्कृति तेजी से फैल रही है, भारतीय पारम्परिक भोजन शैली का संरक्षण एक चुनौती और आवश्यकता दोनों बन गया है। यूनेस्को द्वारा अमूर्त सांस्कृतिक विरासत के संरक्षण पर बल देने के साथ-साथ भारत सरकार ने भी स्थानीय पाक शैलियों, पारम्परिक व्यंजनों और खान-पान से जुड़ी लोक

परंपराओं को संरक्षित करने के प्रयास किए हैं। इस इकाई में हम भारतीय पाक शैली की ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और सामाजिक यात्रा को समझेंगे — प्राचीन काल से लेकर आधुनिक युग तक।

4.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद ये कर पाएँगे:

1. भारतीय पारंपरिक पाक परंपरा के ऐतिहासिक, सामाजिक और सांस्कृतिक आयामों को समझना।
2. शाही रसोई परंपराएँ—मुगल, राजपूत और दक्षिण भारतीय दरबारों की पाक शैली और उसकी विशेषताओं का विश्लेषण करना।
3. ग्रामीण और आदिवासी समुदायों में भोजन की भूमिका और पाक विधियों की विविधता का मूल्यांकन करना।
4. औपनिवेशिक काल के प्रभाव और स्वतंत्रता के बाद भोजन के पुनरुत्थान व वैश्विक प्रसार के कारणों को पहचानना।
5. आधुनिक बाजार, वैश्वीकरण और तकनीकी नवाचार के संदर्भ में पारंपरिक भोजन के संरक्षण और विकास की रणनीतियाँ समझना।
6. भारतीय पाक परंपरा को अमूर्त सांस्कृतिक विरासत के रूप में उसकी सामाजिक, पर्यावरणीय और सांस्कृतिक भूमिका के साथ जोड़कर मूल्यांकन करना।

4.2 भारत की पाक परंपराएँ: एक ऐतिहासिक अवलोकन

भारतीय पाक परंपराएँ सभ्यता के विकास के साथ-साथ निरंतर रूप से समृद्ध होती रही हैं। सिंधु घाटी सभ्यता के पुरातात्त्विक अवशेषों से यह ज्ञात होता है कि वहाँ अनाज, दालें, तिलहन, फल-सब्जियाँ और मसालों का प्रयोग होता था। मिट्टी के बर्तनों और ताम्रपात्रों के अवशेष यह संकेत देते हैं कि भोजन पकाने की तकनीक और विविधता दोनों विकसित हो चुकी थीं। इस काल में भोजन स्थानीय कृषि और मौसमी संसाधनों पर आधारित था, जो आज भी भारत के ग्रामीण समाज की एक स्थायी विशेषता है।

वैदिक युग में भोजन धार्मिक और सामाजिक जीवन का केंद्र था। "यज्ञ" में अन्न, घी, दूध और फल जैसी सामग्रियों का प्रयोग देवताओं को प्रसन्न करने के लिए किया जाता था। ऋग्वेद और अथर्ववेद में भोजन को 'जीवन का आधार' कहा गया है। इस काल में शाकाहार और मांसाहार दोनों विद्यमान थे, किंतु धीरे-धीरे ब्राह्मणवादी परंपरा

के प्रभाव से शाकाहार को अधिक पवित्र माना जाने लगा। भोजन के माध्यम से समाज में वर्ण, आश्रम और लिंग आधारित भूमिकाओं की भी अभिव्यक्ति होती थी।

मौर्य और गुप्त काल में कृषि विस्तार और व्यापारिक समृद्धि के कारण भोजन संस्कृति अधिक विकसित हुई। राजकीय भोज, मंदिरों में महाप्रसाद, और नगरों में भोजनालयों का उल्लेख साहित्य और अभिलेखों में मिलता है। इस काल में मसालों का प्रयोग बढ़ा और भारतीय व्यंजनों की सुवास और स्वाद की ख्याति दूर देशों तक पहुँची। विदेशी यात्रियों — जैसे मेगस्थनीज, फाह्यान और युवानच्वांग — ने भारतीय भोजन की विविधता और पौष्टिकता की प्रशंसा की है।

मध्यकाल में भारतीय पाक परंपरा में फारसी, तुर्की और अफगानी प्रभाव गहराई से जुड़े। मुगल काल में रसोई एक कला और विज्ञान दोनों बन गई। बिरयानी, पुलाव, कबाब, खिचड़ी, शीरमाल और विविध प्रकार की मिठाइयाँ इसी युग में विकसित हुईं। इस काल में 'दावत' और 'जश्न' का अर्थ केवल भोज नहीं, बल्कि एक सांस्कृतिक आयोजन था जिसमें भोजन सामाजिक संबंधों का माध्यम बनता था। दक्षिण भारत के मंदिरों में नैवेद्य और उत्तर भारत के राजमहलों में शाही दावतें दोनों ही पाक-परंपरा की ऊँचाई के उदाहरण हैं।

औपनिवेशिक युग में भारतीय पाक परंपराओं पर यूरोपीय प्रभाव पड़ा। पुर्तगालियों द्वारा मिर्च, टमाटर और आलू जैसे नये खाद्य पदार्थ भारत में आए, जिन्होंने भारतीय व्यंजनों के स्वाद और रंग को नया आयाम दिया। अंग्रेज़ी शासन के दौरान 'क्लब संस्कृति' और 'टी-टाइम' जैसी आदतें भी विकसित हुईं, जो बाद में शहरी मध्यवर्ग में स्थायी रूप से बस गईं। इस प्रकार भारतीय पाक परंपराएँ सदियों के सांस्कृतिक समागम की साक्षी हैं — जो आज भी लोक-जीवन, धर्म, क्षेत्रीयता और वैश्विकता के बीच एक सेतु का कार्य करती हैं।

4.3 भारतीय पाक परंपरा के क्षेत्रीय रूप

भारत की पाक परंपरा उसकी भौगोलिक विविधता और सांस्कृतिक बहुलता का प्रतिबिंब है। हिमालय से लेकर तटीय प्रदेशों तक, थार मरुस्थल से लेकर गंगा के उपजाऊ मैदानों तक, प्रत्येक क्षेत्र की अपनी विशिष्ट खाद्य-संस्कृति रही है। यह विविधता केवल स्वाद और पकाने के तरीकों में ही नहीं, बल्कि धार्मिक आस्थाओं, जलवायु, और उपलब्ध प्राकृतिक संसाधनों में भी निहित है। उत्तर भारत में गेहूँ आधारित व्यंजन प्रमुख हैं, जबकि दक्षिण भारत में चावल और नारियल का विशेष स्थान है।

उत्तर भारत की पाक परंपरा मुगल और राजपूत प्रभावों से गहराई से जुड़ी हुई है। यहाँ तंदूर में पकाए जाने वाले व्यंजन जैसे तंदूरी रोटी, नान, कबाब और बिरयानी प्रसिद्ध हैं। उत्तर प्रदेश और पंजाब की रसोई में घी, दालें, और मसालों का प्रयोग भरपूर मात्रा में होता है। काशी और मथुरा जैसे तीर्थ नगरों में शुद्ध शाकाहारी भोजन की परंपरा है, जिसमें कचौड़ी, पुरी-सब्जी और मालपुआ विशेष हैं। वहीं कश्मीर की 'वाज़वान' शैली अपनी भव्यता और विविध

मांसाहारी व्यंजनों के लिए प्रसिद्ध है।

दक्षिण भारत की पाक परंपरा में चावल, नारियल, इमली और करी पत्ते प्रमुख भूमिका निभाते हैं। इडली, डोसा, उत्तपम, सांभर और रसम केवल भोजन नहीं, बल्कि एक संतुलित और पौष्टिक आहार का प्रतीक हैं। केरल की 'सद्या' भोज परंपरा, केले के पत्ते पर परोसे जाने वाले विविध शाकाहारी व्यंजनों के लिए जानी जाती है। तमिलनाडु और आंध्र प्रदेश की पाक परंपरा में मसालों का तीखापन और स्वाद की विविधता एक प्रमुख विशेषता है, जबकि कर्नाटक में बिसीबेळे भात और मैसूर पाक जैसी डिशें स्थानीय पहचान का प्रतीक हैं।

पूर्वोत्तर भारत में बांस की कोपलें, मछली, और स्थानीय जड़ी-बूटियों का विशेष स्थान है। यहाँ की भोजन शैली अपेक्षाकृत सरल और पौष्टिक होती है। असम का खार, नागालैंड की स्मोक्ड मीट डिशेज़ और मणिपुर का इरॉम्बा जैसे व्यंजन स्थानीय प्रकृति और संस्कृति का प्रतीक हैं। इस क्षेत्र की पाक परंपरा में सामुदायिक भोज का विशेष महत्व है, जो सामाजिक एकता और पारिवारिक बंधन को प्रकट करता है।

पश्चिम भारत में गुजराती, महाराष्ट्रीय और राजस्थानी भोजन का अपना अनूठा स्थान है। गुजरात का ढोकला, हांडवो और थेपला जहाँ स्वाद और स्वास्थ्य का संतुलन दिखाते हैं, वहीं राजस्थान का दाल-बाटी-चूरमा और गट्टे की सब्जी मरुस्थलीय जीवन की अनुकूलता का उदाहरण हैं। महाराष्ट्र का पोहे, पुरण पोली और वडापाव शहरी और ग्रामीण दोनों समाजों में लोकप्रिय हैं। पश्चिमी तटीय क्षेत्रों में गोअन और कोंकणी व्यंजन—विशेषकर नारियल और समुद्री मछलियों पर आधारित—भारतीय और पुर्तगाली स्वादों का संगम प्रस्तुत करते हैं।

पूर्वी भारत, विशेषकर बंगाल, ओडिशा और बिहार, अपने विविध मिठाइयों और मछली व्यंजनों के लिए प्रसिद्ध हैं। रसगुल्ला, संदेश, मिष्टी दोई और माछ-भात यहाँ की पाक पहचान हैं। बंगाल और ओडिशा के मंदिरों में प्रसाद के रूप में तैयार होने वाले व्यंजन—जैसे पुरी का महाप्रसाद—धार्मिकता और पाक कला के गहरे संबंध को प्रकट करते हैं। इस प्रकार भारत की क्षेत्रीय पाक परंपराएँ केवल स्वाद का नहीं, बल्कि सामाजिक, धार्मिक और पारिस्थितिक विविधता का जीवंत दस्तावेज़ हैं।

4.4 भारतीय पाक-परम्परा के कुछ आयाम

हम इस खंड में हम भारतीय परंपरा में भोजन और धर्म, अनुष्ठान और सामाजिकता के बीच संबंधों के विभिन्न आयामों पर चर्चा करेंगे।

4.4.1 भारतीय पाक परंपरा में धार्मिकता और अनुष्ठान

भारतीय संस्कृति में भोजन केवल पोषण का साधन नहीं, बल्कि एक संस्कार है। भोजन की तैयारी, परोसने की विधि और ग्रहण करने की प्रक्रिया – इन सबमें धार्मिकता और अनुष्ठानिकता गहराई से जुड़ी हुई है। अन्नं ब्रह्मेति —अन्न ही ब्रह्म है—यह वैदिक उद्घोषणा भारतीय समाज में भोजन की पवित्रता का प्रतीक है। अधिकांश धार्मिक अनुष्ठानों में अन्न, फल, घी, दूध और मिठाइयों का प्रयोग 'नैवेद्य' या 'भोग' के रूप में किया जाता है। यह मान्यता रही है कि भोजन पहले देवता को अर्पित करने से वह 'प्रसाद' बन जाता है, जो केवल आहार नहीं, बल्कि आशीर्वाद का प्रतीक होता है।

हिंदू धर्म में प्रत्येक पर्व या व्रत के साथ विशेष प्रकार के भोजन का संबंध देखा जाता है। नवरात्र में फलाहार, एकादशी पर अनाज-वर्जन, होली पर गुजिया और दिवाली पर लड्डू—ये सब धार्मिकता और आनंद का मिश्रण हैं। दक्षिण भारत के मंदिरों में महाप्रसादम और उत्तर भारत में भोग-प्रसाद की परंपरा आज भी जीवंत है। जगन्नाथ पुरी, मदुरै, तिरुपति और काशी जैसे तीर्थस्थलों पर मंदिर रसोई केवल धर्म का नहीं, बल्कि सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन का भी केंद्र है। मंदिरों की ये रसोइयाँ सामुदायिक एकता और सेवा का प्रतीक हैं।

जैन और बौद्ध परंपराओं में भोजन की भूमिका संयम, करुणा और अहिंसा के सिद्धांतों से जुड़ी हुई है। जैन साधक सूर्यास्त के बाद भोजन नहीं करते, और जीव-हिंसा से रहित भोजन ही ग्रहण करते हैं। वहीं बौद्ध भिक्षुओं का 'पिंडदान' और 'भोजन-संयम' जीवन में संतुलन और आत्मनियंत्रण के आदर्श को व्यक्त करता है। विनय-पिटक और धम्मपद जैसे ग्रंथों में भोजन को तप और साधना के एक अंग के रूप में देखा गया है। इन परंपराओं ने भारतीय समाज में सादगी, शुद्धता और संयमित आहार की संस्कृति को गहराई से स्थापित किया।

इस्लामी परंपरा में भोजन 'बरकत' और 'शुक्र' का प्रतीक है। रमज़ान के महीने में इफ्तार और सेहरी केवल उपवास की पूर्ति नहीं, बल्कि सामाजिक मेल-जोल का अवसर होते हैं। मुहर्रम, ईद और अन्य धार्मिक अवसरों पर शीरखुरमा, बिरयानी और हलीम जैसे व्यंजन न केवल स्वाद बल्कि एक सामुदायिक पहचान का हिस्सा हैं। इस्लामी दावतों में सभी वर्गों का सम्मिलन एकता और समानता के सिद्धांतों को मजबूत करता है।

सिख परंपरा में 'लंगर' की प्रथा विश्व में सामुदायिक भोजन की सबसे बड़ी परंपराओं में से एक है। गुरु नानक ने 'लंगर' को समानता और सेवा के प्रतीक के रूप में स्थापित किया, जहाँ जाति, धर्म और लिंग का कोई भेद नहीं होता। यह परंपरा आज भी गुरुद्वारों में प्रतिदिन लाखों लोगों को भोजन प्रदान करती है। इसी प्रकार, ईसाई धर्म में कम्यूनियन या ब्रेड-एंड-वाइन का प्रतीकात्मक महत्व है, जो ईसा मसीह के बलिदान और करुणा की स्मृति से जुड़ा है। इस तरह भारतीय पाक परंपराएँ विभिन्न धर्मों की सहअस्तित्व भावना को मूर्त रूप देती हैं — जहाँ भोजन भक्ति, सेवा और एकता का माध्यम बन जाता है।

4.4.2 भारतीय पाक परंपरा में सामाजिकता और सांस्कृतिक विविधता

भारतीय पाक परंपरा केवल स्वाद की विविधता नहीं, बल्कि समाज की विविध संरचनाओं का जीवंत प्रतीक है। यहाँ भोजन सामाजिक संबंधों, पारिवारिक एकता और सामुदायिक जीवन का केंद्र रहा है। ग्रामीण भारत में आज भी भोजन सामूहिक रूप से ग्रहण करने की परंपरा जीवित है—जहाँ एक ही थाली में सबका सम्मिलन समानता और सहयोग की भावना को प्रकट करता है। विवाह, त्यौहार, श्राद्ध या फसल उत्सव जैसे अवसरों पर सामूहिक भोज का आयोजन सामाजिक समरसता का माध्यम रहा है। भोजन भारतीय समाज में केवल एक जैविक आवश्यकता नहीं, बल्कि सामाजिक अनुशासन और सांस्कृतिक एकजुटता का प्रतीक है।

जाति और समुदाय आधारित भोजन की परंपराओं ने भी भारतीय समाज की जटिलता को आकार दिया। यद्यपि अतीत में जातिगत प्रतिबंधों ने भोजन को सीमाओं में बाँधा—जैसे 'किसके हाथ का बना भोजन खाया जा सकता है'—फिर भी समय के साथ यह ढाँचा धीरे-धीरे लचीला हुआ। शहरीकरण, औद्योगिकीकरण और प्रवास ने भोजन को सामाजिक गतिशीलता का माध्यम बना दिया। अब एक ही शहर में उत्तर भारतीय, दक्षिण भारतीय, बंगाली और पंजाबी व्यंजन समान रूप से उपलब्ध हैं—यह परिवर्तन भारतीय समाज की बहुलतावादी भावना को दर्शाता है।

भारत के विभिन्न समुदायों की सांस्कृतिक परंपराएँ उनके भोजन से गहराई से जुड़ी हुई हैं। उदाहरण के लिए, गुजरात में जैन धर्म के प्रभाव से शाकाहारी भोजन प्रमुख है, जबकि बंगाल में मछली और चावल दैनिक आहार का हिस्सा हैं। इसी प्रकार, उत्तर-पूर्व भारत में बांस, सुअर-मांस और स्थानीय सब्जियाँ भोजन का अंग हैं, जबकि दक्षिण भारत में नारियल, इमली और चावल का उपयोग सर्वत्र होता है। यह क्षेत्रीय विविधता भारतीय भोजन को केवल स्वाद में ही नहीं, बल्कि पहचान और संवेदना के स्तर पर भी बहुरंगी बनाती है।

सामाजिकता के संदर्भ में भारतीय भोजन आतिथ्य की संस्कृति को भी पुष्ट करता है। "अतिथि देवो भव" की भावना हर भारतीय रसोई की आत्मा रही है। घर में आए मेहमान के लिए विशेष पकवान बनाना, भोजन के बाद मिठाई या पान परोसना, और तीज-त्योहारों पर पड़ोसियों को आमंत्रित करना—ये सभी आदतें भारतीय सामाजिक जीवन की गहराई को प्रकट करती हैं। भोजन केवल पेट भरने का माध्यम नहीं, बल्कि संबंधों को निभाने और आत्मीयता व्यक्त करने का तरीका है।

भारतीय भोजन की सांस्कृतिक विविधता आज वैश्विक स्तर पर भी सराही जा रही है। भारत के बाहर बसे प्रवासी समुदायों ने अपने पारंपरिक व्यंजनों को दुनिया के विभिन्न हिस्सों में लोकप्रिय बनाया है। लंदन, न्यूयॉर्क, दुबई, सिंगापुर या टोरंटो में भारतीय रेस्तराँ केवल व्यंजन नहीं परोसते, बल्कि भारतीय संस्कृति का अनुभव कराते हैं। इस प्रकार भारतीय पाक परंपरा वैश्विक मंच पर सॉफ्ट पावर के रूप में उभर रही है—जो सामाजिकता, समावेशिता और सांस्कृतिक समृद्धि का संदेश देती है।

4.4.3 भारतीय पाक परंपरा और पर्यावरणीय स्थिरता

भारतीय पाक परंपरा सदियों से प्रकृति के साथ सह-अस्तित्व के सिद्धांत पर आधारित रही है। यहाँ भोजन केवल मनुष्य के उपभोग की वस्तु नहीं, बल्कि प्रकृति के प्रति कृतज्ञता का प्रतीक माना गया है। ऋतुओं के अनुसार आहार-विहार बदलने की परंपरा—जैसे वर्षा ऋतु में हल्का और ताजगी देने वाला भोजन, शीत ऋतु में ऊर्जादायक भोजन—यह दर्शाती है कि भारतीय जीवनशैली पर्यावरणीय लय के अनुरूप विकसित हुई थी। आयुर्वेद ने भोजन को "औषधि" माना, जहाँ आहार का उद्देश्य केवल स्वाद नहीं, बल्कि शरीर और पर्यावरण के संतुलन को बनाए रखना था।

भारतीय रसोई में स्थानीय और मौसमी उत्पादों के उपयोग की परंपरा पर्यावरणीय स्थिरता का उत्कृष्ट उदाहरण है। हर क्षेत्र में जो फसलें और वनस्पतियाँ उपलब्ध हैं, वहीं के व्यंजनों में उनका प्रयोग होता है। इससे न केवल परिवहन और संरक्षण पर निर्भरता घटती थी, बल्कि स्थानीय अर्थव्यवस्था भी सशक्त होती थी। उदाहरण के लिए, राजस्थान में बाजरा और मोटे अनाज का उपयोग मरुस्थलीय जलवायु के अनुकूल है, जबकि दक्षिण भारत में नारियल और चावल का प्रयोग तटीय जीवनशैली के अनुरूप है। यह स्वाभाविक अनुकूलन पर्यावरण-संगत जीवन का आदर्श प्रस्तुत करता है।

भारतीय पाक परंपरा में अपव्यय की प्रवृत्ति नहीं रही। "जितना आवश्यक है उतना ही बनाओ"—यह सिद्धांत ग्रामीण और शहरी दोनों समाजों में देखा जाता है। बचे हुए भोजन को पुनः उपयोग में लाने की अनेक विधियाँ प्रचलित थीं, जैसे दाल का 'पराठा', बची सब्ज़ियों का 'मिक्स भात' या 'खिचड़ी'। यह न केवल संसाधनों की बचत करता था, बल्कि भोजन में विविधता भी लाता था। 'अन्न का अनादर पाप है'—यह भावना भारतीय संस्कृति में पर्यावरणीय नैतिकता की अभिव्यक्ति है।

पारंपरिक भारतीय रसोई में मिट्टी, पत्थर, लकड़ी और धातु के बर्तनों का प्रयोग प्राकृतिक सामग्रियों पर आधारित था। ये बर्तन पुनः उपयोग योग्य और जैविक रूप से अनुकूल थे। मिट्टी के बर्तन न केवल भोजन का स्वाद बढ़ाते थे, बल्कि ताप संतुलन भी बनाए रखते थे। आधुनिक समय में प्लास्टिक और रासायनिक बर्तनों के प्रसार ने यह परंपरा कमजोर की, परंतु अब फिर से 'सस्टेनेबल कुकिंग' और 'इको-फ्रेंडली किचन' की ओर रुझान बढ़ रहा है।

वर्तमान युग में जब पर्यावरण संकट वैश्विक चिंता का विषय है, तब भारतीय पाक परंपरा के मूल सिद्धांत—संतुलन, संयम, स्थानीयता और पुनर्चक्रण—हमारे लिए प्रेरणास्रोत बन सकते हैं। स्थानीय अन्न, जैविक खेती, और पारंपरिक खाद्य विधियों को पुनर्जीवित करना न केवल स्वास्थ्य के लिए लाभकारी है, बल्कि जलवायु परिवर्तन के समाधान में भी योगदान दे सकता है। इस दृष्टि से भारतीय भोजन संस्कृति केवल ऐतिहासिक धरोहर नहीं, बल्कि एक टिकाऊ भविष्य के लिए व्यावहारिक मार्गदर्शक है।

4.4.4 भारतीय पाक परंपरा का वैश्वीकरण और समकालीन परिप्रेक्ष्य

भारतीय पाक परंपरा आज विश्व मंच पर एक सांस्कृतिक पहचान के रूप में स्थापित हो चुकी है। वैश्वीकरण के युग में भारतीय भोजन ने न केवल सीमाओं को पार किया है, बल्कि विविध संस्कृतियों के साथ संवाद भी स्थापित किया है। प्रवासी भारतीय समुदायों ने विश्व के लगभग हर देश में अपने पारंपरिक व्यंजनों की सुगंध फैला दी है। लंदन की "करी हाउस" संस्कृति, न्यूयॉर्क और टोरंटो के "इंडियन बिस्टरो" और दुबई या सिंगापुर के आधुनिक फ्यूज़न रेस्टोरेंट – सभी भारतीय स्वाद की लोकप्रियता के प्रमाण हैं। "करी", "मसाला", "तंदूरी" और "चाय" जैसे शब्द अब वैश्विक पाक शब्दकोश का हिस्सा बन चुके हैं।

वैश्वीकरण ने भारतीय भोजन को आधुनिकता और नवाचार के साथ जोड़ा है। पारंपरिक व्यंजन अब "फ्यूज़न फूड" के रूप में नए रूप ले रहे हैं – जैसे पनीर टिक्का पिज़्ज़ा, बटर चिकन पास्ता या मैंगो लस्सी चीज़केक। इस प्रकार के नवाचार भारतीय पाक परंपरा की लचीलापन और प्रयोगशीलता को दर्शाते हैं। हालाँकि, इस प्रक्रिया ने यह प्रश्न भी उठाया है कि क्या इस परिवर्तन में पारंपरिक स्वाद और मूल्यों का ह्रास हो रहा है या वे नई परिस्थितियों में नए रूप में जीवित हैं।

वैश्विक स्तर पर भारतीय भोजन को "स्वास्थ्यकर" और "प्राकृतिक" भोजन के रूप में भी पहचाना जाने लगा है। आयुर्वेदिक सिद्धांतों, मसालों के औषधीय गुणों और संतुलित आहार प्रणाली ने भारतीय व्यंजनों को वेलनेस फूड की श्रेणी में विशेष स्थान दिलाया है। हल्दी, अदरक, दालचीनी और नीम जैसे तत्व अब सुपरफूड्स के रूप में विश्वभर में लोकप्रिय हैं। योग और ध्यान की वैश्विक स्वीकृति ने भी भारतीय भोजन को "समग्र जीवनशैली" (Holistic Lifestyle) से जोड़ दिया है।

समकालीन भारत में शहरीकरण, मीडिया और पर्यटन ने भोजन संस्कृति को एक नए सामाजिक अनुभव में बदल दिया है। खाद्य उत्सव (Food Festivals), कुकिंग शो और सोशल मीडिया प्लेटफ़ॉर्म्स ने पारंपरिक व्यंजनों को नई पीढ़ी से जोड़ा है। युवा वर्ग अब केवल स्वाद के लिए नहीं, बल्कि सांस्कृतिक पुनःखोज के रूप में भारतीय व्यंजनों की ओर आकर्षित हो रहा है। "फार्म टू टेबल" और "लोकल टू ग्लोबल" जैसे विचार भारतीय पाक परंपरा को आधुनिकता और पर्यावरणीय चेतना के साथ पुनर्परिभाषित कर रहे हैं।

फिर भी, वैश्वीकरण के इस दौर में चुनौतियाँ भी कम नहीं हैं। फास्ट फूड संस्कृति, प्रोसेस्ड भोजन और उपभोक्तावाद की प्रवृत्तियाँ पारंपरिक भोजन की सादगी और स्वास्थ्यकरता को प्रभावित कर रही हैं। किंतु सकारात्मक पहलू यह है कि भारतीय पाक परंपरा अपनी गहराई, विविधता और जीवन-दर्शन के कारण इन प्रभावों को आत्मसात कर नये रूप में उभर रही है। आज भारतीय भोजन केवल रसोई की वस्तु नहीं, बल्कि सांस्कृतिक संवाद, आत्मपहचान और विश्वबंधुत्व का माध्यम बन गया है।

4.5 शाही रसोई परंपरा : मुगल, राजपूत और दक्षिण भारतीय दरबारों में भोजन

भारत की शाही रसोई परंपराएँ केवल स्वाद या विलासिता का प्रतीक नहीं थीं, बल्कि वे उस समय की सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक स्थिति का भी दर्पण थीं। प्राचीन और मध्यकालीन भारत में भोजन न केवल शारीरिक पोषण का साधन था, बल्कि यह राजकीय वैभव, धार्मिक आस्था और सांस्कृतिक विविधता का भी प्रतीक बन गया। विभिन्न राजवंशों के दरबारों में रसोई कला को एक प्रकार की "उच्च कला" के रूप में देखा जाता था, जहाँ स्वाद, सुगंध, रंग और प्रस्तुति — सबका विशेष ध्यान रखा जाता था।

मुगल काल की रसोई परंपरा ने भारतीय पाकशैली को एक नए आयाम पर पहुँचाया। बाबर के साथ मध्य एशियाई व्यंजन भारत आए, जो आगे चलकर भारतीय मसालों के मेल से "मुगलई भोजन" कहलाए। शाही रसोई में बिरयानी, कबाब, कोरमा, नान, सीख और शीरमाल जैसे व्यंजन बनाए जाते थे। अकबर और जहांगीर के समय में रसोई व्यवस्था अत्यंत व्यवस्थित थी—अलग-अलग वर्ग के रसोइये नियुक्त किए जाते थे, और भोजन की गुणवत्ता व स्वच्छता पर कड़ी निगरानी रखी जाती थी। केसर, मेवा, गुलाबजल और इलायची जैसे महंगे घटक मुगल भोजन का अभिन्न हिस्सा थे।

राजपूत दरबारों की रसोई अपनी वीरता और मर्यादा से जुड़ी परंपराओं के अनुरूप थी। मांसाहारी व्यंजन, विशेषकर "लाल मांस" और "सफेद मांस", उनकी पहचान बने। साथ ही बाजरे, जौ, और दूध से बने व्यंजन राजस्थान की जलवायु और संसाधनों के अनुकूल थे। भोजन केवल स्वाद का विषय नहीं था, बल्कि यह अतिथि सत्कार, शौर्य और सामाजिक स्थिति का भी प्रतीक था। राजघरानों में भोज के अवसर धार्मिक अनुष्ठानों और उत्सवों से गहराई से जुड़े रहते थे।

दक्षिण भारत के दरबारों—विशेषकर विजयनगर, चोल और पांड्य शासनों—में भोजन की परंपरा विशिष्ट धार्मिकता और सौंदर्यबोध से युक्त थी। यहाँ शाकाहार को प्रमुख स्थान प्राप्त था। चावल, नारियल, इमली, करिवेपत्ता और मसालों का संतुलित उपयोग दक्षिण भारतीय व्यंजनों की पहचान बना। मंदिरों में प्रसाद रूपी भोजन का वितरण, जैसे—अन्नप्रसाद, पोंगल या सांभर-चावल—इस क्षेत्र की सांस्कृतिक एकता और भक्ति परंपरा का प्रतिनिधित्व करते हैं।

शाही रसोई परंपराओं की विविधता भारतीय पाक संस्कृति की समृद्धि को दर्शाती है। मुगल दरबार की विलासिता, राजपूतों की मर्यादित भव्यता और दक्षिण भारतीय दरबारों की धार्मिक सौम्यता—इन सबने मिलकर भारतीय भोजन को बहुआयामी स्वरूप दिया। आज भी इन शाही परंपराओं की छाप हमारे व्यंजनों, भोज्य संस्कारों और भोजन-संस्कृति में गहराई से दिखाई देती है—चाहे वह हैदराबादी बिरयानी हो, राजस्थानी थाली हो या दक्षिण भारतीय सादे भोजन की शुद्धता।

4.6 लोक जीवन में भोजन : ग्रामीण और आदिवासी समुदायों की पाक विधियाँ

भारत के ग्रामीण और आदिवासी समाजों में भोजन केवल पोषण का साधन नहीं, बल्कि जीवनशैली, संस्कृति और परंपरा का अभिन्न हिस्सा रहा है। गाँवों में दैनिक आहार स्थानीय कृषि, मौसमी फसलों और पशुपालन पर आधारित होता है। दलहन, अनाज, सब्जियाँ और ताजे फल प्रमुख होते हैं। अधिकांश ग्रामीण समुदायों में भोजन सामूहिक रूप से ग्रहण किया जाता है, जिससे सामाजिक संबंध और सहयोग की भावना प्रबल होती है। त्यौहारों और मेलों में विशेष व्यंजन तैयार करना, जैसे हलवा, पूरी, चटनी और पापड़, सामाजिक समरसता का प्रतीक बनते हैं।

आदिवासी समुदायों की पाक परंपरा प्राकृतिक संसाधनों और पारिस्थितिक अनुकूलता पर आधारित है। पूर्वोत्तर के मणिपुर, नागालैंड और असम के आदिवासी मछली, सुअर-मांस, जड़ी-बूटियाँ और बांस की कोपलों का व्यापक उपयोग करते हैं। मध्य भारत में गोंड, बैगा और भील आदिवासी जंगलों से प्राप्त जंगली फलों, बीजों और मांसाहारी व्यंजनों का प्रयोग करते हैं। यह भोजन न केवल स्वादिष्ट बल्कि पौष्टिक और पर्यावरण अनुकूल भी होता है।

ग्रामीण भारत में भोजन की संरचना प्रायः सादगी और संतुलन पर आधारित होती है। दाल, चावल या रोटी, सब्जी और ताजा पत्तेदार साग—यह मूल संयोजन हर इलाके में अलग रूप में दिखाई देता है। सर्दियों में उर्जा प्रदान करने वाले व्यंजन, गर्मियों में हल्के और ठंडक देने वाले व्यंजन—इस प्रकार मौसम और जलवायु के अनुसार आहार बदलता रहता है। यह दर्शाता है कि भारतीय पारंपरिक भोजन में स्वास्थ्य, प्रकृति और जीवनशैली का गहरा तालमेल रहा है।

त्योहारों, सामाजिक अवसरों और अनुष्ठानों में ग्रामीण और आदिवासी पाक विधियाँ उत्सव का स्वरूप ले लेती हैं। उत्तर भारत में होली और दिवाली पर विशेष मिठाइयाँ, दक्षिण भारत में ओणम और पोंगल पर प्रसाद, और पूर्वोत्तर में स्थानीय जड़ी-बूटियों के साथ मांसाहारी व्यंजन—ये सभी संस्कृति, भक्ति और सामुदायिक भावना को परिभाषित करते हैं। इन अवसरों पर भोजन केवल पेट भरने का माध्यम नहीं, बल्कि सामाजिक पहचान और सांस्कृतिक स्मृति का हिस्सा बन जाता है।

ग्रामीण और आदिवासी पाक परंपराएँ आज भी भारतीय भोजन की विविधता और प्राचीनता की गवाही देती हैं। आधुनिकता, बाजार और ग्लोबलाइज़ेशन के प्रभाव के बावजूद, ये पारंपरिक व्यंजन स्थानीय जीवनशैली, सांस्कृतिक मूल्य और पर्यावरणीय अनुकूलता के कारण जीवित हैं। यह भाग भारतीय भोजन की अमूर्त सांस्कृतिक विरासत में लोक जीवन के योगदान को उजागर करता है, जो केवल स्वाद ही नहीं, बल्कि जीवन दृष्टि और समाज संरचना का प्रतीक भी है।

4.7 औपनिवेशिक काल और भोजन में परिवर्तन

औपनिवेशिक काल में भारतीय भोजन पर विदेशी शासन और सांस्कृतिक प्रभाव ने गहरा असर डाला। ब्रिटिश शासन ने भारतीय समाज के पारंपरिक खाद्य और पाक संरचनाओं को व्यवस्थित रूप से प्रभावित किया। भारत में यूरोपीय खाद्य आदतों का प्रवेश, जैसे चाय, बिस्किट, ब्रेड और मांसाहारी व्यंजन, धीरे-धीरे शहरी जीवनशैली में समाहित होने लगे। इसके साथ ही स्थानीय बाजारों और कारीगरों की परंपरागत उत्पादन प्रणाली भी प्रभावित हुई।

ब्रिटिश प्रशासन ने भारतीय बाजार को कच्चे माल का स्रोत और तैयार माल का उपभोक्ता बनाया। इससे स्थानीय कृषि और पारंपरिक पाक सामग्री की मांग में बदलाव आया। मसाले, अनाज और तिलहन विदेशी व्यापार के अधीन हो गए। पारंपरिक रसोई में प्रयुक्त जड़ी-बूटियाँ, प्राकृतिक मसाले और स्थानीय विधियाँ धीरे-धीरे कम होती गईं, जबकि यूरोपीय स्वाद और पकाने की तकनीकें लोकप्रिय हुईं।

औपनिवेशिक काल में शहरी मध्यवर्ग और ब्रिटिश अधिकारियों के लिए नए प्रकार के भोजनालय और क्लब स्थापित किए गए। यहाँ अंग्रेज़ी शैली का नाश्ता, चाय और बेकरी उत्पाद पेश किए जाने लगे। भारतीय घरों में भी आधुनिकता के प्रभाव से ब्रेड, केक, बिस्किट और डेयरी उत्पादों का उपयोग बढ़ा। पारंपरिक व्यंजनों की सरलता और मौसमी उपादानों का स्थान धीरे-धीरे "ब्रिटिश फ्यूज़न" भोजन ने ले लिया।

ग्रामीण और आदिवासी समुदायों पर भी औपनिवेशिक नीतियों का प्रभाव पड़ा। नए फसल कानून, कर और भूमि प्रणाली ने उनके जीवन और भोजन पर असर डाला। सीमित संसाधनों के कारण स्थानीय खाद्य विधियाँ और सामुदायिक भोज धीरे-धीरे प्रभावित हुए। हालांकि, ग्रामीण भारत में पारंपरिक आहार और मौसमी पाक प्रथाएँ कई क्षेत्रों में जीवित रहीं। इससे पता चलता है कि भारतीय पाक परंपरा ने संकट के समय भी अपनी जड़ें बनाए रखीं।

इस काल में भोजन केवल पोषण का साधन नहीं, बल्कि सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों का दर्पण भी बन गया। ब्रिटिश और भारतीय समाज की अंतर-क्रिया ने भोजन की विविधता, तकनीक और प्रस्तुति में बदलाव लाया। औपनिवेशिक प्रभाव के बावजूद, भारतीय भोजन ने अपनी सांस्कृतिक पहचान को बनाए रखा और आने वाले समय में पुनरुत्थान के लिए मार्ग प्रशस्त किया।

4.8 स्वतंत्रता के बाद भारतीय भोजन का पुनरुत्थान और वैश्विक प्रसार

स्वतंत्रता के बाद भारतीय भोजन ने न केवल अपनी पारंपरिक पहचान को पुनर्जीवित किया, बल्कि वैश्विक स्तर पर भी अपनी पहुँच बनाई। भारतीय रसोई ने विभिन्न राज्यों और समुदायों के व्यंजनों को संरक्षित करने और प्रचारित करने के लिए सरकारी और गैर-सरकारी प्रयासों को प्रोत्साहन दिया। पर्यटन मंत्रालय, खाद्य मेला और पाक

परंपरा संरक्षण समितियों ने पारंपरिक व्यंजनों को राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर लोकप्रिय बनाने में मदद की।

इस दौर में शहरीकरण और मध्यम वर्ग की वृद्धि ने भोजन की विविधता को नई दिशा दी। होटल उद्योग, रेस्तराँ और कैटरिंग व्यवसाय ने भारतीय व्यंजनों को व्यवस्थित रूप से पेश करना शुरू किया। पंजाब की बटर चिकन, बंगाल की मछली व्यंजन, दक्षिण भारत के डोसा और इडली जैसे व्यंजन शहरी और विदेशी ग्राहकों में समान रूप से लोकप्रिय हुए। भारतीय भोजन ने अब केवल घरों तक सीमित नहीं रहा, बल्कि पेशेवर और वैश्विक प्लेटफॉर्म पर भी मान्यता प्राप्त की।

भारतीय भोजन का वैश्वीकरण प्रवासी भारतीयों के योगदान से भी हुआ। लंदन, न्यूयॉर्क, दुबई, टोरंटो और सिंगापुर में भारतीय रेस्तराँ और ढाबे स्थापित हुए। ये स्थल न केवल स्वाद प्रस्तुत करते हैं, बल्कि भारतीय संस्कृति, रीति-रिवाज और पारंपरिक खान-पान का अनुभव भी देते हैं। वैश्विक स्तर पर भारतीय मसालों, बिरयानी, तंदूरी और करी को स्वास्थ्य, स्वाद और विविधता के प्रतीक के रूप में स्वीकार किया गया।

पारंपरिक व्यंजनों का पुनरुत्थान केवल अंतरराष्ट्रीय मंच तक ही सीमित नहीं रहा। भारत में भी खाना पकाने के टीवी शो, पाक मेलों, ऑनलाइन प्लेटफॉर्म और सोशल मीडिया के माध्यम से पारंपरिक व्यंजनों को नए रूप और लोकप्रियता मिली। युवा वर्ग ने इसे न केवल स्वाद के लिए अपनाया, बल्कि सांस्कृतिक पहचान और धरोहर के रूप में भी सराहा। यह भारतीय भोजन की लचीलापन और समयानुकूल विकास को दर्शाता है।

स्वतंत्रता के बाद भोजन के इस पुनरुत्थान और वैश्विक प्रसार ने भारतीय पाक परंपरा को "विश्व की अमूर्त सांस्कृतिक धरोहर" के रूप में स्थापित किया। यह केवल स्वाद और पोषण का विषय नहीं, बल्कि सामाजिक पहचान, सांस्कृतिक संवाद और वैश्विक मित्रता का माध्यम बन गया। भारतीय भोजन अब घरेलू रसोई से विश्व के रेस्टोराँ और मेजों तक अपनी अमूर्त सांस्कृतिक विरासत के साथ जीवित है।

4.9 आधुनिकता, बाज़ार और पारंपरिक भोजन का संरक्षण

आधुनिक युग में भारतीय भोजन ने पारंपरिक और आधुनिक दोनों ही तत्वों को समेटते हुए नई पहचान बनाई है। शहरीकरण, वैश्वीकरण और तकनीकी प्रगति ने खाने-पीने की आदतों को बदल दिया है। रेस्टोराँ, कैफे, फूड डिलीवरी और फूड फेस्टिवल्स के माध्यम से पारंपरिक व्यंजन नई पीढ़ी तक पहुँच रहे हैं। बाजार की नई मांगों के अनुसार पकवानों में बदलाव और नवाचार ने भारतीय भोजन को विविधता और आधुनिकता के साथ संतुलित किया है।

बाज़ार और उद्यमिता ने पारंपरिक व्यंजनों के संरक्षण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। खाद्य उद्योग, हर्बल और मसाले वाले उत्पाद, पैकaged ready-to-cook और frozen foods ने ग्रामीण और शहरी पारंपरिक पाक विधियों को व्यावसायिक रूप दिया है। उदाहरण स्वरूप, राजस्थानी ढोकला, बंगाली रसगुल्ला, गुजराती थेपला और दक्षिण

भारतीय इडली अब राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय बाज़ार में उपलब्ध हैं। इस प्रकार बाजार ने पारंपरिक व्यंजनों की पहुँच बढ़ाई और उनकी पहचान को संजोया।

सरकारी और गैर-सरकारी पहलें भी संरक्षण में महत्वपूर्ण हैं। खादी और ग्रामोद्योग बोर्ड, हस्तशिल्प बोर्ड और GI टैग जैसी नीतियों ने केवल शिल्प ही नहीं, बल्कि भोजन और स्थानीय खाद्य उत्पादों की पारंपरिक पहचान को भी संरक्षित किया। उदाहरण के लिए, बंगाल का रसगुल्ला, कोलकाता का मालपुआ और केरल का पोंगल GI टैग के माध्यम से विशिष्टता और गुणवत्ता सुनिश्चित करते हैं। यह कदम पारंपरिक व्यंजनों को बाजार और वैश्विक मंच पर पहचान दिलाने के साथ उनकी सांस्कृतिक धरोहर को भी संरक्षित करता है।

आधुनिकता के प्रभाव में भी पारंपरिक भोजन ने अपना संतुलन बनाए रखा है। फ्यूज़न फूड, हेल्थ-कॉन्सियस रेसिपीज़ और ऑर्गेनिक उत्पादों के बढ़ते चलन ने पुराने व्यंजनों को नया रूप दिया। घरों में शुद्ध और मौसमी भोजन की प्रवृत्ति, स्कूलों और संस्थानों में 'स्वस्थ आहार' कार्यक्रम, और डिजिटल प्लेटफ़ॉर्म्स पर पाक कला के पाठ ने पारंपरिक पाक ज्ञान को जीवित रखा। इस प्रकार आधुनिकता ने संरक्षण के लिए नई संभावनाएँ खोली हैं।

पारंपरिक भोजन का संरक्षण केवल स्वाद और पोषण तक सीमित नहीं है। यह भारतीय समाज की अमूर्त सांस्कृतिक विरासत, स्थानीय जीवनशैली, सामाजिक एकता और पर्यावरणीय संतुलन का प्रतीक है। आधुनिक बाज़ार, तकनीकी नवाचार और वैश्विक पहचान के माध्यम से पारंपरिक पाक परंपराएँ अब नई पीढ़ी तक पहुँच रही हैं। यह सुनिश्चित करता है कि भारतीय भोजन की अमूर्त सांस्कृतिक विरासत न केवल जीवित रहे, बल्कि भविष्य में भी विश्व स्तर पर अपनी विशिष्टता बनाए रखे।

4.10 सारांश

इस इकाई में हमने भारतीय अमूर्त सांस्कृतिक विरासत की पारंपरिक पाक शैली का व्यापक अध्ययन किया। भारत की पाक परंपरा ऐतिहासिक, सामाजिक, धार्मिक और भौगोलिक दृष्टि से अत्यंत विविध और समृद्ध रही है। शाही रसोई परंपरा—मुगल, राजपूत और दक्षिण भारतीय दरबारों की—विलासिता, तकनीक और स्वाद की उत्कृष्टता का प्रतीक रही। ग्रामीण और आदिवासी जीवन में भोजन साधारण और पर्यावरण अनुकूल रहा, जो स्थानीय संसाधनों और मौसमी फसलों पर आधारित था।

औपनिवेशिक काल ने भारतीय पाक परंपरा को प्रभावित किया, विदेशी स्वाद और बाजार की आवश्यकताओं के अनुरूप भोजन में परिवर्तन लाए। स्वतंत्रता के बाद, भारतीय भोजन ने पुनरुत्थान पाया और वैश्विक स्तर पर पहचान बनाई। वैश्वीकरण, शहरीकरण और बाजार ने पारंपरिक भोजन को नए रूप, आधुनिक प्रस्तुति और व्यापक पहुँच दी।

आज भारतीय भोजन न केवल स्वाद और पोषण का माध्यम है, बल्कि सामाजिक, सांस्कृतिक और

पर्यावरणीय संदेश भी देता है। पारंपरिक व्यंजनों का संरक्षण, GI टैग, फूड फेस्टिवल और डिजिटल माध्यमों के माध्यम से आधुनिक पीढ़ी तक पहुँचाया जा रहा है। इस प्रकार, भारतीय पाक परंपरा अमूर्त सांस्कृतिक विरासत के महत्वपूर्ण स्तंभों में से एक है, जो अपनी विविधता, लचीलापन और वैश्विक पहचान के माध्यम से जीवित और विकसित हो रही है।

4.11 मुख्य शब्दावली

- पारंपरिक पाक परंपरा (Traditional Culinary Tradition) – वह भोजन और पकाने की विधियाँ जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती आई हैं।
- शाही रसोई (Royal Cuisine) – मुगल, राजपूत और दक्षिण भारतीय दरबारों में विकसित भोजन परंपरा।
- लोक जीवन (Folk Life) – ग्रामीण और आदिवासी समुदायों में दैनिक भोजन और पाक संस्कार।
- वैश्वीकरण (Globalization) – भारतीय व्यंजनों का अंतरराष्ट्रीय स्तर पर प्रसार और स्वीकृति।
- GI टैग (Geographical Indication Tag) – विशिष्ट क्षेत्रीय खाद्य उत्पादों की पहचान और संरक्षण।
- फ्यूज़न फूड (Fusion Food) – पारंपरिक भारतीय व्यंजनों में आधुनिक या विदेशी तत्वों का मिश्रण।
- स्वस्थ आहार (Healthy Diet) – पोषण, आयुर्वेदिक सिद्धांत और मौसमी उत्पादों पर आधारित भोजन।
- सांस्कृतिक विविधता (Cultural Diversity) – विभिन्न क्षेत्रीय, धार्मिक और सामाजिक भोजन शैलियों की विविधता।
- पारंपरिक संरक्षण (Traditional Preservation) – भोजन और पाक ज्ञान की पीढ़ी-दर-पीढ़ी सुरक्षा और पुनरुत्थान।
- अमूर्त सांस्कृतिक विरासत (Intangible Cultural Heritage) – भोजन, पाक कला और संबंधित सांस्कृतिक व्यवहार जो गहन सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्य रखते हैं।

4.12 अभ्यास प्रश्न

1. भारतीय पारंपरिक पाक परंपरा के मुख्य तत्व क्या हैं?
2. मुगल, राजपूत और दक्षिण भारतीय दरबारों की शाही रसोई परंपरा में प्रमुख विशेषताएँ क्या थीं?
3. ग्रामीण और आदिवासी समुदायों में भोजन की भूमिका किस प्रकार सामाजिक और पर्यावरणीय दृष्टि से महत्वपूर्ण रही है?
4. औपनिवेशिक काल में भारतीय भोजन पर कौन-कौन से परिवर्तन हुए और उनका प्रभाव किस प्रकार पड़ा?
5. स्वतंत्रता के बाद भारतीय भोजन के पुनरुत्थान और वैश्विक प्रसार के प्रमुख कारण क्या हैं?
6. आधुनिक बाजार और तकनीकी नवाचार ने पारंपरिक भोजन के संरक्षण में कैसे योगदान दिया है?
7. GI टैग का भारतीय व्यंजनों के संरक्षण में क्या महत्व है?
8. भारतीय पाक परंपरा का वैश्वीकरण किस प्रकार भारतीय संस्कृति का प्रचार करता है?
9. "फ्यूज़न फूड" और पारंपरिक भोजन के बीच संतुलन बनाए रखने के लिए क्या कदम उठाए जा सकते हैं?
10. भारतीय भोजन को अमूर्त सांस्कृतिक विरासत के रूप में क्यों माना जाता है?

4.13 संदर्भ ग्रंथ

Achaya, K.T. Indian Food: A Historical Companion. Oxford University Press, 1994.

Collingham, Lizzie. Curry: A Tale of Cooks and Conquerors. Oxford University Press, 2006.

Prakash, Om. The Mughal Cuisine: Courtly and Regional Food Traditions. Delhi: Aryan Books International, 2005.

Achaya, K.T. The Story of Our Food. Universities Press, 2003.

Raheja, Gloria & Raheja, Peter. The Indian Kitchen: Heritage and Innovations. HarperCollins India, 2012.

Kurian, Sangeeta. Culinary Traditions in Contemporary India. Routledge, 2018.

Sen, Colleen Taylor. Feasts and Fasts: A History of Food in India. Reprint, Penguin, 2015.

Achaya, K.T. Food in Medieval India: A Historical Survey. Oxford University Press, 1998.

Dalal, Tarla. The Complete Indian Regional Cookbook. Sanjay & Co., 2010.

Raghavan, S. From Curry to Kheer: Indian Culinary History in the Modern Era. Penguin India, 2017.

इकाई चार

भारत की मूर्त सांस्कृतिक विरासत - धार्मिक स्थल

4.0 परिचय

4.1 उद्देश्य

4.2 भारत की मूर्त सांस्कृतिक विरासत: अवधारणा

4.3 धार्मिक स्थलों का महत्त्व

4.4 प्राचीन भारत के प्रमुख धार्मिक स्थल

- 4.4.1 बौद्ध धार्मिक स्थल (सांची, सारनाथ, कुशीनगर, बोधगया आदि)
- 4.4.2 जैन धार्मिक स्थल (शत्रुंजय, गिरनार, श्रवणबेलगोला आदि)
- 4.4.3 हिंदू धार्मिक स्थल (काशी, अयोध्या, मथुरा, द्वारका, पुरी, रामेश्वरम आदि)
- 4.4.4 दक्षिण भारतीय मंदिर परंपरा (मीनाक्षी, बृहदेश्वर, कांचीपुरम् आदि)

4.5 मध्यकालीन भारत के प्रमुख धार्मिक स्थल

- 4.5.1 सूफी दरगाहें (अजमेर शरीफ, निज़ामुद्दीन औलिया, हजरतबंडी नवाजा आदि)
- 4.5.2 सिख धार्मिक स्थल (स्वर्ण मंदिर और अन्य गुरुद्वारे)
- 4.5.3 भक्ति आंदोलन और मंदिर स्थापत्य का विकास

4.6 आधुनिक भारत में धार्मिक स्थल और सांस्कृतिक विविधता

- 4.6.1 आधुनिक धार्मिक विरासत स्थल (अक्षरधाम, बिडला मंदिर आदि)
- 4.6.2 धार्मिक पर्यटन का उदय

4.7 धार्मिक स्थलों का संरक्षण

- 4.7.1 भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण (ASI) की भूमिका
- 4.7.2 यूनेस्को विश्व धरोहर सूची एवं भारतीय धार्मिक स्थल
- 4.7.3 चुनौतियाँ और संरक्षण उपाय

4.8 सारांश

4.9 प्रमुख शब्दावली

4.10 प्रश्नावली

4.11 संदर्भ-ग्रंथ सूची

4.0 परिचय

भारत की सांस्कृतिक परंपरा अत्यंत प्राचीन, व्यापक और बहुआयामी रही है। इस संपूर्ण सांस्कृतिक विस्तार में मूर्त सांस्कृतिक विरासत (Tangible Cultural Heritage) का विशेष स्थान है, क्योंकि यह प्रत्यक्ष रूप से उन ऐतिहासिक, आध्यात्मिक और कलात्मक परंपराओं को अभिव्यक्त करती है जो भारतीय सभ्यता की पहचान को आकार देती रही हैं। धार्मिक स्थल इस मूर्त विरासत के सबसे महत्वपूर्ण घटक हैं, क्योंकि वे आस्था, स्थापत्य, सामाजिक जीवन और क्षेत्रीय पहचान के संगम के रूप में सदियों से विद्यमान हैं। भारतीय उपमहाद्वीप में पाए जाने वाले मंदिर, स्तूप, मठ, दरगाहें और गुरुद्वारे न केवल पूजा के केंद्र हैं, बल्कि वे उन सांस्कृतिक रूपांतरणों को भी दर्शाते हैं जो विभिन्न युगों में घटित हुए हैं।

धार्मिक स्थल भारत की सामाजिक संरचना में भी केंद्रीय भूमिका निभाते रहे हैं। यहाँ केवल एक विशिष्ट धर्म के अनुयायी ही नहीं, बल्कि कला, इतिहास और वास्तुकला के विद्यार्थी, शोधकर्ता तथा पर्यटक भी आकर्षित होते हैं। इन स्थलों के माध्यम से भारत में विकसित विभिन्न धार्मिक परंपराओं—हिंदू, बौद्ध, जैन, सिख, इस्लामी और ईसाई; की सांस्कृतिक निरंतरता और अंतःसंबंधों को समझा जा सकता है। साथ ही, इन स्थलों ने अलग-अलग समय में समाज को एकता, करुणा, सहिष्णुता और आध्यात्मिक उन्नति के मूल्यों से जोड़ने का कार्य भी किया है।

भारत की मूर्त सांस्कृतिक विरासत का अध्ययन इसलिए भी महत्वपूर्ण है क्योंकि यह हमें उन कलात्मक एवं स्थापत्य प्रगतियों से परिचित कराता है जो विभिन्न राजवंशों और सांस्कृतिक समूहों के संरक्षण में विकसित हुईं। उत्तर भारत के नागर शैली, दक्षिण भारत की द्रविड़ शैली, और पश्चिमी भारत की वेसर शैली के मंदिर हों या बौद्ध स्तूप, इन सबके माध्यम से हमें भिन्न-भिन्न कालखण्डों की कला-परंपरा और तकनीकी दक्षता का बोध होता है। इसी प्रकार दरगाहों और गुरुद्वारों का स्थापत्य भारतीय समाज में विकसित सूफी एवं सिख परंपराओं की आध्यात्मिकता और सामुदायिकता को दर्शाता है।

धार्मिक स्थलों का महत्त्व केवल वास्तुकला या आध्यात्मिकता तक सीमित नहीं है; वे भारतीय सांस्कृतिक भूगोल का भी अभिन्न भाग हैं। देश के विभिन्न क्षेत्रों में स्थित धार्मिक स्थल वहाँ के प्राकृतिक परिवेश, स्थानीय परंपराओं और जनजीवन से घनिष्ठ रूप से जुड़े होते हैं। उदाहरणस्वरूप, हिमालयी क्षेत्र के प्राचीन मंदिर पर्वतीय परिवेश और लोकविश्वासों का सहज प्रतिबिंब प्रस्तुत करते हैं, जबकि दक्षिण भारत के मंदिर नगर संस्कृति और शिल्पकला के उत्कृष्ट नमूने हैं। इस प्रकार धार्मिक स्थल भारत की सांस्कृतिक विविधता और भौगोलिक विशिष्टता दोनों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

आज के वैश्वीकरण के दौर में इन धार्मिक स्थलों का संरक्षण और संवर्धन महत्वपूर्ण चुनौती बनकर उभरा है। तीर्थाटन, पर्यटन, नगरीकरण और पर्यावरणीय दबावों के कारण कई ऐतिहासिक धार्मिक स्थल क्षरण का सामना कर रहे हैं। ऐसे में भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण (ASI), यूनेस्को तथा राज्य-स्तरीय संस्थाओं की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण हो

जाती है। इन विरासत स्थलों का संरक्षण केवल एक ऐतिहासिक जिम्मेदारी नहीं, बल्कि भारत की सांस्कृतिक स्मृति को सुरक्षित रखने का दायित्व भी है। अतः धार्मिक स्थलों का व्यवस्थित अध्ययन भारतीय संस्कृति की समग्र समझ के लिए अनिवार्य है।

4.1 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य शिक्षार्थियों को भारत की मूर्त सांस्कृतिक विरासत, विशेष रूप से धार्मिक स्थलों की विविधता और महत्त्व से परिचित कराना है। इसके अंतर्गत वे प्राचीन, मध्यकालीन और आधुनिक काल के प्रमुख धार्मिक स्थलों तथा उनके स्थापत्य, सांस्कृतिक और सामाजिक योगदान को समझ सकेंगे। साथ ही, इसका उद्देश्य धार्मिक स्थलों की संरक्षण-आवश्यकता, भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण (ASI) और यूनेस्को की भूमिका तथा संरक्षण से जुड़ी चुनौतियों के प्रति जागरूकता विकसित करना है। अंततः यह इकाई शिक्षार्थियों में भारतीय सांस्कृतिक विरासत के प्रति सम्मान, संवेदनशीलता और गहन समझ को प्रोत्साहित करती है।

4.2 भारत की मूर्त सांस्कृतिक विरासत: अवधारणा

भारत की सांस्कृतिक विरासत दो प्रमुख रूपों में समझी जाती है—मूर्त (Tangible) और अमूर्त (Intangible) विरासत। मूर्त सांस्कृतिक विरासत उन सभी भौतिक, दृश्य और स्पर्श करने योग्य तत्वों को सम्मिलित करती है जो किसी समाज के ऐतिहासिक विकास, कलात्मक परंपराओं और सांस्कृतिक पहचान को अभिव्यक्त करते हैं। इसमें स्मारक, स्थापत्य, मूर्तियाँ, धार्मिक स्थल, लिपियाँ, पुरास्थल, परंपरागत शिल्प, ऐतिहासिक भवन, तथा अन्य दृश्य-प्रमाण सम्मिलित हैं। यह विरासत हमारे अतीत की वह ठोस अभिव्यक्ति है जिसके माध्यम से हम अपने सांस्कृतिक विकास का मूल्यांकन कर सकते हैं।

मूर्त सांस्कृतिक विरासत की अवधारणा केवल भौतिक संरचनाओं तक सीमित नहीं है; यह उन सामाजिक और सांस्कृतिक प्रक्रियाओं को भी इंगित करती है जिनके परिणामस्वरूप ये संरचनाएँ बनीं और विकसित हुईं। उदाहरणस्वरूप, एक धार्मिक स्थल केवल वास्तुकला का नमूना नहीं होता, बल्कि यह उस समय की आध्यात्मिक मान्यताओं, सामाजिक संबंधों, आस्था के रूपों, तथा सत्ता-संस्थानों के अनुकूलित सांस्कृतिक व्यवहारों का दर्पण भी होता है। इस प्रकार मूर्त विरासत समाज के जीवन-मूल्यों और ऐतिहासिक निरंतरता का ठोस प्रमाण प्रस्तुत करती है।

भारत में मूर्त सांस्कृतिक विरासत की विशेषता इसकी बहुलता, विविधता और निरंतरता में निहित है। विभिन्न धार्मिक परंपराओं यथा- हिंदू, बौद्ध, जैन, सिख, इस्लामी और ईसाई ने मिलकर यहाँ एक समृद्ध एवं बहुरंगी स्थापत्य परंपरा का निर्माण किया है। सांची स्तूप, महाबोधि मंदिर, खजुराहो, कोणार्क, हम्पी, तथा अजंता–एलोरा जैसे स्थल इस बहुलतावादी विरासत के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इन स्थलों में केवल भौतिक भव्यता ही नहीं, बल्कि यह भी सन्निहित है कि किस प्रकार विभिन्न सांस्कृतिक धाराएँ एक-दूसरे को प्रभावित करती रही हैं।

मूर्त सांस्कृतिक विरासत का एक महत्वपूर्ण पहलू यह है कि यह समय के साथ बदलते सामाजिक और राजनीतिक सन्दर्भों में नए अर्थ ग्रहण करती रहती है। कई धार्मिक स्थलों के निर्माण, विस्तार और पुनर्निर्माण में स्थानीय समुदाय, शासक वर्ग, व्यापारिक समूह और धार्मिक संस्थान सक्रिय भूमिका निभाते रहे हैं। इससे विरासत स्थलों का स्वरूप, कार्य और सांस्कृतिक महत्त्व समय-समय पर परिवर्तित होता रहा है। अतः मूर्त विरासत को स्थिर इकाई की तरह नहीं, बल्कि निरंतर विकसित होने वाली सांस्कृतिक प्रक्रिया के रूप में समझना आवश्यक है।

इसके अतिरिक्त, मूर्त सांस्कृतिक विरासत का संरक्षण वर्तमान समय की एक महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है। पर्यटन, नगरीकरण, पर्यावरणीय चुनौतियों और बढ़ते मानवीय हस्तक्षेप ने कई ऐतिहासिक स्थलों को खतरे में डाल दिया है। इन स्थलों के संरक्षण के लिए भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण (ASI), यूनेस्को, तथा विभिन्न राज्य संस्थानों द्वारा नीतिगत प्रयास किए जा रहे हैं। मूर्त विरासत की अवधारणा संरक्षण-उन्मुख दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है, क्योंकि इसके माध्यम से हम उस सांस्कृतिक स्मृति को सुरक्षित रखते हैं जो राष्ट्र की ऐतिहासिक पहचान और सांस्कृतिक निरंतरता को मजबूत करती है।

4.3 धार्मिक स्थलों का महत्त्व

धार्मिक स्थल भारतीय समाज के सांस्कृतिक, आध्यात्मिक और ऐतिहासिक जीवन का अभिन्न हिस्सा रहे हैं। ये स्थल केवल पूजा-अर्चना के केंद्र नहीं होते, बल्कि वे उन सभ्यतागत मूल्यों और मान्यताओं का प्रतिनिधित्व करते हैं जो विभिन्न कालों में भारतीय समाज को दिशा देते रहे हैं। प्रत्येक धार्मिक स्थल के पीछे एक विशिष्ट सांस्कृतिक परंपरा, आस्था प्रणाली और ऐतिहासिक अनुभव निहित होता है, जो उसे सामाजिक स्मृति का महत्वपूर्ण वाहक बनाता है। धार्मिक स्थलों का महत्त्व सामाजिक एकता और सामुदायिक संबंधों की दृष्टि से भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। ये स्थल लोगों को सामूहिक उत्सवों, अनुष्ठानों और त्योहारों के माध्यम से जोड़ते हैं, जिससे सामुदायिक जीवन में सहयोग, सहभागिता और सौहार्द का वातावरण बनता है। अनेक बार धार्मिक स्थल संकट की स्थितियों में सामाजिक सहायता और मानवीय सहयोग के केंद्र भी रहे हैं, जो उनकी सामाजिक उपयोगिता को और अधिक रेखांकित करता है। ये स्थल सांस्कृतिक विविधता और बहुलतावाद के प्रतीक भी हैं। भारत में बौद्ध, जैन, हिंदू, इस्लामी, सिख और ईसाई परंपराओं के धार्मिक स्थल एक साथ विद्यमान हैं, जो यह दर्शाते हैं कि भारतीय समाज ने विभिन्न विश्वास प्रणालियों को न केवल स्थान दिया, बल्कि उन्हें अपने सांस्कृतिक जीवन का हिस्सा भी बनाया। इस प्रकार धार्मिक स्थल न केवल आध्यात्मिक केंद्र हैं, बल्कि वे सांस्कृतिक संवाद, सहअस्तित्व और परस्पर आदान–प्रदान के स्थल भी हैं।

धार्मिक स्थलों का एक महत्त्वपूर्ण आयाम यह भी है कि वे कला, स्थापत्य और शिल्प परंपराओं के संरक्षण में उल्लेखनीय भूमिका निभाते हैं। प्रत्येक धार्मिक स्थल की वास्तुकला में उस काल की तकनीकी दक्षता, सौंदर्यबोध और कलात्मक प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती हैं। जैसे- दक्षिण भारत के द्रविड़ मंदिर, उत्तर भारत के नागर मंदिर, बौद्ध

स्तूप, जैन मंदिर, सिख गुरुद्वारे और इस्लामी दरगाहें, सभी अपनी-अपनी स्थापत्य परंपराओं का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। इनके माध्यम से विद्यार्थियों, शोधकर्ताओं और पर्यटकों को भारतीय कला-इतिहास की निरंतरता का ज्ञान मिलता है।

आर्थिक दृष्टि से भी धार्मिक स्थल अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। तीर्थाटन एवं धार्मिक पर्यटन अनेक क्षेत्रों में स्थानीय अर्थव्यवस्था का आधार बन चुके हैं। लाखों लोग प्रतिवर्ष इन धार्मिक केंद्रों पर आते हैं, जिससे रोजगार, हस्तशिल्प, परिवहन, आवास और स्थानीय व्यावसायिक गतिविधियों में वृद्धि होती है। इस प्रकार धार्मिक स्थल न केवल सांस्कृतिक और आध्यात्मिक महत्त्व रखते हैं, बल्कि वे क्षेत्रीय विकास और आजीविका के अवसरों को भी सुदृढ़ करते हैं।

4.4 प्राचीन भारत के प्रमुख धार्मिक स्थल

प्राचीन भारत में धार्मिक स्थलों का विकास विभिन्न धार्मिक परंपराओं, बौद्ध, जैन और हिंदू के प्रसार के साथ हुआ। इन स्थलों ने न केवल आध्यात्मिक साधना के केंद्र के रूप में कार्य किया, बल्कि कला, वास्तुकला और सांस्कृतिक समन्वय के महत्वपूर्ण स्रोत भी बने। बौद्ध स्तूपों और विहारों ने धर्म, ध्यान और दान की परंपरा को आगे बढ़ाया, जबकि जैन तीर्थस्थलों ने तप, अहिंसा और तीर्थंकरों के जीवन से जुड़ी परंपराओं को संरक्षित किया। हिंदू धार्मिक स्थलों में मंदिरों, तीर्थ-क्षेत्रों और पवित्र नगरों का विशेष महत्त्व रहा, जहाँ पूजा-अर्चना के साथ-साथ सांस्कृतिक गतिविधियों और उत्सवों का भी आयोजन होता था। सांची, सारनाथ, कुशीनगर, बोधगया, शत्रुंजय, गिरनार, काशी, अयोध्या और मथुरा जैसे स्थल प्राचीन भारतीय धार्मिक जीवन की विविधता और समृद्धि को दर्शाते हैं। इन धार्मिक स्थलों के माध्यम से प्राचीन भारतीय समाज की धार्मिक आस्थाएँ, कलात्मक कौशल और स्थापत्य परंपराएँ आज भी अपनी विशिष्ट पहचान बनाए हुए हैं।

4.4.1 बौद्ध धार्मिक स्थल

भारत की प्राचीन धार्मिक परंपराओं में बौद्ध धर्म का विशेष स्थान है, और इसके साथ जुड़े धार्मिक स्थलों ने न केवल भारतीय उपमहाद्वीप की सांस्कृतिक पहचान को प्रभावित किया बल्कि एशिया के व्यापक भू-भाग में भी आध्यात्मिक एवं कलात्मक परंपरा को दिशा दी। बौद्ध धार्मिक स्थल; बौद्ध धर्म के विभिन्न विकास चरणों- हीनयान, महायान और वज्रयान का प्रतिबिंब प्रस्तुत करते हैं। ये स्थल बुद्ध के जीवन, उपदेशों और बौद्ध संघ की ऐतिहासिक यात्रा से गहराई से जुड़े हुए हैं। बौद्ध धार्मिक स्थलों में सबसे प्रमुख स्थान बोधगया का है, जहाँ गौतम बुद्ध ने बोधि वृक्ष के नीचे ज्ञान प्राप्त किया। महाबोधि मंदिर न केवल भारतीय, बल्कि वैश्विक आध्यात्मिक धरोहर के रूप में मान्यता प्राप्त है। यह स्थल बौद्ध स्थापत्य की प्रारंभिक शैलियों का उत्कृष्ट उदाहरण है, जिसमें स्तूप-परंपरा और विशिष्ट शिखर-निर्माण का समन्वय दिखाई देता है। यहाँ प्रतिवर्ष लाखों श्रद्धालु और पर्यटक आते हैं, जिससे यह बौद्ध तीर्थाटन का सबसे महत्वपूर्ण केंद्र बन चुका है।

सारनाथ, जहाँ बुद्ध ने अपना प्रथम धर्मचक्र प्रवर्तन किया, एक अन्य महत्वपूर्ण बौद्ध स्थल है। यहाँ का धमेख स्तूप, अशोक स्तंभ, तथा पुरातत्व संग्रहालय बौद्ध कला और प्रतीकवाद के अमूल्य उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। विशेष रूप से अशोक स्तंभ के शीर्ष पर स्थित सिंह-राजचिह्न को भारत ने अपने राष्ट्रीय प्रतीक के रूप में स्वीकार किया, जो यह दर्शाता है कि बौद्ध विरासत आधुनिक भारतीय राष्ट्रीय पहचान का भी अभिन्न अंग है। सारनाथ की मूर्तिकला बौद्ध कला के परिष्कृत विकास को समझने का महत्वपूर्ण माध्यम है।

कुशीनगर और लुंबिनी भी बौद्ध धार्मिक स्थल-परंपरा में विशेष महत्त्व रखते हैं। कुशीनगर वह स्थान है जहाँ बुद्ध ने महापरिनिर्वाण प्राप्त किया, जबकि लुंबिनी बुद्ध के जन्मस्थल के रूप में जाना जाता है। इन दोनों स्थलों की ऐतिहासिकता, शांत वातावरण और पुरातात्विक अवशेष बौद्ध दर्शन के अनित्यता और करुणा के सिद्धांतों की गहरी अनुभूति प्रदान करते हैं। इन स्थलों का संरक्षण और विकास एशियाई देशों के सांस्कृतिक सहयोग का भी प्रतीक है।

बौद्ध धार्मिक स्थलों का एक विशिष्ट पहलू यह है कि यहाँ न केवल धार्मिक गतिविधियाँ होती हैं, बल्कि ये स्थल बौद्ध शिक्षा, अनुसंधान और सांस्कृतिक आदान–प्रदान के केंद्र भी हैं। नालंदा और तक्षशिला जैसी प्राचीन बौद्ध विश्वविद्यालयों ने भारतीय बौद्ध धरोहर को वैश्विक स्तर पर प्रतिष्ठित किया। आज भी इन स्थलों से प्राप्त पुरातात्विक अवशेष भारतीय बौद्ध विचार और स्थापत्य की व्यापकता का साक्ष्य हैं।

4.4.2 जैन धार्मिक स्थल

जैन धर्म भारत की प्राचीनतम धार्मिक परंपराओं में से एक है, जिसकी शिक्षाएँ अहिंसा, अपरिग्रह, सत्य और आत्मसंयम पर आधारित हैं। जैन धार्मिक स्थल इस आध्यात्मिक परंपरा के दार्शनिक तथा सांस्कृतिक आयामों को मूर्त रूप में अभिव्यक्त करते हैं। इन स्थलों में जैन तीर्थंकरों के जीवन, उपदेशों और तपस्या से जुड़े स्थानों का विशेष महत्त्व होता है। स्थापत्य की दृष्टि से जैन मंदिर अपनी शिल्पकला, सूक्ष्म नक्काशी और समग्र सौंदर्य-रचना के लिए प्रसिद्ध हैं, जो भारतीय वास्तुकला की सर्वोच्च तकनीकी दक्षता का प्रतिनिधित्व करती है। जैन मंदिर स्थापत्य पश्चिमी भारत की एक विशिष्ट परंपरा के रूप में विकसित हुआ। माउंट आबू का दिलवाड़ा मंदिर समूह इसकी उत्कृष्ट मिसाल है, जहाँ संगमरमर पर की गई बारीक नक्काशी शिल्पकला की चरम सीमा प्रस्तुत करती है।

जैन धार्मिक स्थलों में शत्रुंजय पर्वत (पलिताना, गुजरात) सर्वोपरि माना जाता है। इसे 'जैनों के सबसे पवित्र तीर्थ' के रूप में जाना जाता है। शत्रुंजय की पहाड़ी पर स्थित सैंकड़ों मंदिर जैन स्थापत्य की अनूठी परंपरा को दर्शाते हैं। मंदिर-समूह की योजना, मार्बल की नक्काशी और शांत वातावरण जैन धर्म के तप और त्याग के मूल्यों के अनुरूप एक पवित्र तीर्थ-परंपरा का निर्माण करते हैं। यह स्थल दिगंबर और श्वेतांबर दोनों संप्रदायों के लिए समान रूप से महत्त्वपूर्ण है।

गिरनार (जूनागढ़, गुजरात) जैन धर्म का एक अन्य प्राचीन धार्मिक केंद्र है। यहाँ स्थित तोणक मंदिर, नेमिनाथ मंदिर और विभिन्न गुफा-स्थल जैन धार्मिक इतिहास और पौराणिक परंपराओं से जुड़े हुए हैं। गिरनार पर्वत को कई

तीर्थंकरों की तपस्या का स्थान माना जाता है, जिसके कारण यह जैन साधना-परंपरा का प्रतीक बन चुका है। तीर्थयात्रियों द्वारा पर्वतारोहण की परंपरा आज भी इस स्थल की विशिष्ट आस्था-संस्कृति को जीवित रखती है।

दक्षिण भारत में श्रवणबेलगोला (कर्नाटक) जैन विरासत का एक महत्वपूर्ण केंद्र है। यहाँ स्थित गोम्मटेश्वर बहुबली की विशाल एकाश्म प्रतिमा विश्वप्रसिद्ध है। यह प्रतिमा न केवल जैन कला की अद्वितीय उपलब्धि है, बल्कि यह जैन दर्शन के त्याग और ध्यान की परंपरा को भव्य रूप में प्रस्तुत करती है। प्रत्येक 12 वर्षों में आयोजित महामस्तकाभिषेक समारोह लाखों श्रद्धालुओं को आकर्षित करता है और जैन सामुदायिक संस्कृति की शक्ति और जीवंतता का प्रमाण प्रस्तुत करता है।

जैन धार्मिक स्थलों की विशेषता यह है कि वे केवल पूजा-अर्चना के स्थान नहीं होते, बल्कि जैन साहित्य, शिक्षा और दार्शनिक चिंतन के केंद्र भी रहे हैं। राजस्थान के दिलवाड़ा मंदिर, मध्य प्रदेश के सोनागिरि, महाराष्ट्र के मुडबिद्री और उत्तर भारत के अयोध्या–काशी–श्रावस्ती क्षेत्र भी जैन आस्था के महत्वपूर्ण केंद्र हैं। इन स्थलों की स्थापत्य शैली, सामाजिक भूमिका और धार्मिक महत्त्व भारतीय सांस्कृतिक विरासत की बहुलतावादी प्रकृति को सशक्त रूप से रेखांकित करते हैं।

4.4.3 हिंदू धार्मिक स्थल

हिंदू धर्म भारत की सबसे प्राचीन और व्यापक धार्मिक परंपराओं में से एक है, जिसकी जड़ें वैदिक काल से लेकर आधुनिक समय तक निरंतर विकसित होती रही हैं। हिंदू धार्मिक स्थल इस लंबे ऐतिहासिक विकास की सजीव मूर्त अभिव्यक्ति हैं। ये स्थल न केवल पूजा-अर्चना के केंद्र हैं, बल्कि सामाजिक, सांस्कृतिक और दार्शनिक गतिविधियों के भी महत्त्वपूर्ण केंद्र रहे हैं। इनमें "तीर्थ" की अवधारणा अत्यंत केंद्रीय है, जिसका अर्थ केवल भौगोलिक स्थान नहीं, बल्कि आध्यात्मिक यात्रा, शुचिता और पुनर्जन्म के सिद्धांतों से जुड़ा हुआ है।

भारत में स्थित चार धाम—बद्रीनाथ, द्वारका, पुरी और रामेश्वरम—हिंदू धार्मिक परंपरा के प्रमुख तीर्थ माने जाते हैं। इन्हें "मुक्ति-स्थल" भी कहा जाता है, क्योंकि विश्वास है कि इन तीर्थों की यात्रा से मोक्ष की प्राप्ति होती है। प्रत्येक धाम अपने क्षेत्रीय सांस्कृतिक परिवेश, स्थापत्य शैली और धार्मिक परंपराओं के साथ विशिष्ट रूप में जुड़ा है। जैसे बद्रीनाथ हिमालयी आध्यात्मिकता का प्रतीक है, जबकि रामेश्वरम समुद्री तीर्थ-परंपरा को व्यक्त करता है। यह विविधता हिंदू धर्म की बहुलतावादी प्रकृति को परिलक्षित करती है।

हिंदू धार्मिक स्थलों में काशी (वाराणसी) का स्थान अत्यंत विशिष्ट है। इसे 'आनादि नगर' तथा 'मोक्ष-नगरी' कहा जाता है। काशी का धार्मिक और सांस्कृतिक महत्त्व केवल मंदिर-परंपरा तक सीमित नहीं है; यह नगर संगीत, दर्शन, शिक्षा और शिल्प का भी केंद्र रहा है। काशी विश्वनाथ मंदिर, घाट, अखाड़े और प्राचीन मठ इस नगर की बहुमुखी सांस्कृतिक पहचान को दर्शाते हैं। इसी प्रकार अयोध्या, मथुरा, और कांचीपुरम् भी हिंदू धार्मिक परंपरा के

ऐतिहासिक केंद्रों में शामिल हैं, जहाँ विभिन्न अवतार कथाएँ, पुराणिक परंपराएँ और आस्था के स्थायी रूपों का विकास हुआ।

हिंदू स्थापत्य परंपरा की विविधता मंदिरों में स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। उत्तर भारत की नागर शैली, दक्षिण भारत की द्रविड़ शैली, और पश्चिमी भारत की वेसर शैली—तीनों की अपनी-अपनी विशिष्टताएँ हैं। कंबोडिया से लेकर इंडोनेशिया तक हिंदू कला का प्रभाव इन स्थापत्य शैलियों की वैश्विक पहुँच को दिखाता है। खजुराहो, कोणार्क, एलोरा, मदुरै का मीनाक्षी मंदिर, तंजावुर का बृहदेश्वर मंदिर और बक्तापुर–नेपाल के मंदिर समूह—सभी कला, प्रतीकवाद और स्थापत्य विज्ञान के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

हिंदू धार्मिक स्थलों की विशेषता यह भी है कि वे सामुदायिक जीवन को सक्रिय रूप से प्रभावित करते हैं। त्योहार, जुलूस, मेला-परंपरा, कथा-प्रवचन, योग-अभ्यास और सांस्कृतिक आयोजन मंदिरों के सामाजिक कार्य को विस्तृत रूप प्रदान करते हैं। कई मंदिर आर्थिक और शैक्षणिक केंद्र भी रहे हैं; उदाहरणस्वरूप दक्षिण भारत के बड़े मंदिरों ने कृषि, व्यापार और शिल्प को संरक्षित किया तथा स्थानीय समाज में परोपकारी परंपराओं को बढ़ावा दिया। इसलिए हिंदू धार्मिक स्थल केवल धार्मिक भावना के प्रतीक नहीं हैं, बल्कि भारतीय समाज के समग्र इतिहास और सांस्कृतिक निरंतरता के महत्वपूर्ण स्तंभ हैं।

4.4.4 दक्षिण भारतीय मंदिर परंपरा

दक्षिण भारतीय मंदिर परंपरा भारतीय मूर्त सांस्कृतिक विरासत का एक अत्यंत समृद्ध और विशिष्ट रूप प्रस्तुत करती है। यह परंपरा द्रविड़ स्थापत्य शैली पर आधारित मानी जाती है, जिसका विकास मुख्यतः तमिलनाडु, कर्नाटक, केरल और आंध्र–तेलंगाना क्षेत्रों में हुआ। दक्षिण भारतीय मंदिर न केवल उपासना के केन्द्र रहे, बल्कि सामाजिक जीवन, कला, संगीत, नृत्य, शिल्प और ज्ञान के महत्वपूर्ण संस्थान भी रहे हैं। इन मंदिरों के स्थापत्य तत्व—विशाल गोपुरम्, मंडप, गरभगृह, जलकुंड तथा विस्तृत प्रांगण—दक्षिण भारत की शिल्प-परंपराओं की उत्कृष्टता का प्रतिनिधित्व करते हैं।

द्रविड़ शैली के सबसे प्रमुख लक्षणों में ऊँचे और अलंकरणयुक्त गोपुरम् शामिल हैं। ये गोपुरम् प्रायः मंदिर परिसर के मुख्य द्वारों पर स्थित होते हैं और उन पर देव-प्रतिमाओं, दैवी कथाओं तथा पौराणिक प्रसंगों की सूक्ष्म नक्काशी की जाती है। समय के साथ, विशेष रूप से नायक और विजयनगर काल में, दक्षिण भारत के मंदिरों में गोपुरम् का निर्माण अत्यधिक विकसित हुआ, जिसके परिणामस्वरूप मंदिर परिसर दृश्य और आध्यात्मिक दोनों स्तरों पर भव्यता प्राप्त करने लगे। मदुरै का मीना◌ाक्षी मंदिर और श्रीरंगम का रंगनाथस्वामी मंदिर इसके प्रमुख उदाहरण हैं।

दक्षिण भारतीय मंदिर के मंडप भी स्थापत्य दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। ये स्तंभयुक्त सभा-स्थल धार्मिक अनुष्ठानों, नृत्य-प्रदर्शनों, संगीत-साधना तथा समाजिक गतिविधियों के केन्द्र रहे हैं। यहाँ अक्सर नृत्य-मुद्राएँ, पौराणिक दृश्य और

यक्ष–गंधर्व आदि की मूर्तियाँ उकेरी जाती थीं। इस प्रकार मंडप कला, धर्म और लोकसंस्कृति को जोड़ने वाले सेतु का कार्य करते रहे। मंदिर केवल पूजा का स्थान न होकर समुदाय की सामूहिक सांस्कृतिक स्मृति को संजोने वाले जीवंत संस्थान बन गए।

दक्षिण भारत में मंदिरों के साथ विकसित देवदासी परंपरा, भरतनाट्यम, और मंदिर-संगीत की विशिष्ट शैलियों ने इस विरासत को और समृद्ध किया। राजा, सामंत और दानदाता अपने-अपने शासनकाल में मंदिरों को भूमि, दान और संरक्षण प्रदान करते थे, जिससे ये संस्थान आर्थिक रूप से भी संपन्न थे। मंदिर प्रबंध तंत्र- जैसे 'देवदाना' और 'मंदिर प्रशासन समितियाँ' स्थानीय समाज के संगठनात्मक ढाँचों से जुड़ा हुआ था, जो दक्षिण भारत की सामाजिक संरचना की एक अलग पहचान बनाता है।

दक्षिण भारतीय मंदिर परंपरा की यह समग्र विशेषता उसे भारतीय सांस्कृतिक विरासत में अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करती है। इस परंपरा में धार्मिकता के साथ-साथ कला, समाज और इतिहास की गहरी परंपराएँ निहित हैं, जो न केवल दक्षिण भारत बल्कि सम्पूर्ण राष्ट्र की सांस्कृतिक पहचान को समृद्ध करती हैं।

4.5 मध्यकालीन भारत के प्रमुख धार्मिक स्थल

मध्यकालीन भारत का धार्मिक परिदृश्य अत्यंत विविधतापूर्ण रहा। इस काल में इस्लामी और भारतीय परंपराओं का संगम देखने को मिलता है, जिसके परिणामस्वरूप कई नए धार्मिक केंद्र विकसित हुए और अनेक प्राचीन स्थलों का विस्तार भी हुआ। इस अवधि में भक्ति और सूफी परंपरा का सूत्रपात हुआ जिसने समाज के विभिन्न वर्गों को आध्यात्मिकता के सरल और मानवतावादी मार्ग से जोड़ा। परिणामस्वरूप, धार्मिक स्थलों को केवल उपासना स्थलों के रूप में नहीं बल्कि सामाजिक सद्भाव, सांस्कृतिक मिलन और कलात्मक समृद्धि के केंद्र के रूप में देखा जाने लगा। मध्यकालीन धार्मिक स्थलों का विकास तत्कालीन राजाओं, फकीरों, संतों, शासकों और स्थानीय समुदायों के सहयोग से हुआ। वास्तुकला की दृष्टि से यह काल अत्यंत रचनात्मक था। उत्तर भारत में इस्लामी स्थापत्य यथा गुंबद, मेहराब, मीनारका प्रयोग वास्तुकला के रूप में हुआ, जबकि दक्षिण और पश्चिम भारत में हिंदू मंदिर स्थापत्य की द्रविड़ और नागर शैलियों का विस्तार हुआ। इन स्थलों पर होने वाले धार्मिक मेलों, उत्सवों और संगीत-परंपराओं ने इन्हें जीवंत सांस्कृतिक केंद्र बनाया।

इस अवधि में भारत के अनेक क्षेत्रों में नए धार्मिक केंद्रों का विकास हुआ, जिनमें सूफी दरगाहें, सिख गुरुद्वारे, भक्ति संतों से जुड़े मंदिर और आश्रम शामिल थे। इन स्थलों ने न केवल धार्मिक जीवन को समृद्ध किया, बल्कि सामाजिक स्तर पर विभिन्न समुदायों के बीच संपर्क और सौहार्द की धारा भी प्रदान की। इस काल में निर्मित धार्मिक स्थलों ने भारतीय कला, वास्तुकला और आध्यात्मिक परंपरा को एक नए आयाम दिए। सूफी संतों की दरगाहें इस काल की विशेष पहचान बनीं। इनके आसपास विकसित खानकाहें आध्यात्मिक और सामाजिक जीवन के केंद्रों के

रूप में कार्य करती थीं। इसी तरह सिख धार्मिक स्थल, विशेषतः हरिमंदिर साहिब (स्वर्ण मंदिर), ने सामूहिकता, सेवा और समानता के सिद्धांतों को नई ऊँचाई दी। दूसरी ओर भक्ति आंदोलन ने भारतीय धार्मिक चेतना को पुनः परिभाषित किया और कई महत्वपूर्ण मंदिरों के विकास को प्रेरित किया। इस प्रकार, मध्यकालीन धार्मिक स्थल केवल उपासना स्थल नहीं, बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक आंदोलन के केंद्र रहे।

4.5.1 सूफी दरगाहें (अजमेर शरीफ, निज़ामुद्दीन औलिया, हजरत बंदा नवाज़)

सूफी परंपरा मध्यकालीन भारत की आध्यात्मिक संस्कृति का महत्वपूर्ण अंग रही। सूफी संतों ने प्रेम, करुणा, सहिष्णुता और मानव-सेवा के संदेश को प्राथमिकता दी, जिसने सामाजिक विभाजनों को कम करने का कार्य किया। उनके खानकाह और दरगाहें न केवल धार्मिक केंद्र बने बल्कि सामाजिक संवाद, लोक-संगीत, काव्य, और सामूहिक भोजन (लंगर) के माध्यम से सांस्कृतिक एकता का रूप भी बनकर उभरे। नीचे कुछ प्रसिद्ध सूफी स्थलों के बारे में जानकारी दी गई है:

अजमेर शरीफ दरगाह:- ख्वाजा मोइनुद्दीन चिश्ती का प्रमुख केंद्र, भारत की सबसे प्रसिद्ध दरगाहों में से है। यहाँ चिश्ती सिलसिले की आध्यात्मिक परंपरा विकसित हुई। उर्स के समय लाखों श्रद्धालु, चाहे उनका धर्म कोई भी हो, यहाँ पहुंचकर अपनी आस्था व्यक्त करते हैं। यह दरगाह 'ग़रीब नवाज़' की करुणा और मानव-सेवा के आदर्शों का प्रतीक मानी जाती है।

हजरत निजामुद्दीन औलिया की दरगाह:- निज़ामुद्दीन औलिया की दरगाह (दिल्ली) सूफी संस्कृति का एक और महत्वपूर्ण केंद्र है। उनकी शिक्षाओं में मानवता की सेवा, गरीबों की सहायता और प्रेम की सार्वभौमिकता पर विशेष बल दिया गया। यह दरगाह मध्यकालीन दिल्ली के सांस्कृतिक जीवन का उत्कृष्ट प्रतीक रही है और इसके आसपास संगीत, काव्य और क़व्वाली की परंपराएं विकसित हुईं। अमीर खुसरो जैसे महान कवि-संगीतकार भी इसी सूफी परंपरा से जुड़े थे।

हजरत बंदी नवाज़ (कलबुर्गी) की दरगाह:- दक्खन क्षेत्र में गुलबर्गा स्थित हज़रत बंदी नवाज़ की दरगाह भी अत्यंत प्रसिद्ध है। उन्होंने सूफी विचारधारा को दक्षिण भारत तक पहुँचाया। उनकी दरगाह सांस्कृतिक समन्वय, आध्यात्मिक संवाद और क्षेत्रीय भाषाओं में साहित्यिक विकास के लिए जानी जाती है। यहाँ दक्कनी संस्कृति, संगीत और साहित्य की विशिष्ट परंपरा विकसित हुई। दक्कन में इस दरगाह ने इस्लामी तथा स्थानीय संस्कृतियों के समन्वय में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

इन सभी सूफी दरगाहों ने मध्यकालीन भारत में धार्मिक सहिष्णुता और सामाजिक एकता को प्रोत्साहित किया और आज भी लाखों लोगों की आस्था का केंद्र हैं।

4.5.2 सिख धार्मिक स्थल (स्वर्ण मंदिर और अन्य गुरुद्वारे)

सिख धर्म का उदय गुरु नानक देव से माना जाता है, जिनकी शिक्षाएँ समानता, सेवा, ईमानदारी और करुणा पर आधारित थीं। सिख धार्मिक स्थल जिन्हें गुरुद्वारा कहा जाता है; ने इन शिक्षाओं को समाज तक पहुँचाने में प्रमुख भूमिका निभाई। सिख धर्म का उदय सामाजिक समानता, नैतिक आचरण और मानव-सेवा के सिद्धांतों पर आधारित था। इसके धार्मिक स्थल विशेषकर गुरुद्वारे; केवल पूजा-स्थल नहीं बल्कि सामाजिक संस्थान भी रहे, जहाँ लंगर, सेवा, और सामुदायिक एकजुटता की परंपरा को प्रमुखता मिली।

हरमंदिर साहिब (स्वर्ण मंदिर):- सिख धर्म का सर्वप्रमुख तीर्थ; गुरु अर्जुन देव (पांचवे गुरु) द्वारा निर्मित किया गया था। अमृतसर स्थित हरिमंदिर साहिब, जिसे बाद में स्वर्ण मंदिर के रूप में प्रसिद्धि मिली, सिख समुदाय की आस्था का प्रमुख केंद्र है। इसके मध्य स्थित सरोवर, स्वर्ण मंडप और गुरुबाणी कीर्तन आध्यात्मिक अनुभव को गहन बनाते हैं। स्वर्ण मंदिर का स्थापत्य हिंदू और इस्लामी शैलियों के सामंजस्य का सुंदर उदाहरण माना जाता है। इसका चारों दिशाओं से खुला प्रवेश द्वार सिख धर्म की सर्व-समावेशी भावना का प्रतिनिधित्व करता है। इसका निर्माण एक ऐसे पवित्र स्थान को केंद्र में रखकर किया गया जिसके चारों दिशाओं में खुले द्वार यह संदेश देते हैं कि यह स्थल सभी के लिए समान रूप से खुला है। यहाँ का लंगर विश्व का सबसे बड़ा निरंतर चलने वाला सामुदायिक रसोईघर है, जहाँ प्रतिदिन हजारों लोग किसी भी भेदभाव के बिना भोजन ग्रहण करते हैं। यह व्यवस्था सिख परंपरा के मूल सिद्धांत 'समानता और सेवा' को मूर्त रूप देती है।

सिख धार्मिक स्थलों का इतिहास केवल वास्तुकला तक सीमित नहीं रहा। आनंदपुर साहिब सिख परंपरा के राजनीतिक और सामरिक संगठन का केंद्र रहा, जहाँ गुरु गोबिंद सिंह ने खालसा पंथ की स्थापना की। हेमकुंड साहिब प्रकृति की गोद में स्थित एक आध्यात्मिक स्थल है जो गुरु परंपरा का पवित्र प्रतीक माना जाता है। इसके अतिरिक्त बंगला साहिब (दिल्ली), पटना साहिब, नांदेड़ का हजूर साहिब, और अन्य गुरुद्वारे सिख इतिहास की महत्वपूर्ण घटनाओं से जुड़े हैं। इन स्थलों के माध्यम से सिख धर्म की आध्यात्मिक और सांस्कृतिक विरासत आज भी सशक्त रूप से संरक्षित है। इन गुरुद्वारों ने मध्यकालीन समाज में धार्मिक सुधार, शिक्षा और सामुदायिक जीवन के संगठन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। आज भी ये स्थल आध्यात्मिक अभ्यास, लोकसेवा और सामाजिक समरसता के केंद्र के रूप में सक्रिय हैं।

4.5.3 भक्ति आंदोलन और मंदिर स्थापत्य का विकास

मध्यकालीन भारत में भक्ति आंदोलन एक व्यापक धार्मिक-सामाजिक आंदोलन था जिसने व्यक्तिगत ईश्वर-भक्ति को महत्व दिया और जाति-व्यवस्था, सामाजिक भेदभाव और कठोर अनुष्ठानों का विरोध किया। रामानुज, कबीर, तुलसीदास, चैतन्य महाप्रभु, नामदेव, एकनाथ आदि संतों ने अपने उपदेशों से भक्ति को जन-जन तक पहुँचाया। इस आंदोलन के प्रभाव से कई नए मंदिरों का निर्माण हुआ और मौजूदा धार्मिक स्थलों का महत्व बढ़ गया। भक्ति

आंदोलन मध्यकालीन भारत की सबसे व्यापक धार्मिक-सांस्कृतिक लहर थी। इस आंदोलन ने ईश्वर-भक्ति को जाति, वर्ग और कर्मकांडों की सीमाओं से मुक्त किया। इसकी वजह से धार्मिक जीवन जनसामान्य के बीच सुलभ हुआ और देश के अनेक हिस्सों में नए धार्मिक केंद्र विकसित हुए। इससे मंदिरों में संगीत, भजन-कीर्तन और सामुदायिक कार्यक्रमों का प्रभाव बढ़ा। मंदिर अब केवल अनुष्ठानिक स्थल नहीं रहे, बल्कि सामाजिक-सांस्कृतिक संवाद के केंद्र भी बन गए।

दक्षिण भारत में रामानुज और अलवार-नयनार संतों के प्रभाव से भव्य द्रविड़ मंदिरों का विस्तार हुआ। मंदिर केवल धार्मिक नहीं बल्कि सामाजिक-सांस्कृतिक गतिविधियों के केंद्र बन गए। उत्तर भारत में वैष्णव और राम भक्ति की धारा के चलते अयोध्या, वृंदावन, चित्रकूट आदि क्षेत्रों में अनेक मंदिरों का विकास हुआ। दक्षिण भारत में विजयनगर साम्राज्य के शासकों ने द्रविड़ मंदिर वास्तुकला को नया जीवन दिया। विशाल गोपुरम्, काष्ठ-मंडप, स्तंभयुक्त सभामंडप, और मंदिर प्रांगण के विस्तार इसी काल की देन हैं। हंपी और कांचीपुरम के मंदिर इसका उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इन मंदिरों में मूर्तिकला, मंडपों और शिखरों में स्थानीय कलाओं का सुंदर सम्मिश्रण दिखाई देता है।

भक्ति आंदोलन ने कला, संगीत और साहित्य को भी गतिशील किया। मंदिरों में कीर्तन, भजन और सामूहिक उपासना की परंपरा विकसित हुई, जिसने धार्मिक जीवन को अधिक सहभागितापूर्ण बनाया। भक्ति विचारधारा ने धार्मिक संस्थानों को अधिक मानवीय रूप दिया और इन्हें समाज के सभी वर्गों के लिए खुला बनाया। इस प्रकार, भक्ति आंदोलन और मंदिर स्थापत्य का विकास एक-दूसरे के पूरक के रूप में उभरे।

4.6 आधुनिक भारत में धार्मिक स्थल और सांस्कृतिक विविधता

आधुनिक भारत धार्मिक एवं सांस्कृतिक विविधता का अनूठा उदाहरण है। स्वतंत्रता के बाद भारत में धार्मिक स्थलों का निर्माण केवल परंपरागत उद्देश्य से नहीं, बल्कि सांस्कृतिक संरक्षण, पर्यटन विकास और आधुनिक वास्तुकला के समावेश के रूप में भी हुआ। इन स्थलों में पारंपरिक धार्मिक भावना के साथ-साथ आधुनिक तकनीक, शिल्प और संगठनात्मक क्षमताओं का संयोजन दिखाई देता है। इसके अतिरिक्त, अनेक धार्मिक स्थलों ने भारत को वैश्विक मंच पर सांस्कृतिक पहचान दिलाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

धार्मिक विविधता के कारण भारत में प्रत्येक धर्म के नए प्रतीक-स्थल उभरे हैं। इनमें मंदिर, मस्जिद, गुरुद्वारे, चर्च, ध्यान-केन्द्र और सांस्कृतिक परिसर शामिल हैं। आधुनिक काल के धार्मिक स्थल न केवल आस्था के स्थान हैं, बल्कि सामाजिक संवाद, सामुदायिक सेवा, शिक्षा, आध्यात्मिक प्रशिक्षण और सांस्कृतिक आयोजनों के केंद्र भी बनते जा रहे हैं। यह विशेषता भारत की बहुलतावादी परंपरा और संवैधानिक मूल्यों स्वतंत्रता, समानता और सहिष्णुता का प्रत्यक्ष संकेत देती है।

इसके अलावा, धार्मिक स्थलों ने आधुनिक भारतीय समाज में राष्ट्रीय एकता और सांझी संस्कृति को भी सुदृढ़ किया है। देश के विभिन्न हिस्सों में निर्मित आधुनिक धार्मिक परिसरों ने स्थानीय कलाओं, हस्तशिल्प और पर्यटन को

बढ़ावा दिया है। इन स्थलों पर आने वाले देशी-विदेशी पर्यटकों ने सांस्कृतिक आदान-प्रदान को प्रोत्साहित किया है और भारत की आध्यात्मिक विरासत को वैश्विक पहचान प्रदान की है।

4.6.1 आधुनिक धार्मिक विरासत स्थल (अक्षरधाम, बिरला मंदिर आदि)

आधुनिक धार्मिक विरासत स्थलों में दिल्ली का अक्षरधाम परिसर प्रमुख है। यह स्थापत्य, आध्यात्मिकता और सांस्कृतिक प्रदर्शन का उत्कृष्ट समन्वय प्रस्तुत करता है। स्वामीनारायण संप्रदाय द्वारा निर्मित यह मंदिर आधुनिक भारतीय धार्मिक वास्तुकला का प्रतीक है। विशाल पत्थर निर्मित संरचना, विस्तृत उद्यान, प्रदर्शनी और सांस्कृतिक नौकायन इसे एक आधुनिक सांस्कृतिक-धार्मिक परिसर के रूप में स्थापित करते हैं। यहाँ भारतीय दर्शन, कला, प्रतीकवाद और इतिहास को समसामयिक शैली में समझाया गया है।

बिरला मंदिर श्रृंखला भी आधुनिक काल की एक महत्वपूर्ण परंपरा है। देश के कई शहरों दिल्ली, जयपुर, हैदराबाद, पटना में स्थापित ये मंदिर सामान्य श्रद्धालुओं के लिए सुलभ और सौंदर्यपूर्ण धार्मिक स्थल हैं। इनमें उपयोग की गई संगमरमर की शिल्पकारी, विस्तृत प्रांगण और शांतिपूर्ण वातावरण आधुनिक शहरी जीवन में आध्यात्मिकता के सहज अनुभव को उपलब्ध कराते हैं।

इन आधुनिक धार्मिक स्थलों की विशेषता यह है कि ये पारंपरिक स्थापत्य तत्वों को बनाए रखते हुए आधुनिक सामग्री एवं तकनीकों का उपयोग करते हैं। साथ ही, इनमें सांस्कृतिक कार्यक्रमों, सेवा-कार्यक्रमों, पुस्तकालयों तथा प्रदर्शनियों की सुविधाएँ भी होती हैं, जो इन्हें केवल उपासना स्थल न बनाकर संपूर्ण सांस्कृतिक केंद्र बनाती हैं।

4.6.2 धार्मिक पर्यटन का उदय

धार्मिक पर्यटन भारत में सबसे तेजी से विकसित होते क्षेत्रों में से एक है। केंद्र और राज्य सरकारों द्वारा धार्मिक मार्गों, तीर्थ स्थलों और सांस्कृतिक शहरों को जोड़ने वाले कार्यक्रमों—जैसे प्रसाद योजना, हेरिटेज सिटी डेवलपमेंट प्रोग्राम, और विभिन्न तीर्थ-परियोजनाएँ ने धार्मिक पर्यटन के विकास को नई गति दी है। इन परियोजनाओं का उद्देश्य तीर्थ स्थलों की संरचना, सुविधाओं, सुरक्षा और पहुंच को बेहतर बनाना है, जिससे यात्री अनुभव अधिक समृद्ध हो सके।

धार्मिक पर्यटन का आर्थिक महत्व भी अत्यधिक है। लाखों लोग प्रतिदिन धार्मिक स्थलों की यात्रा करते हैं, जिससे परिवहन, होटल, खानपान, हस्तशिल्प और स्थानीय व्यापार को विशेष लाभ मिलता है। कई क्षेत्रों में धार्मिक पर्यटन ने स्थानीय समुदायों के लिए रोजगार अवसर बढ़ाए हैं और संस्कृति-संरक्षण की दिशा में जागरूकता विकसित की है।

इसके अतिरिक्त, धार्मिक पर्यटन अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भारत की सांस्कृतिक प्रतिष्ठा को भी मजबूत कर रहा है। बौद्ध स्थलों के बोधगया, सारनाथ और कुशीनगर जैसे केंद्रों पर विश्वभर के यात्रियों का आगमन यह दर्शाता है कि भारत की आध्यात्मिक परंपराओं का आकर्षण आज भी वैश्विक स्तर पर कायम है।

4.7 धार्मिक स्थलों का संरक्षण

धार्मिक स्थलों का संरक्षण भारत की सांस्कृतिक नीति का महत्वपूर्ण अंग है। प्राचीन, मध्यकालीन और आधुनिक सभी प्रकार के धार्मिक स्थलों को संरक्षण की आवश्यकता होती है, क्योंकि वे न केवल आस्था के केंद्र हैं, बल्कि कला, स्थापत्य और इतिहास के जीवंत प्रमाण भी हैं। संरक्षण में भौतिक संरचना की मरम्मत, परिसर की सफाई, पर्यावरण संरक्षण, डिजिटल दस्तावेज़ीकरण और स्थानीय समुदायों को शामिल करना शामिल है।

भारत में संरक्षण प्रयास लगातार बढ़ते हुए देखे जा रहे हैं। केंद्र और राज्य स्तरीय एजेंसियाँ, विशेषकर भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण (ASI), धार्मिक-अस्थायी संरचनाओं तथा स्थायी स्मारकों दोनों के संरक्षण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। इसके साथ ही अनेक धार्मिक संस्थाएँ, ट्रस्ट और स्थानीय समुदाय भी स्वयं संरक्षण कार्यों में सक्रिय हैं।

संरक्षण का एक मुख्य उद्देश्य धार्मिक स्थलों के ऐतिहासिक स्वरूप को सुरक्षित रखना तथा उनकी सांस्कृतिक पहचान को भविष्य की पीढ़ियों तक पहुँचाना है। संरक्षण प्रयास आधुनिक तकनीक जैसे 3D स्कैनिंग, संरचनात्मक विश्लेषण, और डिजिटल अभिलेखीकरण का उपयोग करते हुए अधिक प्रभावी हो गए हैं।

4.7.1 भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण (ASI) की भूमिका

भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण (ASI) देश की प्रमुख संस्था है, जो ऐतिहासिक एवं धार्मिक स्मारकों के संरक्षण, उत्खनन और अध्ययन का दायित्व निभाती है। 1861 में इसकी स्थापना के बाद से यह धार्मिक संरचनाओं चाहे वे बौद्ध स्तूप हों, जैन मंदिर हों, हिंदू मंदिर हों या मस्जिद; के संरक्षण में महत्वपूर्ण योगदान देती रही है। यह संस्था भारत की ऐतिहासिक धरोहरों के संरक्षण का काम करती है। ध्यातव्य है कि ASI अपने कार्यों के दौरान सर्वे के लिए कई वैज्ञानिक तरीकों का इस्तेमाल करती है। इसमें कार्बन डेटिंग, डेंड्रोक्रोनोलॉजी, एथनो क्रोनोलॉजी, आर्कियोलॉजिकल एक्सकैवेशन, स्ट्रैटिग्राफी आर्कियोमेट्री और अंडरवाटर आर्कियोलॉजी जैसे तरीके इस्तेमाल में लाए जाते हैं। ASI के संरक्षण कार्यों में स्मारकों की वैज्ञानिक सफाई, संरचनात्मक स्थिरीकरण, टूट-फूट की मरम्मत, वृक्ष नियंत्रण, जल-निकासी व्यवस्था में सुधार तथा पुरानी कलाकृतियों की सुरक्षा शामिल है। इसके अतिरिक्त, यह संस्था धार्मिक स्थलों की ऐतिहासिक जानकारी को संग्रहित कर शोधकर्ताओं और आम जनता के लिए उपलब्ध कराती है।

ASI पर्यटन प्रबंधन में भी सहायक भूमिका निभाती है। बेहतर संरक्षण और प्रस्तुतीकरण से धार्मिक स्थलों की सांस्कृतिक महत्ता बढ़ती है और उन्हें वैश्विक स्तर पर पहचान मिलती है। इसके माध्यम से धार्मिक विरासत केवल अतीत की वस्तु न रहकर वर्तमान और भविष्य के बीच एक सजीव सेतु का रूप लेती है।

4.7.2 यूनेस्को विश्व धरोहर सूची एवं भारतीय धार्मिक स्थल

यूनेस्को विश्व धरोहर सूची उन स्थलों को शामिल करती है जो विश्व के लिए सांस्कृतिक और प्राकृतिक दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। भारत में कई धार्मिक स्थल इस सूची में शामिल हैं, जैसे महाबोधि मंदिर (बोधगया), अजंता-एलोरा गुफाएँ, खजुराहो मंदिर समूह, हम्पी, महाबलीपुरम आदि। इन स्थलों को विश्व धरोहर का दर्जा मिलने से इनके संरक्षण और शोध को अंतरराष्ट्रीय स्तर पर समर्थन मिलता है।

विश्व धरोहर सूची में चयन के लिए किसी स्थल को कलात्मक उत्कृष्टता, ऐतिहासिक महत्त्व, सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य, और संरक्षण की स्थिति जैसे मापदंडों को पूरा करना होता है। धार्मिक स्थलों का चयन यह दर्शाता है कि भारतीय धार्मिक विरासत वैश्विक विरासत का अभिन्न भाग है। यूनेस्को के सहयोग से इन स्थलों के संरक्षण में वैश्विक वैज्ञानिक पद्धतियों और तकनीकों का उपयोग बढ़ता है। इससे न केवल संरचनात्मक क्षति कम होती है, बल्कि धार्मिक पर्यटन, सांस्कृतिक जागरूकता और शोध गतिविधियों को भी प्रोत्साहन मिलता है।

यहाँ भारत में यूनेस्को (UNESCO) विश्व धरोहर स्थल की सूची (2025 तक) दी गयी है। जिसमें कुल 44 स्थल शामिल हैं।

Cultural-36

1. Agra Fort (1983)
2. Ajanta Caves (1983)
3. Archaeological Site of Nalanda Mahavihara at Nalanda, Bihar (2016)
4. Buddhist Monuments at Sanchi (1989)
5. Champaner-Pavagadh Archaeological Park (2004)
6. Chhatrapati Shivaji Terminus (formerly Victoria Terminus) (2004)
7. Churches and Convents of Goa (1986)
8. Dholavira: a Harappan City (2021)
9. Elephanta Caves (1987)
10. Ellora Caves (1983)
11. Fatehpur Sikri (1986)
12. Great Living Chola Temples (1987, 2004)
13. Group of Monuments at Hampi (1986)
14. Group of Monuments at Mahabalipuram (1984)
15. Group of Monuments at Pattadakal (1987)

16. Hill Forts of Rajasthan (2013)
17. Historic City of Ahmadabad (2017)
18. Humayun's Tomb, Delhi (1993)
19. Jaipur City, Rajasthan (2019)
20. Kakatiya Rudreshwara (Ramappa) Temple, Telangana (2021)
21. Khajuraho Group of Monuments (1986)
22. Mahabodhi Temple Complex at Bodh Gaya (2002)
23. Maratha Military Landscapes of India (2025)
24. Moidams – the Mound-Burial System of the Ahom Dynasty (2024)
25. Mountain Railways of India (1999, 2005, 2008)
26. Qutb Minar and its Monuments, Delhi (1993)
27. Rani-ki-Vav (the Queen's Stepwell) at Patan, Gujarat (2014)
28. Red Fort Complex (2007)
29. Rock Shelters of Bhimbetka (2003)
30. Sacred Ensembles of the Hoysalas (2023)
31. Santiniketan (2023)
32. Sun Temple, Konârak (1984)
33. Taj Mahal (1983)
34. The Architectural Work of Le Corbusier, an Outstanding Contribution to the Modern Movement (2016)
35. The Jantar Mantar, Jaipur (2010)
36. Victorian Gothic and Art Deco Ensembles of Mumbai (2018)

Natural- 7

37. Great Himalayan National Park Conservation Area (2014)
38. Kaziranga National Park (1985)
39. Keoladeo National Park (1985)
40. Manas Wildlife Sanctuary (1985)
41. Nanda Devi and Valley of Flowers National Parks (1988, 2005)

42. Sundarbans National Park (1987)

43. Western Ghats (2012)

Mixed-1

44. Khangchendzonga National Park (2016)

4.7.3 चुनौतियाँ और संरक्षण उपाय

धार्मिक स्थलों के संरक्षण के सामने कई चुनौतियाँ हैं—जैसे भीड़-भाड़ से होने वाली संरचनात्मक क्षति, पर्यावरण प्रदूषण, प्राकृतिक आपदाएँ, शहरीकरण, अवैध निर्माण और पर्यटन के अत्यधिक दबाव। अनेक स्थलों पर अनियोजित व्यापारिक गतिविधियाँ भी संरक्षण प्रयासों में बाधा उत्पन्न करती हैं।

इन चुनौतियों से निपटने के लिए बहु-स्तरीय रणनीतियों की आवश्यकता है। सरकार, स्थानीय प्रशासन, धार्मिक संस्थाएँ और नागरिक समाज को मिलकर कार्य करना होता है। पर्यावरण अनुकूल प्रबंधन, सीमित पर्यटन नियंत्रण, टिकाऊ निर्माण सामग्री, आधुनिक संरचनात्मक संरक्षण तकनीक, और डिजिटल दस्तावेज़ीकरण प्रभावी उपायों में शामिल हैं।

साथ ही स्थानीय समुदायों को संरक्षण प्रक्रिया में जोड़ना आवश्यक है, क्योंकि धार्मिक स्थल केवल पुरातात्विक धरोहर नहीं बल्कि सामाजिक जीवन का अंग भी हैं। जन-जागरूकता कार्यक्रम और सांस्कृतिक शिक्षा संरक्षण को अधिक टिकाऊ और सफल बनाते हैं।

4.8 सारांश

यह इकाई भारत की मूर्त सांस्कृतिक विरासत के अंतर्गत धार्मिक स्थलों की विविधता और महत्त्व का व्यापक अध्ययन प्रस्तुत करती है। प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक धार्मिक स्थल भारतीय समाज, कला, स्थापत्य और आध्यात्मिक परंपरा के केंद्र रहे हैं। मध्यकालीन काल में सूफी दरगाहों, सिख गुरुद्वारों और भक्ति आंदोलन ने धार्मिक जीवन को नए आयाम दिए।

आधुनिक काल में धार्मिक स्थलों का विस्तार केवल उपासना तक सीमित न रहकर सांस्कृतिक, शैक्षिक और पर्यटन केंद्रों के रूप में विकसित हुआ है। अक्षरधाम और बिरला मंदिर जैसे आधुनिक परिसरों ने धार्मिक वास्तुकला को समसामयिक रूप प्रदान किया है।

धार्मिक स्थलों के संरक्षण में ASI, यूनेस्को और स्थानीय समुदायों की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण रही है। बढ़ती चुनौतियों के बावजूद प्रभावी संरक्षण उपाय इन ऐतिहासिक धरोहरों को सुरक्षित रख सकते हैं।

4.9 प्रमुख शब्दावली

1. मूर्त सांस्कृतिक विरासत – भौतिक रूप में विद्यमान सांस्कृतिक धरोहर, जैसे मंदिर, स्तूप, मस्जिद आदि।
2. सूफी दरगाह – सूफी संतों की समाधि और आध्यात्मिक केंद्र।
3. गुरुद्वारा – सिख धर्म का उपासना स्थल।
4. विश्व धरोहर स्थल – यूनेस्को द्वारा मान्यता प्राप्त सांस्कृतिक या प्राकृतिक धरोहर।
5. संरक्षण – ऐतिहासिक संरचनाओं को सुरक्षित रखने की प्रक्रिया।

4.10 प्रश्नावली

1. मध्यकालीन भारत में सूफी दरगाहों की लोकप्रियता के मुख्य कारणों की व्याख्या कीजिए।
2. सिख धार्मिक स्थलों की स्थापत्य विशेषताओं और सामाजिक भूमिका का वर्णन कीजिए।
3. भक्ति आंदोलन ने मंदिर स्थापत्य के विकास को किस प्रकार प्रभावित किया?
4. आधुनिक धार्मिक स्थलों के प्रमुख उदाहरणों सहित उनकी विशेषताएँ बताइए।
5. धार्मिक पर्यटन के उदय के कारण और उसके सामाजिक-आर्थिक प्रभावों पर टिप्पणी कीजिए।
6. धार्मिक स्थलों के संरक्षण में ASI की क्या भूमिका है? उचित उदाहरण दें।
7. यूनेस्को विश्व धरोहर सूची में शामिल भारतीय धार्मिक स्थलों का सांस्कृतिक महत्त्व स्पष्ट कीजिए।

4.11 संदर्भ-ग्रंथ सूची

1. Singh, Upinder. A History of Ancient and Early Medieval India. Pearson Education, 2008.
2. Michell, George. The Hindu Temple: An Introduction to Its Meaning and Forms. University of Chicago Press, 1988.
3. Cunningham, Alexander. Archaeological Survey of India Reports. ASI Publications.
4. IGNOU. Indian Culture: Block on Cultural Heritage. School of Social Sciences.
5. UNESCO. World Heritage in India. UNESCO Publications.
6. Smith, Laurajane. Uses of Heritage. Routledge, 2006.
7. UNESCO. Operational Guidelines for the Implementation of the World Heritage Convention.
8. Sharma, R.S. India’s Ancient Past. Oxford University Press, 2005.

9. Lamotte, Étienne. History of Indian Buddhism. Peeters Press.

10. UNESCO. Mahabodhi Temple Complex at Bodh Gaya.

11. ASI Reports on Sarnath Excavations.

12. Dundas, Paul. The Jains. Routledge, 2002.

13. Jain, Kailash Chandra. Ancient Cities and Towns of Rajasthan. Motilal Banarsidass.

14. ASI Reports on Palitana and Shravanabelagola Sites.

15. Shah, Umakant. Jaina Art and Architecture. Bharatiya Vidya Bhavan.

16. Altekar, A.S. The Cultural History of India. Oxford University Press.

17. https://whc.unesco.org/en/statesparties/in

इकाई पाँच

भारत की मूर्त सांस्कृतिक विरासत- उत्खनित पुरातात्विक स्थल

इकाई की संरचना

5.1 परिचय

5.2 स्रोत

5.3 उद्देश्य

5.4 पुरातत्त्व और मूर्त सांस्कृतिक विरासत का अर्थ

5.4.1 पुरातत्त्व का परिचय

5.4.2 मूर्त सांस्कृतिक विरासत का अर्थ

5.4.3 भारत में उत्खनन कार्य का इतिहास

5.5 प्रमुख उत्खनित पुरातात्विक स्थल एवं उनकी मूर्त सांस्कृतिक विरासत

5.5.1 प्राचीन भारतीय उत्खनित स्थल- (हड़प्पा, मोहनजोदड़ो, धौलावीरा, राखीगढ़ी, पाटलिपुत्र, बाराबर गुफाएँ, सांची)

5.5.2 मध्यकालीन उत्खनित स्थल – (खजुराहो, चालुक्य एवं पल्लव संस्कृति से जुड़े स्थल)

5.6 मूर्त सांस्कृतिक विरासत की विशेषताएँ

5.7 इन स्थलों का ऐतिहासिक महत्व

5.8 इन स्थलों के संरक्षण की आवश्यकता

5.9 सारांश

5.10 शब्दावली

5.11 अभ्यास प्रश्न

5.12 संदर्भ ग्रन्थ सूची

5.1 परिचय

भारत एक प्राचीन और गौरवशाली सभ्यता का धनी देश है, जिसकी जड़ें हजारों वर्षों पुरानी हैं। इसकी सांस्कृतिक विरासत न केवल शास्त्रों, ग्रंथों और साहित्य में संजोई गई है, बल्कि यह देश की धरती में गहरे दबे पुरातात्विक अवशेषों के रूप में भी विद्यमान है। विशेष रूप से मूर्त सांस्कृतिक विरासत के अंतर्गत आने वाले उत्खनित पुरातात्विक स्थल भारत के ऐतिहासिक, धार्मिक, सामाजिक एवं कलात्मक विकास के प्रमुख प्रमाण हैं। ये स्थल न केवल भारत की ऐतिहासिक चेतना के संवाहक हैं, बल्कि विश्व को भारतीय संस्कृति की उत्कृष्टता का सजीव दर्शन कराते हैं।

भारत एक प्राचीन सभ्यता वाला देश है जहाँ सहस्राब्दियों से मानव जीवन की निरंतरता रही है। इस लंबे सांस्कृतिक विकासक्रम के भौतिक प्रमाण आज भी हमें देशभर में फैले हुए विविध उत्खनित पुरातात्विक स्थलों पर मिलते हैं। ये स्थल भारत की मूर्त सांस्कृतिक विरासत के जीवंत उदाहरण हैं जो प्राचीन काल की कला, स्थापत्य, धर्म, जीवनशैली, व्यापार और तकनीकी दक्षता को दर्शाते हैं। यहाँ पर की गई खुदाइयों से प्राप्त मूर्तियाँ, शिल्प, भवनों के अवशेष और अन्य सांस्कृतिक वस्तुएँ न केवल हमारे इतिहास को उजागर करती हैं, बल्कि उसकी जटिलता और विविधता को भी दर्शाती हैं।

भारत में सिंधु घाटी सभ्यता से लेकर गुप्त, मौर्य, कुषाण, शुंग, सातवाहन और पाल काल तक की अनेक महान सभ्यताओं के अवशेष विभिन्न पुरातात्विक स्थलों पर पाए गए हैं। इन स्थलों की खुदाई ने इतिहासकारों और पुरातत्वविदों को यह समझने में सहायता दी है कि प्राचीन भारतीय समाज किस प्रकार संरचित था और किस प्रकार उसने विभिन्न कालखंडों में सांस्कृतिक, धार्मिक तथा शिल्पकला की दृष्टि से विकास किया। उदाहरणस्वरूप, मोहनजोदड़ो, हड़प्पा, लोथल, साँची, अमरावती, मथुरा, और गांधार आदि स्थल इस सांस्कृतिक विकास की कहानी को मूर्त रूप में प्रस्तुत करते हैं। इन स्थलों से प्राप्त मूर्तियाँ केवल कला की दृष्टि से ही महत्वपूर्ण नहीं हैं, बल्कि वे धार्मिक आस्था, सामाजिक व्यवस्था, आर्थिक गतिविधियों और सांस्कृतिक आदान-प्रदान का भी संकेत देती हैं। जैसे बौद्ध स्तूपों की खुदाई से प्राप्त चित्रण बौद्ध धर्म के प्रसार की जानकारी देता है, वैसे ही मथुरा या गांधार की मूर्तियाँ तत्कालीन कला शैलियों और सांस्कृतिक समन्वय का प्रमाण हैं। ये स्थल यह भी दर्शाते हैं कि प्राचीन भारत में मूर्तिकला का विकास एक सुविचारित, संगठित और उत्कृष्ट परंपरा के तहत हुआ था।

पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग (ASI) द्वारा किए गए व्यवस्थित उत्खनन कार्यों से यह सुनिश्चित हुआ है कि भारत की भूमि के नीचे एक विशाल सांस्कृतिक धरोहर छिपी हुई है। इन स्थलों पर वैज्ञानिक तकनीकों से की गई खुदाई और अनुसंधान ने अनेक कालों की संस्कृति, तकनीक, शिल्प और कला के चरणों को सामने लाया है। प्रत्येक स्थल एक

ऐतिहासिक कालखंड का प्रतिनिधित्व करता है और वहां से प्राप्त अवशेष हमें उस युग की मानसिकता और सांस्कृतिक चेतना से परिचित कराते हैं।

5.2 स्रोत

भारत की मूर्त सांस्कृतिक विरासत को जानने और समझने के लिए जो प्रमुख स्रोत उपलब्ध हैं, उनमें पुरातात्विक स्रोत (Archaeological Sources) सबसे महत्वपूर्ण माने जाते हैं। इन स्रोतों में उत्खनन से प्राप्त स्थल, भवनों के अवशेष, मूर्तियाँ, टेराकोटा कलाकृतियाँ, सिक्के, मिट्टी के बर्तन, उपकरण, शिलालेख और स्थापत्य के अन्य प्रमाण शामिल हैं। ये स्रोत उस युग की धार्मिक आस्थाओं, जीवनशैली, तकनीकी ज्ञान और सामाजिक संरचना की जानकारी प्रदान करते हैं। भारत के कई क्षेत्रों में की गई खुदाइयों से मिली मूर्तियाँ, जैसे हड़प्पा की नर्तकी, मथुरा के बुद्ध और गांधार की ग्रीको-बौद्ध मूर्तियाँ, उस समय की कला और शिल्पकला की उत्कृष्टता को दर्शाती हैं।

साहित्यिक स्रोत भी मूर्त सांस्कृतिक विरासत की समझ में सहायक होते हैं, यद्यपि वे अप्रत्यक्ष प्रमाण प्रदान करते हैं। प्राचीन धार्मिक ग्रंथों, जैसे वेद, उपनिषद, रामायण, महाभारत, बौद्ध और जैन ग्रंथों में मंदिरों, मूर्तियों और शिल्प पर उल्लेख प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त, विदेशी यात्रियों की विवरणात्मक रिपोर्टें—जैसे फाह्यान, ह्वेनसांग और इब्न बतूता की यात्राएं—प्राचीन भारत की मूर्तिकला, स्थापत्य और सांस्कृतिक परंपराओं की जानकारी देती हैं। यद्यपि ये विवरण अक्सर व्यक्तिपरक होते हैं, फिर भी इनसे सांस्कृतिक वातावरण और सामाजिक सोच का अनुमान लगता है।

संस्थानिक स्रोतों में प्रमुख रूप से भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण (ASI), राज्य पुरातत्व विभाग, राष्ट्रीय संग्रहालय, भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद (ICHR), और विभिन्न विश्वविद्यालयों तथा शोध संस्थानों की रिपोर्टें और प्रकाशन शामिल हैं। ये संस्थाएँ नियमित रूप से पुरातात्विक स्थलों का सर्वेक्षण, खुदाई और शोध कार्य करती हैं और प्राप्त अवशेषों का दस्तावेजीकरण तथा विश्लेषण प्रस्तुत करती हैं। इनके द्वारा प्रकाशित रिपोर्टें, वार्षिक विवरण और मोनोग्राफ शोधार्थियों के लिए अत्यंत उपयोगी होते हैं और भारत की मूर्त सांस्कृतिक विरासत को व्यवस्थित और प्रमाणिक रूप में प्रस्तुत करते हैं।

5.3 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप:

- भारत के प्रमुख उत्खनित पुरातात्विक स्थलों की पहचान कर सकेंगे।
- इन स्थलों के ऐतिहासिक और सांस्कृतिक महत्व को समझ सकेंगे।

- इन स्थलों के माध्यम से भारत की मूर्त सांस्कृतिक विरासत की निरंतरता को पहचान सकेंगे।
- संरक्षण और संवर्धन के दृष्टिकोण से इन स्थलों की प्रासंगिकता को समझ सकेंगे।

5.4 पुरातत्त्व और मूर्त सांस्कृतिक विरासत का अर्थ

5.4.1 पुरातत्त्व का परिचय

'पुरातत्त्व' शब्द दो भागों से बना है – 'पुरा' अर्थात 'प्राचीन' और 'तत्त्व' अर्थात 'सत्य' या 'तथ्य'। यह वह विद्या है जिसके माध्यम से हमें अतीत की सभ्यताओं, संस्कृतियों, जीवन शैली, धार्मिक मान्यताओं और कला का ज्ञान प्राप्त होता है। पुरातत्त्वविद् मिट्टी के नीचे दबे अवशेषों, भवनों, मूर्तियों, सिक्कों, औजारों, बर्तनों आदि का वैज्ञानिक विश्लेषण करके इतिहास की पुनर्रचना करते हैं।

5.4.2 मूर्त सांस्कृतिक विरासत का अर्थ

मूर्त सांस्कृतिक विरासत में वे भौतिक वस्तुएं आती हैं जो किसी सभ्यता की सांस्कृतिक पहचान को दर्शाती हैं जैसे – भवन, मंदिर, स्तूप, मूर्तियाँ, लेख, चित्रकला, धातु या पत्थर की बनी कलाकृतियाँ आदि। जब इनका उत्खनन करके अध्ययन किया जाता है, तब वे इतिहास के रहस्यों को उजागर करती हैं।

5.4.3 भारत में उत्खनन कार्य का इतिहास

भारत में व्यवस्थित पुरातात्विक उत्खनन कार्य 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में शुरू हुआ। सर अलेक्ज़ेंडर कनिंघम को भारतीय पुरातत्व का जनक माना जाता है। उनके द्वारा स्थापित 'भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण' संस्था (ASI - Archaeological Survey of India) ने अनेक महत्वपूर्ण स्थलों का उत्खनन कराया। कालांतर में राखीगढ़ी, धौलावीरा, लुंठल, कोडुम्बालूर, वाघेरा, और अन्य स्थलों से अत्यंत महत्वपूर्ण मूर्त सांस्कृतिक साक्ष्य प्राप्त हुए।

5.5 प्रमुख उत्खनित पुरातात्विक स्थल एवं उनकी मूर्त सांस्कृतिक विरासत

5.5.1 प्राचीन भारतीय उत्खनित स्थल एवं उनकी मूर्त सांस्कृतिक विरासत

भारत के पुरातात्विक स्थलों से प्राप्त मूर्त सांस्कृतिक विरासत प्राचीन भारतीय समाज के धर्म, कला, संस्कृति, तकनीकी दक्षता और जीवन मूल्यों की सजीव झलक प्रस्तुत करती है। इन स्थलों पर की गई खुदाई से प्राप्त मूर्तियाँ,

स्थापत्य अवशेष, टेराकोटा शिल्प और अन्य कलात्मक कृतियाँ यह सिद्ध करती हैं कि भारतीय उपमहाद्वीप में मूर्तिकला का एक समृद्ध और विकसित इतिहास रहा है। इस इकाई के माध्यम से भारत के कुछ प्रमुख उत्खनित स्थलों की समीक्षा करने का प्रयास किया जाएगा | जिनमें से प्रमुख स्थलों का विवरण निम्न प्रकार से है -

1. हड़प्पा और मोहनजोदड़ो (सिंधु घाटी सभ्यता)

हड़प्पा (अब पाकिस्तान में) और मोहनजोदड़ो सिंधु घाटी सभ्यता के दो प्रमुख केंद्र थे, जिनका काल लगभग 2500–1900 ईसा पूर्व माना जाता है। इन स्थलों से प्राप्त मूर्त सांस्कृतिक वस्तुओं में प्रमुख हैं:

- कांस्य नर्तकी: 10.5 सेमी की यह मूर्ति एक युवती को नृत्य मुद्रा में दिखाती है। यह मूर्ति न केवल शिल्प कौशल का उदाहरण है, बल्कि उस युग की सामाजिक स्वीकृति को भी दर्शाती है।
- पुजारी की मूर्ति: इस मूर्ति में पुजारी जैसे पुरुष की आकृति है जो गंभीर मुखाकृति और परिधान में है, यह धार्मिक अथवा सामाजिक नेतृत्व को दर्शाती है।
- मिट्टी की खिलौना मूर्तियाँ और पशु आकृतियाँ: ये आम जनजीवन और धार्मिक प्रतीकों से संबंधित हैं।

इन मूर्तियों की विशेषता इनकी यथार्थपरकता और समरूपता है, जो हड़प्पा सभ्यता की शिल्प परंपरा और तकनीकी दक्षता का परिचय देती है।

2. धोलावीरा और लोथल (गुजरात)

धोलावीरा, कच्छ में स्थित एक प्रमुख नगर रहा है। यहाँ से प्राप्त मूर्त सांस्कृतिक तत्वों में शिलालेख, जल प्रबंधन प्रणाली और नगर नियोजन सम्मिलित हैं। यहाँ के अवशेष यह दर्शाते हैं कि यह नगर स्थापत्य और विज्ञान के दृष्टिकोण से अत्यंत उन्नत था।

लोथल, सिंधु सभ्यता का एक महत्वपूर्ण बंदरगाह रहा है। यहाँ से प्राप्त टेराकोटा मूर्तियाँ, मृदभांड, आभूषण और सीलें व्यापारिक और धार्मिक क्रियाओं की जानकारी देती हैं। यहाँ की एक विशेष उपलब्धि है– सुव्यवस्थित जलनिकासी प्रणाली और एक डॉकयार्ड, जो समकालीन विश्व में अत्यंत दुर्लभ है।

3. कालिबंगन (राजस्थान)

कालिबंगन सिंधु घाटी सभ्यता का एक और महत्वपूर्ण स्थल है। यहाँ से प्राप्त अग्निकुंड अवशेष, हड्डियों के औज़ार एवं टेराकोटा स्त्रियों की मूर्तियाँ ये सभी इस बात की पुष्टि करते हैं कि यहाँ एक व्यवस्थित धार्मिक परंपरा विद्यमान थी।

यहाँ की मूर्तियाँ शुद्ध लोक परंपरा का प्रतिनिधित्व करती हैं और सामाजिक जीवन से जुड़े कार्यकलापों को प्रदर्शित करती हैं।

4. साँची (मध्य प्रदेश)

साँची भारत के प्रमुख बौद्ध स्थलों में से एक है और यहाँ की खुदाई से प्राप्त मूर्त सांस्कृतिक धरोहरें बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार को दर्शाती हैं।

- साँची स्तूप: यह स्थल अशोक द्वारा निर्मित किया गया था, परंतु बाद में शुंग और सातवाहन काल में इसका विस्तार हुआ।
- तोरण द्वार: चारों दिशाओं में अलंकृत तोरण हैं जिन पर जातक कथाओं की मूर्तिकला अंकित है। यह कला बौद्ध धर्म के विचारों को प्रतीकात्मक रूप से प्रकट करती है।
- चक्र और सिंह स्तंभ: ये मौर्यकालीन नक्काशी के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

यहाँ की मूर्तिकला सहज, भावपूर्ण और प्रतीकात्मक है जो धार्मिक अवधारणाओं को दृश्य रूप में प्रकट करती है।

5. भरहुत (मध्य प्रदेश)

भरहुत स्तूप की खुदाई अलेक्ज़ेंडर कनिंघम द्वारा 19वीं सदी में की गई थी। यहाँ से प्राप्त मूर्तियाँ प्रारंभिक बौद्ध कला की परिचायक हैं।

- स्तूप के रेलिंग और तोरणों पर जातक कथाएँ, बुद्ध के जीवन प्रसंग, तथा बौद्ध प्रतीक चिह्न उकेरे गए हैं।
- इन चित्रों में मानव और पशु आकृतियाँ अत्यंत जीवंत और नैतिक कथाओं को संप्रेषित करती हैं।

भरहुत की मूर्तिकला में कथा और प्रतीक का सुंदर समन्वय देखने को मिलता है।

6. अमरावती और नागार्जुनकोंडा (आंध्र प्रदेश)

अमरावती में सातवाहन कालीन बौद्ध स्तूप मिला है, जिसकी खुदाई से प्राप्त मूर्तियाँ और पैनल अत्यंत सुंदर शिल्पकला के उदाहरण हैं। बुद्ध की मूर्तियाँ, पदचिह्न, धर्मचक्र आदि प्रमुख हैं।

नागार्जुनकोंडा से भी बौद्ध धर्म से संबंधित अनेक मूर्तियाँ और विहार प्राप्त हुए हैं। यहाँ पर हिंदू और बौद्ध परंपराओं का समन्वय भी दृष्टिगोचर होता है।

यह क्षेत्र मूर्त शिल्प में गहराई, लालित्य और भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से अत्यंत समृद्ध है।

7. मथुरा और गांधार (उत्तर भारत और पाकिस्तान)

मथुरा शैली और गांधार शैली प्राचीन भारत की दो प्रमुख मूर्तिकला शैलियाँ थीं।

- मथुरा शैली में स्थानीय लाल बलुआ पत्थर का प्रयोग होता है। यह शैली अधिक भारतीय भाव-भंगिमा और परिधान को दर्शाती है। बुद्ध की मूर्तियाँ गंभीर मुखमुद्रा और ध्यानमग्न मुद्रा में होती हैं।
- गांधार शैली में यूनानी प्रभाव देखने को मिलता है – लहरदार वस्त्र, पश्चिमी मुखाकृति, और प्राकृतिक अंग-संरचना। यह शैली काबुल, पेशावर और अफगानिस्तान क्षेत्र में पनपी।

दोनों शैलियों से प्राप्त मूर्तियाँ भारत की मूर्त सांस्कृतिक परंपरा में विविधता और विस्तार को दर्शाती हैं।

8. देवगढ़ और खजुराहो (उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश)

देवगढ़, गुप्त कालीन स्थापत्य का एक सुंदर उदाहरण है। यहाँ स्थित दशावतार मंदिर और उसकी मूर्तियाँ हिंदू धर्म की अवधारणाओं को मूर्त रूप में प्रस्तुत करती हैं।

खजुराहो के मंदिरों की मूर्तिकला विशेषतः चंद्रवंशी शासकों द्वारा निर्मित, काम, धर्म और मोक्ष की अवधारणाओं को निरूपित करती है। यहाँ की मूर्तियाँ यथार्थ, सौंदर्य और भावनात्मकता का मिश्रण हैं।

ये स्थल धार्मिक और लौकिक जीवन के संतुलन को मूर्त रूप में प्रस्तुत करते हैं।

9. सारनाथ और कुशीनगर (उत्तर प्रदेश)

सारनाथ, जहाँ बुद्ध ने अपना प्रथम उपदेश दिया, एक महत्वपूर्ण उत्खनित स्थल है। यहाँ से प्राप्त:

- अशोक स्तंभ
- धर्मचक्र
- बौद्ध विहार

बौद्ध मूर्तिकला की परिपक्व अवस्था को दर्शाते हैं। कुशीनगर, बुद्ध के महापरिनिर्वाण का स्थल, मूर्त सांस्कृतिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है।

प्राचीन भारतीय उत्खनित स्थल न केवल इतिहास को समझने के साधन हैं, बल्कि ये हमारी जीवित सांस्कृतिक विरासत के भाग हैं। इन स्थलों से प्राप्त मूर्तियाँ न केवल धार्मिक और सांस्कृतिक प्रतीकों का प्रतिनिधित्व करती हैं,

बल्कि वे भारतीय समाज की बहुलतावादी चेतना, सहिष्णुता और कला के प्रति अनुराग को भी दर्शाती हैं। इन स्थलों का संरक्षण और अध्ययन हमारी सांस्कृतिक पहचान को सुदृढ़ करते हैं।

5.5.2 मध्यकालीन उत्खनित स्थल – खजुराहो, चालुक्य एवं पल्लव स्थलों से प्राप्त मूर्तियाँ

मध्यकालीन भारत में मंदिर स्थापत्य और मूर्तिकला का अद्भुत उत्कर्ष देखा गया। इस काल में विभिन्न राजवंशों द्वारा संरक्षित मंदिर-स्थलों ने न केवल धार्मिक केंद्र के रूप में कार्य किया, बल्कि कला, संस्कृति और वास्तुकला के केंद्रबिंदु भी बने। इस युग में मूर्तिकला ने एक नई ऊँचाई प्राप्त की जहाँ प्रतीकात्मकता, सौंदर्यबोध, यथार्थवाद, और धार्मिक भावनाओं का सुंदर समन्वय देखने को मिलता है। इस खंड में हम तीन प्रमुख मूर्तिकला केंद्रों —खजुराहो (चंदेल वंश), चालुक्य (बादामी, पट्टदकल) और पल्लव (महाबलीपुरम)—की विश्लेषणात्मक चर्चा करेंगे।

1. खजुराहो की मूर्तिकला (चंदेल वंश)- स्थान और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

खजुराहो मध्य प्रदेश के छतरपुर ज़िले में स्थित एक प्रसिद्ध मंदिर समूह है। इसका निर्माण 950–1050 ई. के मध्य चंदेल वंश के शासकों ने कराया। यह यूनेस्को द्वारा विश्व धरोहर स्थल घोषित है। खजुराहो के मंदिर नागर शैली में निर्मित हैं और यहाँ 85 में से अब लगभग 25 मंदिर ही शेष बचे हैं।

मुख्य विशेषताएँ

1. मूर्तिकला का वैविध्य: यहाँ की मूर्तियाँ धार्मिक, लौकिक और कामशास्त्रीय विषयों को समेटे हुए हैं।
2. शिल्प बोध: यथार्थ और कल्पना का सुंदर समन्वय है – स्त्री-पुरुष की आकृतियाँ लयबद्ध मुद्राओं में अंकित हैं।
3. आध्यात्मिकता और सौंदर्य: इन मूर्तियों में सौंदर्यबोध के साथ धार्मिक प्रतीक जैसे अप्सराएँ, देवी-देवता, मिथुन युगल, यक्ष-यक्षिणी और दिक्पाल अंकित हैं।

प्रमुख मंदिर

- कंदरिया महादेव मंदिर: शिव को समर्पित, मूर्तिकला की दृष्टि से अत्यंत समृद्ध।
- लक्ष्मण मंदिर: विष्णु को समर्पित, जहाँ देवी-देवताओं की विविध मूर्तियाँ हैं।

- विश्वनाथ, पार्श्वनाथ, चतुर्भुज मंदिर: विभिन्न धार्मिक परंपराओं को दर्शाते हैं।

कामशास्त्रीय मूर्तियाँ

इन मूर्तियों को केवल काम विषयक नहीं समझा जाना चाहिए; वे आध्यात्मिक एकता, योग, तांत्रिक साधना और मानव जीवन के विविध पक्षों का चित्रण करती हैं। उनमें शारीरिक ललितता के साथ आत्मिक ऊर्जा का संकेत भी निहित है।

2. चालुक्य स्थलों की मूर्तिकला (बादामी, ऐहोल, पट्टदकल)- ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

चालुक्य वंश (6वीं से 8वीं सदी ई.) के शासकों ने कर्नाटक के बादामी, ऐहोल और पट्टदकल में अद्वितीय मंदिर और मूर्तिकला की परंपरा विकसित की। उन्होंने द्रविड़ और नागर शैलियों का समन्वय करते हुए विशेष 'वेसर शैली' की रचना की।

प्रमुख स्थल और मंदिर

1. बादामी: यहाँ की गुफाएँ शिव, विष्णु और जैन मूर्तियों से सजी हैं। प्रसिद्ध नटराज, हरिहर, और त्रिविक्रम मूर्तियाँ अत्यंत प्रभावशाली हैं।
2. ऐहोल: कला का प्रयोगशाला माना जाता है। यहाँ की लाड खान मंदिर, दुर्गा मंदिर, और मेगुटी जैन मंदिर मूर्तिकला के अनुपम उदाहरण हैं।
3. पट्टदकल: यूनेस्को विश्व धरोहर स्थल। यहाँ के मंदिरों में शैव, वैष्णव और जैन परंपराओं की मूर्तियाँ संगम की भावना को दर्शाती हैं।

मूर्तिकला की विशेषताएँ

- स्थूलता और सजीवता का संतुलन।
- पौराणिक आख्यानों का मूर्त रूप – विष्णु के दशावतार, देवी-देवताओं की युद्ध-लीलाएँ।
- भंगिमा, अलंकरण और यथार्थवादी भाव-प्रस्तुति।

नारी मूर्तियाँ

चालुक्य मूर्तिकला में नारी की छवि सजीव, ललित और सामर्थ्यपूर्ण दिखाई देती है – अप्सराएँ, देवी, मातृका, दुर्गा आदि रूपों में।

3. पल्लव स्थलों की मूर्तिकला (महाबलीपुरम)- ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

पल्लव वंश (6वीं–9वीं सदी ई.) दक्षिण भारत के तमिलनाडु में सत्तारूढ़ रहा। इस वंश के दौरान महाबलीपुरम (ममल्लापुरम) एक महान स्थापत्य और मूर्तिकला केंद्र के रूप में विकसित हुआ। यहाँ के शिल्प-निर्माण रॉक-कट और एकाश्म वास्तुकला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

प्रमुख स्थल और मूर्तिकला

1. पंच रथ: द्रविड़ मंदिर स्थापत्य का प्रारंभिक स्वरूप – धर्मराज, भीम, अर्जुन, नकुल-सहदेव और द्रौपदी रथ – सभी एक ही पत्थर से निर्मित।
2. महिषासुरमर्दिनी गुफा: दुर्गा की मूर्ति जिसमें वह राक्षस पर विजय प्राप्त करती है – शक्ति की सुंदर मूर्त अभिव्यक्ति।
3. अर्जुन तपस्या (या गंगा अवतरण): विशाल रिलीफ जिसमें सौ से अधिक पात्रों का चित्रण – पशु, साधु, देवता, आमजन।
4. कृष्ण मंडप: कृष्ण द्वारा गोवर्धन पर्वत उठाने की दृश्य-शैली में मूर्ति।

शिल्प की विशेषताएँ

- प्राकृतिक चट्टानों को तराशकर बनाई गई मूर्तियाँ।
- दृश्यों की निरंतरता – कथा चित्रण में प्रवाह।
- मानव और पशु जीवन का जीवंत चित्रण।
- भाव-भंगिमाओं की विविधता और ललित यथार्थ।

धार्मिक समन्वय

यहाँ शैव, वैष्णव और शक्त परंपराओं की मूर्तियाँ एक साथ मिलती हैं। यह धार्मिक सहिष्णुता और बहुलता की प्रतीक हैं।

सांस्कृतिक और ऐतिहासिक महत्व

- ये तीनों स्थल मूर्तिकला की विविध परंपराओं के केंद्र रहे हैं, जो क्षेत्रीय विशेषताओं और धार्मिक चेतना को दर्शाते हैं।

- इनमें भारतीय स्थापत्य एवं शिल्पकला की तकनीकी दक्षता, सौंदर्यबोध और प्रतीकात्मकता की अभिव्यक्ति मिलती है।
- धार्मिक एकता, सामाजिक समरसता और सांस्कृतिक बहुलता की भावना इनमें मूर्त रूप में विद्यमान है।
- आज ये स्थल भारत की विश्व धरोहर के प्रमुख भाग हैं और भारतीय संस्कृति के अध्ययन के लिए अनमोल स्रोत हैं।

मध्यकालीन भारत के मूर्तिकला केंद्र—खजुराहो, चालुक्य क्षेत्र, और महाबलीपुरम—भारतीय कला के शिखर हैं। ये न केवल मूर्तिशिल्प की उत्कृष्टता के उदाहरण हैं, बल्कि समाज की सांस्कृतिक, धार्मिक और दार्शनिक प्रवृत्तियों के भी दर्पण हैं। इन स्थलों से स्पष्ट होता है कि भारत में कला केवल सौंदर्य के लिए नहीं, बल्कि आध्यात्मिक अनुभूति, सामाजिक विमर्श और सांस्कृतिक निरंतरता का माध्यम रही है। इनका संरक्षण और अध्ययन भारतीय संस्कृति की जड़ों से जुड़ने का एक सशक्त साधन है।

5.6 मूर्त सांस्कृतिक विरासत की विशेषताएँ

1. ऐतिहासिकता एवं प्राचीनता- भारत की मूर्त सांस्कृतिक विरासत हजारों वर्षों पुरानी है। सिंधु घाटी सभ्यता (2500–1900 ई.पू.) की कांस्य नर्तकी, हड़प्पा की पुरोहित मूर्ति, लोथल और धोलावीरा की नगर संरचना, वैदिक और उत्तर वैदिक काल की यज्ञ वेदियाँ, मौर्यकालीन स्तंभ, अशोक के शिलालेख, गुप्तकालीन मंदिर, मध्यकालीन मंदिरों की मूर्तियाँ आदि सभी भारत की गहन ऐतिहासिकता को प्रतिपादित करते हैं। ये अवशेष यह प्रमाणित करते हैं कि भारत एक ऐसी सभ्यता है जिसमें निरंतरता और परिवर्तन दोनों साथ-साथ विकसित हुए हैं।

2. धार्मिकता एवं आध्यात्मिकता- भारत की अधिकांश मूर्त सांस्कृतिक विरासत धार्मिक पृष्ठभूमि से जुड़ी हुई है। बौद्ध, जैन, हिंदू, इस्लामी और सिख परंपराओं से संबंधित संरचनाएँ भारत में व्यापक रूप से फैली हुई हैं। साँची के स्तूप, अजंता-एलोरा की गुफाएँ, खजुराहो के मंदिर, महाबलीपुरम की शिल्पकला, ताजमहल, स्वर्ण मंदिर – ये सभी धार्मिक आस्था के मूर्त रूप हैं। इन संरचनाओं और मूर्तियों में केवल वास्तु सुंदरता ही नहीं है, बल्कि आत्मा की गहराइयों को छू लेने वाली आध्यात्मिकता भी विद्यमान है।

3. कलात्मकता और शिल्प सौंदर्य- भारतीय मूर्त सांस्कृतिक विरासत में कलात्मक उत्कर्ष और शिल्पकला की पराकाष्ठा दृष्टिगोचर होती है। प्राचीन मूर्तियों में अनुपात, मुद्रा, भाव, वस्त्र, आभूषण और अलंकरण का अत्यंत बारीकी से चित्रण मिलता है। मथुरा की भावपूर्ण बुद्ध मूर्तियाँ, गांधार की ग्रीको-बौद्ध शिल्पशैली, चालुक्य मंदिरों की विस्तृत

शिल्प सज्जा, पल्लवों की कथा चित्रणात्मक रॉक-कट मूर्तियाँ, चोलों की कांस्य मूर्तियाँ – ये सभी भारत की कलात्मक गहराई का परिचायक हैं। इन मूर्तियों में सौंदर्यबोध, रचनात्मकता और प्रतीकात्मकता का अद्भुत समन्वय है।

4. विविधता और क्षेत्रीयता- भारत की मूर्त सांस्कृतिक विरासत की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता इसकी क्षेत्रीय विविधता है। उत्तर भारत में नागर शैली, दक्षिण भारत में द्रविड़ शैली, दक्कन में वेसर शैली, पूर्वोत्तर में आदिवासी स्थापत्य, पश्चिमी भारत में गुफा वास्तुकला – ये सभी अपने-अपने क्षेत्रीय परंपराओं, धर्म, भौगोलिक स्थिति और सामाजिक संरचना के अनुसार विकसित हुईं। हर क्षेत्र की मूर्तियाँ और संरचनाएँ स्थानीय जनजीवन, लोककला, मिथकों, और धार्मिक विश्वासों को अभिव्यक्त करती हैं। उदाहरणतः खजुराहो की कामशास्त्रीय मूर्तियाँ, महाबलीपुरम की समुद्र से जुड़ी कथाएँ, और एलोरा में बहुधार्मिकता का समावेश – यह विविधता भारत की सांस्कृतिक बहुलता को दर्शाता है।

5. प्रतीकात्मकता और कथात्मकता- भारतीय मूर्तियाँ केवल सौंदर्य या धार्मिक उद्देश्यों तक सीमित नहीं हैं, बल्कि वे एक गहन प्रतीकात्मक और कथात्मक परंपरा का हिस्सा हैं। बुद्ध की मूर्तियाँ ध्यान, करुणा और मोक्ष का प्रतीक हैं; विष्णु के दशावतार जीवन के विविध पहलुओं का संकेत करते हैं; दुर्गा का महिषासुरमर्दिनी रूप शक्ति और नैतिक विजय का प्रतिनिधित्व करता है। इसके अलावा, स्तूपों के तोरणों, मंदिरों की दीवारों और शिलाओं पर कथाओं का मूर्त चित्रण मिलता है – जैसे जातक कथाएँ, रामायण-महाभारत के प्रसंग, लोककथाएँ आदि। ये मूर्त रूप में इतिहास और संस्कृति का संप्रेषण हैं।

6. सामाजिक और सांस्कृतिक दर्पण- मूर्त सांस्कृतिक धरोहर समाज के विविध पक्षों को उजागर करती है – स्त्री-पुरुष संबंध, शिल्पकारों की भूमिका, राजकीय संरक्षण, व्यापारिक संबंध, जाति व्यवस्था, लोक परंपराएँ आदि। अनेक मूर्तियों में नृत्य, संगीत, कृषि, युद्ध, प्रेम, शृंगार, तांत्रिक साधना और योग का चित्रण मिलता है, जिससे प्राचीन समाज की संपूर्ण संरचना का बोध होता है। ये मूर्तियाँ केवल धार्मिक नहीं, बल्कि सामाजिक इतिहास की भी सजीव गवाही हैं।

7. तकनीकी दक्षता और वैज्ञानिक दृष्टिकोण- मूर्त सांस्कृतिक विरासत निर्माण में प्रयुक्त तकनीक और वास्तुशास्त्र भी महत्वपूर्ण हैं। बिना सीमेंट के हजारों टन पत्थरों से निर्मित मंदिर, एकाश्म गुफाएँ, जल प्रबंधन की संरचनाएँ, सटीक ज्यामितीय गणनाएँ – ये सभी प्राचीन भारत के वैज्ञानिक दृष्टिकोण और तकनीकी दक्षता का प्रमाण हैं। खजुराहो, कोणार्क, महाबलीपुरम, ब्रहदेश्वर मंदिर आदि ऐसे उदाहरण हैं जहाँ मूर्तियों को प्रकाश, ध्वनि और गति के सिद्धांतों के साथ समायोजित किया गया है।

भारत की मूर्त सांस्कृतिक विरासत एक जीवित धरोहर है, जो अतीत की स्मृति को वर्तमान में संरक्षित करते हुए भविष्य को दिशा देती है। इसकी विशेषताएँ – ऐतिहासिकता, धार्मिकता, कलात्मकता, विविधता, प्रतीकात्मकता, सामाजिकता और तकनीकी समृद्धि – यह दर्शाती हैं कि भारतीय सभ्यता ने किस प्रकार भौतिक रूप में अपनी

सांस्कृतिक चेतना को मूर्त किया। इन धरोहरों का अध्ययन न केवल इतिहास को समझने का मार्ग है, बल्कि आत्म-चिंतन, सांस्कृतिक गौरव और रचनात्मक प्रेरणा का स्रोत भी है।

5.7 इन स्थलों का ऐतिहासिक महत्व

भारत के उत्खनित पुरातात्विक स्थल न केवल मूर्त सांस्कृतिक विरासत के भंडार हैं, बल्कि यह ऐतिहासिक जानकारी के अक्षय स्रोत भी हैं। ये स्थल अतीत के सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन के विविध पक्षों को प्रत्यक्ष रूप से प्रदर्शित करते हैं। सिंधु घाटी की नगर योजना, मौर्यकालीन स्तंभ, गुप्तकालीन मंदिर, चोल युग की कांस्य मूर्तियाँ और खजुराहो या महाबलीपुरम जैसे मध्यकालीन स्थल – सभी भारतीय इतिहास की निरंतरता और परिवर्तनशीलता को दर्शाते हैं।

1. सभ्यता और संस्कृति की निरंतरता का प्रमाण- भारत की विभिन्न सभ्यताओं के विकास और परिवर्तन को समझने में उत्खनित स्थल अत्यंत सहायक सिद्ध होते हैं। सिंधु घाटी सभ्यता के नगरों जैसे मोहनजोदड़ो, हड़प्पा और धोलावीरा की नगर योजना, जल निकासी, धातु विज्ञान और व्यापारिक संरचना हमें उस समय की परिपक्व और संगठित समाज व्यवस्था का आभास कराती है। यह स्पष्ट करता है कि भारतीय उपमहाद्वीप में सभ्यता का विकास स्वतःस्फूर्त और स्थानीय संदर्भों में हुआ, जिसका प्रभाव आगे चलकर वैदिक, महाजनपद और मौर्यकालीन संस्कृति पर भी पड़ा।

2. धार्मिक और वैचारिक विकास का दृष्टिकोण- भारत के उत्खनित स्थलों से प्राप्त मूर्तियाँ, स्तूप, मंदिर और गुफा स्थापत्य – धार्मिक विकास की निरंतरता को दर्शाते हैं। साँची, भरहुत, अमरावती जैसे बौद्ध स्थलों से बौद्ध धर्म के विभिन्न चरणों – हीनयान, महायान और वज्रयान – के विकास की जानकारी मिलती है। एलोरा और अजंता की गुफाएँ हिंदू, बौद्ध और जैन धर्मों के सहअस्तित्व को प्रकट करती हैं। खजुराहो के मंदिर शैव, वैष्णव और शाक्त परंपराओं के समन्वय को मूर्त रूप प्रदान करते हैं। इन स्थलों से यह भी ज्ञात होता है कि धार्मिक विश्वास केवल रूढ़िगत नहीं थे, बल्कि उनमें विविधता और सहिष्णुता का स्थान था।

3. सामाजिक व्यवस्था और जीवनशैली का परिचय- उत्खननों से प्राप्त शिल्पकला, चित्रकला, घरेलू वस्तुएँ, कृषि उपकरण, आभूषण, सिक्के, वाद्ययंत्र और युद्ध सामग्री हमें तत्कालीन सामाजिक जीवन की झलक देती हैं। इनसे यह ज्ञात होता है कि समाज बहुस्तरीय था – जिसमें राजपरिवार, ब्राह्मण, शिल्पकार, व्यापारी, किसान, सैनिक और स्त्रियाँ – सभी की भूमिकाएँ महत्वपूर्ण थीं। उदाहरण के लिए, चोल युग की कांस्य मूर्तियाँ हमें स्त्रियों की सामाजिक स्थिति, नृत्य, संगीत, और धर्म में उनकी भूमिका का बोध कराती हैं। सिंधु सभ्यता के घरों, स्नानागारों और मुहरों से वहाँ की सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था का स्वरूप उभरता है।

4. राजनीतिक इतिहास और राजकीय संरक्षण की जानकारी- इन स्थलों से प्राप्त लेख, मुहरें, मुद्राएँ, राजाज्ञाएँ, स्तंभलेख आदि तत्कालीन राजनीतिक संरचना को स्पष्ट करते हैं। उदाहरणार्थ, अशोक के शिलालेख केवल धार्मिक नीति नहीं बताते, बल्कि प्रशासनिक सोच, प्रजा के प्रति दृष्टिकोण और साम्राज्य विस्तार का भी संकेत देते हैं। चालुक्य और पल्लव शासकों द्वारा निर्मित मंदिर न केवल उनकी धार्मिक निष्ठा के प्रतीक हैं, बल्कि कला के संरक्षक और संस्कृति के संवाहक के रूप में उनके योगदान को भी रेखांकित करते हैं। इन स्थलों से यह भी ज्ञात होता है कि राजाओं द्वारा धार्मिक स्थलों को संरक्षण देने की परंपरा भारतीय राजनीति का हिस्सा थी।

5. अंतरराष्ट्रीय संपर्क और व्यापार का प्रमाण- प्राचीन भारत के उत्खननों से रोमन सिक्के, विदेशी मृदभांड, अरब शैली के नमूने, तथा ग्रीको-बौद्ध शिल्प शैलियाँ यह संकेत देती हैं कि भारत का विश्व से गहन संपर्क था। विशेषतः गुजरात, तमिलनाडु, आंध्रप्रदेश और बंगाल के स्थलों से समुद्री व्यापार के साक्ष्य प्राप्त होते हैं। ये भारत के अंतरराष्ट्रीय व्यापारिक नेटवर्क, सांस्कृतिक आदान-प्रदान और कूटनीतिक संबंधों को ऐतिहासिक रूप से पुष्ट करते हैं।

6. कला शैलियों और तकनीकी विकास का स्रोत- इन स्थलों से विभिन्न कला शैलियों – जैसे नागर, द्रविड़, वेसर – के विकास का क्रम ज्ञात होता है। शिल्प और स्थापत्य में प्रयुक्त तकनीकों से तत्कालीन विज्ञान, गणित, ज्यामिति और ध्वनि-प्रकाश ज्ञान की जानकारी मिलती है। महाबलीपुरम की रॉक-कट मूर्तियाँ, तंजावुर का ब्रहदेश्वर मंदिर, खजुराहो की विस्तृत भित्ति मूर्तियाँ – सभी तकनीकी प्रवीणता और सौंदर्य चेतना के अद्भुत उदाहरण हैं।

7. सांस्कृतिक बहुलता और समावेशिता का दर्पण- इन उत्खननों से यह स्पष्ट होता है कि भारत सदियों से सांस्कृतिक बहुलता को आत्मसात करता रहा है। एलोरा जैसी गुफाएँ जहाँ तीन धर्मों के प्रतीक सह-अस्तित्व में हैं, खजुराहो की विविध देवी-देवताओं की मूर्तियाँ, या महाबलीपुरम के शैव-वैष्णव शिल्प – ये सभी भारत की समावेशी संस्कृति का चित्र प्रस्तुत करते हैं। यह भारत की ऐसी विशेषता है जो इसे वैश्विक सांस्कृतिक मानचित्र पर विशिष्ट स्थान प्रदान करती है।

5.8 इन स्थलों के संरक्षण की आवश्यकता

भारत की मूर्त सांस्कृतिक विरासत, विशेषतः उत्खनित पुरातात्विक स्थल, देश की ऐतिहासिक पहचान और सांस्कृतिक निरंतरता के अमूल्य प्रमाण हैं। ये स्थल केवल धरोहर नहीं हैं, बल्कि प्राचीन जीवन, कला, वास्तुकला, धर्म और समाज के दर्पण भी हैं। अतः इन स्थलों का संरक्षण कार्य अनिवार्य हो जाता है ताकि आने वाली पीढ़ियाँ इस अमूल्य धरोहर से परिचित हो सकें।

1. ऐतिहासिक और सांस्कृतिक पहचान के लिए संरक्षण- उत्खनित स्थल हमारे अतीत की साक्षात अभिव्यक्तियाँ हैं। यदि ये नष्ट हो जाते हैं तो हम न केवल वास्तुकला या मूर्तियाँ खोते हैं, बल्कि अपने इतिहास की जड़ें भी खो देते हैं।

उदाहरणार्थ, सिंधु घाटी सभ्यता के नगर या खजुराहो के मंदिर केवल स्थापत्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं हैं, बल्कि वे उस सभ्यता के सोच, कला और दर्शन का प्रतिबिंब हैं। इन स्थलों का संरक्षण हमारी सांस्कृतिक अस्मिता और राष्ट्रीय गर्व की रक्षा हेतु अत्यावश्यक है।

2. शैक्षिक एवं अनुसंधान मूल्य की रक्षा- उत्खनित स्थल केवल देखने योग्य स्थान नहीं हैं, बल्कि वे शिक्षण एवं अनुसंधान के लिए महत्वपूर्ण केंद्र हैं। ये स्थल इतिहास, पुरातत्व, समाजशास्त्र, कला, वास्तुकला और मानवविज्ञान के विद्यार्थियों एवं शोधकर्ताओं के लिए प्राथमिक स्रोत हैं। यदि ये स्थल नष्ट हो जाते हैं, तो भविष्य की पीढ़ियों को उनकी संस्कृति और अतीत को समझने का अवसर नहीं मिलेगा। इन स्थलों का संरक्षण शिक्षा की गुणवत्ता और शोध की गहराई सुनिश्चित करता है।

3. पर्यटन और आर्थिक दृष्टिकोण से महत्व- खजुराहो, महाबलीपुरम, साँची, एलोरा, अजंता जैसे स्थल न केवल ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं, बल्कि ये भारत के सांस्कृतिक पर्यटन के प्रमुख केंद्र भी हैं। ये स्थल देश-विदेश से पर्यटकों को आकर्षित करते हैं जिससे स्थानीय अर्थव्यवस्था, रोजगार और बुनियादी ढाँचे का विकास होता है। यदि इन स्थलों का संरक्षण सही प्रकार से किया जाए तो पर्यटन उद्योग को बढ़ावा मिल सकता है और सांस्कृतिक विरासत के प्रति जनजागरूकता भी बढ़ेगी।

4. अंतर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्व- भारत यूनेस्को के "World Heritage Convention" का हस्ताक्षरकर्ता है और इस नाते उसे विश्व धरोहर स्थलों की रक्षा का उत्तरदायित्व भी है। कई भारतीय स्थल जैसे खजुराहो, महाबलीपुरम, एलोरा, और हड़प्पा विश्व धरोहर की सूची में सम्मिलित हैं। इन स्थलों की उपेक्षा न केवल राष्ट्रीय अपमान है, बल्कि यह अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भारत की छवि को भी प्रभावित करती है। संरक्षण न केवल स्थानीय बल्कि वैश्विक सांस्कृतिक उत्तरदायित्व है।

5.9. सारांश

भारत की मूर्त सांस्कृतिक विरासत के अंतर्गत उत्खनित पुरातात्विक स्थल न केवल प्राचीन भारतीय सभ्यता के भौतिक प्रमाण हैं, बल्कि वे उस सांस्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक संरचना को भी उजागर करते हैं जो भारतीय इतिहास की नींव रही है। इस इकाई में हमने विभिन्न पुरातात्विक स्थलों का विस्तार से अध्ययन किया है, जो भारत के विविध ऐतिहासिक युगों से संबंधित हैं – जैसे सिंधु घाटी सभ्यता, मौर्य, शुंग, सातवाहन, गुप्त एवं उत्तर-गुप्त काल। इन स्थलों से प्राप्त सामग्री – जैसे भवनों के अवशेष, मूर्तियाँ, सिक्के, शिलालेख, मृद्भांड, आभूषण, औज़ार आदि उस समय की तकनीकी प्रगति, कलात्मक दृष्टि, धार्मिक मान्यताओं तथा सामाजिक संगठन की विस्तृत जानकारी प्रदान करती है। नगर नियोजन, जल संरक्षण, लेखन प्रणाली, व्यापार, विदेशी संपर्क और धार्मिक समावेशिता जैसे अनेक पहलुओं को इन स्थलों ने उजागर किया है। विशेष रूप से हड़प्पा, मोहनजोदड़ो, धोलावीरा

जैसे स्थलों ने भारत की प्राचीनता और उसके नगरीय विकास की श्रेष्ठता को सिद्ध किया है। वहीं सांची, सारनाथ, अमरावती, नागार्जुनकोंडा, मथुरा जैसे बौद्ध एवं हिन्दू स्थल धार्मिक कला के उत्कर्ष का उदाहरण हैं।

इन स्थलों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि भारत की सांस्कृतिक विरासत केवल आध्यात्मिक नहीं, बल्कि तकनीकी, सामाजिक और वैश्विक दृष्टिकोण से भी अत्यंत समृद्ध रही है। इन स्थलों की खोज और संरक्षण भारतीय इतिहास के पुनर्निर्माण तथा सांस्कृतिक चेतना के लिए अत्यंत आवश्यक है।

भारत की मूर्त सांस्कृतिक विरासत, विशेषतः उत्खनित पुरातात्विक स्थलों के माध्यम से, न केवल हमारे अतीत की कलात्मक और शिल्पगत उत्कृष्टता को दर्शाती है, बल्कि यह भारत के बहुआयामी सांस्कृतिक, धार्मिक और सामाजिक जीवन की भी झलक प्रदान करती है। सिंधु घाटी सभ्यता की उत्कृष्ट मूर्तिकला से लेकर मध्यकालीन खजुराहो, चालुक्य और पल्लव स्थापत्य तक हर युग ने अपनी अनूठी कलात्मक दृष्टि का परिचय दिया है। इन स्थलों की खुदाई से प्राप्त मूर्तियाँ केवल कलात्मक वस्तुएँ नहीं हैं, बल्कि वे इतिहास के मूक साक्षी हैं, जो उस काल की धार्मिक धारणाओं, सामाजिक संरचना और तकनीकी प्रगति को अभिव्यक्त करती हैं।

इन स्थलों का गहन अध्ययन यह प्रमाणित करता है कि भारत की मूर्तिकला किसी भी कालखंड में केवल धार्मिक नहीं थी, बल्कि उसमें मानव जीवन, प्रकृति, सौंदर्यबोध और शिल्प-कौशल का गहन समन्वय था। यह समृद्ध विरासत भारत की सांस्कृतिक आत्मा की परिचायक है।

यद्यपि भारत के पास ऐसी अनगिनत मूर्त सांस्कृतिक धरोहरें हैं, किन्तु उनका संरक्षण आज भी एक बड़ी चुनौती है। बदलती जलवायु, नगरीकरण, संसाधनों की कमी, और जन-जागरूकता का अभाव, इन स्थलों के क्षरण में सहायक बन रहे हैं। अतः यह आवश्यक हो गया है कि हम इन स्थलों की महत्ता को न केवल शैक्षणिक और पर्यटन के स्तर पर समझें, बल्कि उसे जनसामान्य के मन में एक सांस्कृतिक कर्तव्य के रूप में स्थापित करें।

भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण जैसे संस्थानों की भूमिका महत्वपूर्ण है, लेकिन इन प्रयासों की सफलता तभी संभव है जब स्थानीय समुदाय, शैक्षणिक संस्थाएँ, और आम नागरिक भी इस अभियान में भागीदार बनें। संरक्षण केवल दीवारों की मरम्मत नहीं, बल्कि एक जीवंत विरासत को सहेजने और समझने की प्रक्रिया है।

5.10 शब्दावली

क्रमांक	शब्द	परिभाषा
1.	पुरातत्त्व	प्राचीन सभ्यताओं और संस्कृतियों के भौतिक अवशेषों का अध्ययन।

क्रमांक	शब्द	परिभाषा
2.	उत्खनन	भूमि की खुदाई करके नीचे छिपे प्राचीन अवशेषों को प्राप्त करने की प्रक्रिया।
3.	मृद्भांड	मिट्टी से बने बर्तन जो प्राचीन काल में उपयोग किए जाते थे और उत्खननों में पाए जाते हैं।
4.	शिलालेख	पत्थरों पर लिखे गए अभिलेख, जो प्राचीन लेखन और घोषणाओं का प्रमाण होते हैं।
5.	स्तूप	बौद्ध धर्म का स्मारक स्थल जिसमें बुद्ध के अवशेष या प्रतीक होते हैं।
6.	मूर्तिकला	पत्थर, धातु, मिट्टी आदि से बनी मूर्तियाँ, जो धार्मिक या सांस्कृतिक उद्देश्यों के लिए बनाई जाती थीं।
7.	नगर नियोजन	प्राचीन नगरों के सुव्यवस्थित निर्माण की प्रक्रिया जिसमें सड़कों, जल निकासी और मकानों की व्यवस्था होती थी।
8.	संरक्षण	पुरातात्विक स्थलों और वस्तुओं को नष्ट होने से बचाने की प्रक्रिया।
9.	ब्राह्मी लिपि	भारत की प्राचीनतम लिपियों में से एक, जिसका उपयोग कई शिलालेखों में हुआ है।
10.	सांस्कृतिक विरासत	किसी समाज या देश द्वारा समय के साथ संजोई गई कलात्मक, धार्मिक, सामाजिक और ऐतिहासिक परंपराएं।

5.11 स्वमूल्यांकित प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. मोहनजोदड़ो किस नदी के किनारे स्थित है?

   A. गंगा

   B. यमुना

   C. रावी

   D. सिंधु

2. भारत में सर्वप्रथम पुरातात्विक खुदाई का श्रेय किस विद्वान को जाता है?

   A. अलेक्ज़ेंडर कनिंघम

   B. जॉन मार्शल

   C. राधाकांत वर्मा

   D. डी.आर. भंडारकर

3. सांची किस धर्म से संबंधित स्थल है?

   A. जैन धर्म

   B. बौद्ध धर्म

   C. वैदिक धर्म

   D. तांत्रिक परंपरा

4. गांधार शैली में किस विदेशी कला का प्रभाव देखा जाता है?

   A. ईरानी

   B. रोमानी

   C. यूनानी

   D. मिस्री

5. निम्नलिखित में से कौन-सा स्थल मौर्य काल से संबंधित है?

   A. धोलावीरा

   B. पाटलिपुत्र

   C. लोटेश्वर

   D. कोटदीजी

6. नागार्जुनकोंडा का उत्खनन किस राज्य में स्थित है?

   A. महाराष्ट्र

   B. कर्नाटक

   C. आंध्र प्रदेश

   D. ओडिशा

स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर: 1. (D) सिंधु, 2. (A) अलेक्ज़ेंडर कनिंघम, 3. (B) बौद्ध धर्म, 4. (C) यूनानी, 5. (B) पाटलिपुत्र, 6. (C) आंध्र प्रदेश.

- लघु उत्तरीय प्रश्न (प्रत्येक उत्तर 100–150 शब्दों में दें)

1. सिंधु घाटी सभ्यता के दो प्रमुख उत्खनित स्थलों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।
2. मथुरा में प्राप्त मूर्तिकला की विशेषताएँ क्या थीं?
3. सारनाथ का ऐतिहासिक और धार्मिक महत्व स्पष्ट कीजिए।
4. पुरातात्विक स्थलों से हमें किस प्रकार की जानकारी प्राप्त होती है?
5. गुप्तकालीन स्थापत्य कला की दो विशेषताएँ लिखिए।

- दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (प्रत्येक उत्तर 300–500 शब्दों में दें)

1. भारत की मूर्त सांस्कृतिक विरासत को समझने में उत्खनित पुरातात्विक स्थलों की भूमिका पर विस्तार से चर्चा कीजिए।
2. हड़प्पा और मोहनजोदड़ो से प्राप्त नगर नियोजन और वास्तु के प्रमाणों का विश्लेषण कीजिए।
3. बौद्ध धर्म के प्रचार में सांची, अमरावती एवं नागार्जुनकोंडा जैसे स्थलों का क्या योगदान रहा?
4. मथुरा एवं गांधार कला शैलियों की तुलना कीजिए।
5. प्राचीन भारत के उत्खनित स्थलों के संरक्षण में आने वाली समस्याओं और उनके समाधान पर प्रकाश डालिए।

5.12. संदर्भ ग्रंथ सूची

भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण (ASI) – Annual Reports of the Archaeological Survey of India, विभिन्न वर्ष

बाशम, ए.एल. – प्राचीन भारत की सांस्कृतिक विरासत, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

उपेन्द्र सिंह – प्राचीन भारत: इतिहास एवं संस्कृति, पीयरसन पब्लिकेशन

इरावती कर्वे – हिंदू समाज और पुरातत्व, डेक्कन कॉलेज, पुणे

आर.सी. मजूमदार – प्राचीन भारत का इतिहास, भाग I, भारती भवन

रोमिला थापर – भारत का इतिहास, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस

डी.एन. झा – प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, मनीषा पब्लिशिंग हाउस

पुरातत्व विभाग, संस्कृति मंत्रालय – भारत की पुरातात्विक धरोहर: एक दृष्टि, सरकारी प्रकाशन

इकाई छः

भारत की मूर्त सांस्कृतिक विरासत- साहित्यिक एवं अभिलेखीय विरासत

इकाई की संरचना

6.1 परिचय

6.2 उद्देश्य

6.3 स्रोत

6.4 साहित्यिक स्रोत

6.4.1 साहित्यिक ग्रंथों का विश्लेषण

6.5 अभिलेखीय स्रोत

6.5.1 अभिलेखीय स्रोत के प्रकार

6.5.2 प्रमुख अभिलेखीय स्रोत

6.6 अभिलेखीय स्रोतों की आलोचनात्मक व्याख्या

6.7 साहित्यिक एवं अभिलेखीय विरासत का ऐतिहासिक महत्व

6.8 संरक्षण की आवश्यकता

6.9 सारांश

6.10 तकनीकी शब्दावली

6.11 स्वमूल्यांकित प्रश्न

6.12 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

6.13 संदर्भ ग्रन्थ सूची

6.14 निबंधात्मक प्रश्न

6.1 परिचय

भारत की सांस्कृतिक विरासत एक विशाल और जटिल परंपरा की वाहक है, जिसमें विविध धार्मिक, सामाजिक, कलात्मक, भाषाई और ऐतिहासिक तत्वों का संगम देखने को मिलता है। इस विरासत को दो प्रमुख श्रेणियों में बाँटा जा सकता है – मूर्त और अमूर्त विरासत। मूर्त सांस्कृतिक विरासत से आशय उन भौतिक तत्वों से है जो मनुष्य द्वारा निर्मित हैं और जो समय के साथ संरक्षित रहे हैं, जैसे – स्थापत्य, मूर्तियाँ, चित्रकला, सिक्के, शिलालेख, ग्रंथ और अभिलेख। मूर्त सांस्कृतिक विरासत के अंतर्गत साहित्यिक एवं अभिलेखीय स्रोत अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। ये स्रोत न केवल उस युग की सोच और समाज का प्रतिबिंब प्रस्तुत करते हैं, बल्कि हमें ऐतिहासिक घटनाओं, शासकों, प्रशासनिक व्यवस्था, धार्मिक परंपराओं और सांस्कृतिक मूल्यों के बारे में गहन जानकारी भी प्रदान करते हैं। इन माध्यमों से अतीत को जानने और समझने की एक वैज्ञानिक व साक्ष्य-आधारित दृष्टि विकसित होती है।

भारत का साहित्यिक भंडार अत्यंत प्राचीन और समृद्ध रहा है। वैदिक साहित्य, उपनिषद, महाकाव्य (रामायण और महाभारत), बौद्ध और जैन ग्रंथ, संस्कृत, प्राकृत और तमिल साहित्य आदि न केवल धार्मिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं, बल्कि सामाजिक, दार्शनिक और राजनीतिक दृष्टिकोण से भी अत्यंत मूल्यवान हैं। इन ग्रंथों में वर्णित विचारधाराएँ, रीति-रिवाज़, शासन प्रणाली और जीवन मूल्य, भारतीय सभ्यता की निरंतरता को दर्शाते हैं। इसी प्रकार, अभिलेखीय स्रोत – जैसे शिलालेख, ताम्रपत्र, हस्तलिखित ग्रंथ, प्रशस्तियाँ और राजाज्ञाएँ – इतिहास लेखन की दृष्टि से अपरिहार्य हैं। मौर्यकालीन अशोक के शिलालेखों से लेकर गुप्त, चालुक्य, चोल और दिल्ली सल्तनत तक के अभिलेख, तत्कालीन प्रशासन, धर्मनीति और सामाजिक संरचना का प्रमाणिक विवरण देते हैं। इन अभिलेखों की लिपियाँ और भाषाएँ भी भाषाई विकास और संस्कृति के प्रसार को दर्शाती हैं।

6.2 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप –

1. भारत की साहित्यिक विरासत के प्रमुख स्रोतों की पहचान कर सकेंगे।
2. अभिलेखीय स्रोतों के प्रकार एवं महत्व को समझ पाएँगे।
3. साहित्यिक एवं अभिलेखीय विरासत के ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और शैक्षणिक महत्व को स्पष्ट कर सकेंगे।
4. इस विरासत के संरक्षण की आवश्यकता एवं चुनौतियों को समझ पाएँगे।

6.3 स्रोत

इतिहास लेखन के लिए स्रोत अत्यंत आवश्यक होते हैं, क्योंकि इन्हीं के माध्यम से अतीत की घटनाओं और जीवन पद्धतियों की जानकारी मिलती है। भारत की मूर्त सांस्कृतिक विरासत के अध्ययन में दो प्रमुख प्रकार के स्रोतों की भूमिका महत्वपूर्ण है – साहित्यिक स्रोत और अभिलेखीय स्रोत। ये दोनों प्रकार के स्रोत एक-दूसरे के पूरक के रूप में कार्य करते हैं और इतिहास की बहुआयामी समझ को समृद्ध बनाते हैं।

साहित्यिक स्रोत वे ग्रंथ और रचनाएँ हैं जो प्राचीन काल से लेकर मध्यकाल तक विभिन्न भाषाओं और विधाओं में लिखे गए थे। इनमें वैदिक साहित्य, महाकाव्य, बौद्ध व जैन ग्रंथ, धर्मशास्त्र, स्मृतियाँ, पुराण, ऐतिहासिक आख्यान, यात्रावृत्तांत, धार्मिक भाष्य और कालानुक्रमिक विवरण शामिल हैं। ये स्रोत धार्मिक विश्वासों, सामाजिक ढांचे, राजनीतिक घटनाओं और सांस्कृतिक मूल्यों का गहन चित्र प्रस्तुत करते हैं। रामायण, महाभारत, त्रिपिटक, अंग, तिरुक्कुरल और विदेशी यात्रियों के यात्रा-वृत्तांत, जैसे फाह्यान और ह्वेनसांग, इस श्रेणी में आते हैं।

अभिलेखीय स्रोत, जो शिलालेखों, ताम्रपत्रों, मुद्रित आदेशों, दानपत्रों और प्रशस्तियों के रूप में प्राप्त होते हैं, हमें शासकों की नीति, प्रशासन, भूमि दान, कर व्यवस्था, युद्ध, धर्म प्रचार और सांस्कृतिक गतिविधियों की प्रमाणिक जानकारी प्रदान करते हैं। ये अभिलेख प्रायः पत्थर, धातु या अन्य स्थायी माध्यमों पर अंकित होते थे और इनकी भाषा और लिपियाँ क्षेत्र और काल के अनुसार भिन्न होती थीं। उदाहरणस्वरूप, अशोक के शिलालेख ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपियों में मिलते हैं, जबकि गुप्त कालीन अभिलेख नागरी लिपि में। इन स्रोतों के माध्यम से हम ऐतिहासिक तथ्यों को तथ्यात्मक रूप से पुष्ट कर सकते हैं।

6.4 साहित्यिक स्रोत

भारत की मूर्त सांस्कृतिक विरासत को समझने के लिए साहित्यिक स्रोत सबसे महत्वपूर्ण आधार हैं। ये ग्रंथ केवल साहित्यिक कृतियाँ नहीं हैं, बल्कि उस समय के राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक जीवन के दस्तावेज भी हैं। प्राचीन भारत में रचित ये ग्रंथ विभिन्न भाषाओं—संस्कृत, पाली, प्राकृत, तमिल में उपलब्ध हैं। इनका अध्ययन हमारे अतीत की गहराई, सांस्कृतिक निरंतरता और सभ्यता के विकास को स्पष्ट करता है। इन प्रमुख साहित्यिक ग्रंथों का विश्लेषण निम्न प्रकार से है—

1. वैदिक साहित्य- वैदिक साहित्य भारतीय संस्कृति की आधारशिला है। इसमें चार वेद—ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद सहित ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद सम्मिलित हैं। ऋग्वेद (1500–1000 ई.पू. के मध्य) में 1028 सूक्त हैं, जिनमें देवताओं की स्तुतियाँ, यज्ञ-विधि, समाज की संरचना और प्राकृतिक शक्तियों के महत्व का उल्लेख मिलता है। सामवेद मुख्यतः गायन और मंत्रों से संबंधित है, जो वैदिक यज्ञों में संगीत की भूमिका को दर्शाता है। यजुर्वेद

में यज्ञ की क्रियाविधि और मंत्र हैं, जो वैदिक अनुष्ठानों का प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। अथर्ववेद में लोक-जीवन, चिकित्सा, जादू-टोना, कृषि और लोकमान्यताओं का वर्णन मिलता है। इन ग्रंथों से हमें वैदिक समाज की धार्मिक व्यवस्था, आर्थिक गतिविधियाँ, पशुपालन, कृषि, युद्ध और जाति-व्यवस्था के विकास के प्रमाण मिलते हैं।

2. महाकाव्य – (रामायण और महाभारत)- महाकाव्य केवल साहित्यिक रचनाएँ नहीं हैं, बल्कि तत्कालीन समाज और राजनीति के दर्पण हैं। रामायण (वाल्मीकि रचित) में आदर्श नायक, नारी की मर्यादा, पारिवारिक नैतिकता, और राज्य-व्यवस्था के आदर्श रूप का वर्णन है। इसमें नगरों, महलों, वनों, वाणिज्य मार्गों और धार्मिक स्थलों के चित्र भी मिलते हैं। महाभारत (व्यास रचित) को "इतिहास" की श्रेणी में रखा जाता है। इसमें युद्ध-कला, प्रशासन, दान-धर्म, शिक्षा व्यवस्था, नगर-योजना और सामाजिक संबंधों का गहरा विवरण है। महाभारत का भीष्म-पर्व और शांतिपर्व तत्कालीन राजनीतिक दर्शन का महत्वपूर्ण स्रोत है। इन महाकाव्यों से प्राप्त स्थापत्य, आभूषण, वस्त्र, युद्धास्त्र, रथ, मंदिर और धार्मिक परंपराओं का विवरण मूर्त सांस्कृतिक विरासत के अध्ययन में अमूल्य है।

3. पुराण- पुराणों की संख्या 18 है, जिनमें भागवत, विष्णु, शिव, ब्रह्म, मार्कंडेय, अग्नि, स्कंद, पद्म, वराह आदि प्रमुख हैं। ये ग्रंथ पौराणिक कथाओं के साथ-साथ ऐतिहासिक घटनाओं और राजवंशों की वंशावलियों का भी वर्णन करते हैं। पुराणों में मंदिरों के निर्माण की विधि, मूर्तिकला, स्थापत्य शास्त्र, नगर नियोजन और तीर्थ-यात्राओं का विस्तृत वर्णन मिलता है। इनसे धार्मिक उत्सवों, लोककथाओं, नृत्य, संगीत और चित्रकला की जानकारी प्राप्त होती है।

4. बौद्ध साहित्य- बौद्ध साहित्य का मुख्य स्रोत त्रिपिटक है—विनय पिटक (संघ के नियम), सुत्त पिटक (बुद्ध के उपदेश) और अभिधम्म पिटक (दार्शनिक चर्चा)। इसके अतिरिक्त जातक कथाएँ बौद्ध धर्म के नैतिक आदर्श और लोक-जीवन का जीवंत चित्र प्रस्तुत करती हैं। बौद्ध ग्रंथों में तत्कालीन नगरों, व्यापारिक मार्गों, मठों, स्तूपों और कला-केंद्रों का उल्लेख मिलता है। नालंदा, विक्रमशिला जैसे विश्वविद्यालयों का उल्लेख इन ग्रंथों में विस्तृत रूप से मिलता है।

5. जैन साहित्य- जैन धर्म के आगम और अगमबाह्य ग्रंथ तत्कालीन समाज और संस्कृति के महत्वपूर्ण स्रोत हैं। आगम ग्रंथों में जैन मुनियों के नियम, उपदेश, ब्रह्मचर्य, और अहिंसा के सिद्धांत हैं। प्राकृत भाषा में रचित ये ग्रंथ नगर-जीवन, व्यापार, वास्तुकला और मूर्तिकला के उल्लेख से भरपूर हैं। जैन ग्रंथों में गुजरात, राजस्थान और मध्य भारत के मंदिरों व मूर्तियों का विवरण मिलता है।

6. शास्त्रीय संस्कृत साहित्य- संस्कृत के महाकाव्य, नाटक और गद्य-रचनाएँ भी सांस्कृतिक विरासत के दर्पण हैं। कालिदास के "रघुवंश", "कुमारसंभव" और "मेघदूत" में प्रकृति, नगर, महलों, मंदिरों और समाज का अद्भुत चित्रण

है। भास और भवभूति के नाटकों में दरबार, सेना, संगीत और नृत्य की झलक मिलती है। बाणभट्ट की "हर्षचरित" और "कादंबरी" में सातवीं शताब्दी के राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन का सजीव चित्र है।

7. विदेशी यात्रियों के विवरण- विदेशी यात्रियों ने भारत के जीवन को बाहरी दृष्टिकोण से देखा और लिखा, जो बहुत मूल्यवान है। फाह्यान और ह्वेनसांग ने गुप्तकाल और हर्षवर्धन काल के समाज, शिक्षा और धर्म का विवरण दिया। अल-बरूनी ने भारत के भूगोल, गणित, ज्योतिष, धर्म और सामाजिक रीतियों का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया। इब्नबतूता ने दिल्ली सल्तनत के प्रशासन, नगर-योजना और व्यापारिक केंद्रों का वर्णन किया।

8. क्षेत्रीय भाषाओं का साहित्य- तमिल संगम साहित्य, अवधी में तुलसीदास का "रामचरितमानस", ब्रजभाषा में सूरदास और रसखान की रचनाएँ भी अपने समय की मूर्त विरासत का दर्पण हैं। संगम साहित्य से दक्षिण भारत के नगर, बंदरगाह, युद्ध और व्यापारिक संपर्कों का ज्ञान मिलता है। मध्यकालीन भक्ति साहित्य में मंदिर निर्माण, मूर्तिकला और धार्मिक मेलों के उल्लेख हैं। प्रमुख साहित्यिक ग्रंथ भारतीय मूर्त सांस्कृतिक विरासत के अमूल्य स्रोत हैं। इनमें वर्णित स्थापत्य, मूर्तियाँ, नगर-योजना, वस्त्र, आभूषण, युद्ध-कला, धार्मिक अनुष्ठान और लोकजीवन के चित्र हमारे अतीत की सजीव झलक प्रस्तुत करते हैं। इन ग्रंथों का विश्लेषण करके इतिहासकार अतीत की सांस्कृतिक संरचना और विकास यात्रा को पुनः निर्मित करते हैं।

6.4.1 साहित्यिक ग्रंथों का विश्लेषण

साहित्यिक ग्रंथ केवल साहित्यिक अभिव्यक्ति नहीं, बल्कि उस समय की संस्कृति, समाज, धार्मिक परंपराओं, कला और जीवन मूल्यों का जीवंत दस्तावेज होते हैं। भारत के प्राचीन और मध्यकालीन साहित्यिक स्रोत हमें न केवल ऐतिहासिक घटनाओं की जानकारी देते हैं, बल्कि यह भी बताते हैं कि लोग कैसे रहते थे, किस प्रकार के भवन, मूर्तियाँ, वस्त्र और आभूषण प्रचलित थे, धार्मिक अनुष्ठान कैसे होते थे और आर्थिक जीवन की संरचना कैसी थी। इन ग्रंथों से प्राप्त सांस्कृतिक तत्वों का विश्लेषण निम्न प्रकार किया जा सकता है—

1. धार्मिक और आध्यात्मिक तत्व- प्राचीन भारतीय साहित्य में धर्म का केंद्रीय स्थान है। वेद और उपनिषद ईश्वर, आत्मा, ब्रह्म और मोक्ष जैसे दार्शनिक विषयों का प्रतिपादन करते हैं। बौद्ध त्रिपिटक और जैन आगम अहिंसा, करुणा, संयम और आत्म-शुद्धि पर बल देते हैं। महाकाव्य (रामायण, महाभारत) धार्मिक कर्तव्य, धर्म पालन और नैतिक मूल्यों को जीवन का आधार मानते हैं। इनसे यह स्पष्ट होता है कि भारतीय समाज में धर्म न केवल आस्था का विषय था, बल्कि राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक व्यवस्था का भी केंद्र था।

2. कला और स्थापत्य- साहित्यिक ग्रंथों में विभिन्न प्रकार की कलाओं और स्थापत्य शैलियों का विस्तृत वर्णन मिलता है— शिल्पशास्त्र और स्थापत्य शास्त्र में मंदिर निर्माण की विधि, मूर्तियों के अनुपात, चित्रकला के नियम और

भित्तिचित्रों की शैली का विवरण है। कालिदास के काव्यों में महलों, उद्यानों, जल महलों और मंदिरों का सजीव चित्रण है। संगम साहित्य में दक्षिण भारत के बंदरगाह नगर, राजमहल, सभा भवन और नृत्यशालाओं का वर्णन मिलता है। इन विवरणों से यह स्पष्ट होता है कि भारतीय स्थापत्य और कला का विकास अत्यंत उच्च स्तर पर था, और मूर्त सांस्कृतिक विरासत के रूप में यह आज भी विद्यमान है।

3. समाजिक जीवन और रीति-रिवाज- साहित्यिक ग्रंथ तत्कालीन समाज की संरचना और रीति-रिवाजों का स्पष्ट चित्र प्रस्तुत करते हैं— ऋग्वेद में परिवार, विवाह, यज्ञ, दान और अतिथि सत्कार के उल्लेख हैं। महाभारत में सभा-जीवन, वाद-विवाद, विवाह-संस्कार, युद्ध-समारोह और अतिथि सत्कार का विस्तृत वर्णन है। जैन आगम में नगर जीवन, व्यापारिक समुदाय, उत्सव और धार्मिक मेलों के चित्र हैं। इन विवरणों से यह सिद्ध होता है कि समाज में विविध जातियाँ, वर्ग और व्यवसायिक समुदाय मिलकर एक जटिल लेकिन संगठित जीवन व्यतीत करते थे।

4. वस्त्र, आभूषण और अलंकरण- भारतीय साहित्यिक ग्रंथों में वस्त्रों और आभूषणों का वर्णन न केवल सौंदर्यबोध को दर्शाता है, बल्कि आर्थिक और सामाजिक स्थिति को भी इंगित करता है— कालिदास और भवभूति के नाटकों में रेशम, सूती और ऊनी वस्त्रों के साथ स्वर्ण, रत्न और मोती के आभूषणों का वर्णन है। संगम साहित्य में मोतियों, सोने की चूड़ियों और फूलों के हार का उल्लेख मिलता है। विदेशी यात्रियों के विवरणों में भारतीय वस्त्रों की महीनता और रंगाई-छपाई की विशेषताएँ बताई गई हैं। इनसे यह समझ में आता है कि वस्त्र और आभूषण भारतीय सांस्कृतिक पहचान का अभिन्न अंग थे।

5. भाषा और साहित्यिक अभिव्यक्ति- साहित्यिक ग्रंथों से भाषा-विकास और साहित्यिक शैलियों का ज्ञान होता है— वैदिक संस्कृत से शास्त्रीय संस्कृत और फिर क्षेत्रीय भाषाओं का विकास स्पष्ट होता है। पाली और प्राकृत का प्रयोग बौद्ध और जैन ग्रंथों में सरल जनभाषा के रूप में हुआ। तमिल संगम साहित्य द्रविड़ भाषाओं के प्राचीन रूप को संरक्षित करता है। भाषा का यह विकास मूर्त सांस्कृतिक विरासत में अभिलेखों, शिलालेखों और पांडुलिपियों के रूप में आज भी संरक्षित है।

6. आर्थिक और व्यापारिक तत्व- साहित्यिक ग्रंथ तत्कालीन आर्थिक गतिविधियों का भी विवरण देते हैं— ऋग्वेद में पशुपालन और कृषि को मुख्य व्यवसाय बताया गया है। जातक कथाओं में व्यापारिक कारवाँ, समुद्री व्यापार और हस्तशिल्प उद्योग का उल्लेख मिलता है। संगम साहित्य में रोमन साम्राज्य के साथ व्यापारिक संबंध, मसाले और वस्त्र निर्यात के प्रमाण हैं। ये विवरण मूर्त सांस्कृतिक विरासत के रूप में पाए गए सिक्कों, मुहरों, गोदामों और बंदरगाह अवशेषों से मेल खाते हैं।

7. शिक्षा और ज्ञान परंपरा- साहित्यिक स्रोतों में शिक्षा की परंपरा और विषयों की विविधता का वर्णन है— उपनिषद में गुरुकुल परंपरा और वेदांत अध्ययन का उल्लेख है। नालंदा और तक्षशिला विश्वविद्यालयों का विवरण बौद्ध ग्रंथों और यात्रावृत्तांतों में मिलता है। गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद, संगीत और नाट्यकला से संबंधित ग्रंथ ज्ञान परंपरा की समृद्धि दर्शाते हैं।

साहित्यिक ग्रंथों में निहित सांस्कृतिक तत्व हमारे अतीत का बहुआयामी चित्र प्रस्तुत करते हैं—धर्म, कला, समाज, भाषा, अर्थव्यवस्था और ज्ञान की परंपरा। इनसे हम न केवल अपने इतिहास को समझ पाते हैं, बल्कि यह भी जान पाते हैं कि भारत की मूर्त सांस्कृतिक विरासत कितनी गहरी और विविधतापूर्ण है। साहित्य और विरासत का यह संबंध हमारी सांस्कृतिक पहचान का आधार है।

6.5 अभिलेखीय स्रोत

अभिलेखीय स्रोत वे सभी दस्तावेज, लेख, पांडुलिपियाँ, शिलालेख, ताम्रपत्र, सरकारी रजिस्टर, व्यक्तिगत पत्र और अन्य लिखित सामग्री हैं, जो ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं और जिन्हें संग्रहीत कर सुरक्षित रखा गया है। इनकी कुछ प्रमुख विशेषताएँ— प्रामाणिकता, स्थायित्व एवं विशद जानकारी देना हैं। भारत की मूर्त सांस्कृतिक विरासत के अध्ययन में अभिलेखीय स्रोत अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। ये ऐसे लिखित या अंकित प्रमाण हैं जो समय के साथ संरक्षित रहे हैं और जिनसे तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों की प्रत्यक्ष जानकारी मिलती है। अभिलेखीय स्रोत किसी भी युग के प्रशासनिक ढांचे, कानूनी व्यवस्था, व्यापारिक संपर्क, सांस्कृतिक गतिविधियों और ऐतिहासिक घटनाओं का प्राथमिक साक्ष्य होते हैं।

6.5.1 अभिलेखीय स्रोत के प्रकार

(क) शिलालेख (Inscriptions)- पत्थर, चट्टान, स्तंभ, गुफाओं या मंदिरों की दीवारों पर खुदे हुए लेख शिलालेख की श्रेणी में आते हैं | उदाहरण के लिए - अशोक के शिलालेख, इलाहाबाद प्रशस्ति, जूनागढ़ शिलालेख, हथिगुम्फा लेख प्रमुख शिलालेख है । इन शिलालेखों से राजाज्ञाएँ, दानपत्र, युद्ध विजय, धार्मिक उपदेश, प्रशासनिक सुधार और सामाजिक संदेशों की जानकारी प्राप्त होती हैं।

(ख) ताम्रपत्र (Copper Plate Grants)- तांबे की पट्टियों पर खुदे हुए लेख, जिन्हें आमतौर पर भूमि दान, कर-मुक्ति या विशेषाधिकार प्रदान करने के लिए जारी किया जाता था। उदाहरण के लिए – सातवाहन, गुप्त, चालुक्य, राष्ट्रकूट और पाल शासकों के ताम्रपत्र। इन ताम्रपत्रों से तत्कालीन भूमि स्वामित्व, कृषि प्रणाली, कर व्यवस्था और सामाजिक संरचना की जानकारी प्राप्त होती है ।

(ग) पांडुलिपियाँ (Manuscripts)- हस्तलिखित ग्रंथ, जो ताड़पत्र, भोजपत्र, कपड़े या कागज़ पर लिखे जाते थे। उदाहरण के लिए- बौद्ध त्रिपिटक, जैन आगम, संस्कृत महाकाव्य, आयुर्वेद, गणित और खगोलशास्त्र के ग्रंथ। इनसे साहित्य, विज्ञान, दर्शन और धार्मिक विचारों की जानकारी प्राप्त होती है।

(घ) अभिलेखागार दस्तावेज (Archival Records)- सरकारी कार्यालयों, दरबारों, न्यायालयों और नगर निगमों के रजिस्टर, पत्र, आदेश, कर विवरण, जनगणना रिपोर्ट आदि अभिलेखागार दस्तावेज की श्रेणी में आते है। उदाहरण के लिए – मुगलकालीन फ़ारसी दफ्तरी रिकॉर्ड, ब्रिटिश कालीन ज़िला गज़ेटियर, भूमि राजस्व रजिस्टर। इनके माध्यम से तत्कालीन प्रशासनिक ढांचे, जनसंख्या, व्यापार और कानून-व्यवस्था की स्थिति का चित्रण किया जा सकता है।

(ङ) व्यक्तिगत अभिलेख (Private Records)- इस श्रेणी में व्यक्तिगत पत्र, डायरी, संस्मरण, व्यापारिक खाता-बही और पारिवारिक दस्तावेज आते है। उदाहरण के लिए – कवियों, विद्वानों और स्वतंत्रता सेनानियों के पत्र-संग्रह। इनके अध्ययन द्वारा लेखक के व्यक्तिगत दृष्टिकोण से सामाजिक और ऐतिहासिक घटनाओं के विवरण का मूल्यांकन किया जा सकता है।

6.5.2 प्रमुख अभिलेखीय स्रोत

1. अशोक के शिलालेख:- अशोक के कुल 33 शिलालेख भारत, नेपाल और पाकिस्तान में पाए गए हैं। ये बौद्ध धर्म के प्रचार, नैतिक जीवन, दया, प्रजापालन और धर्म विजय की घोषणा करते हैं। इनमें भाषा प्राकृत और लिपि ब्राह्मी है, उत्तर-पश्चिम भारत में खरोष्ठी भी प्रयोग की गई।

2. हथीगुंफा अभिलेख:- उड़ीसा के खंडगिरि पर्वत पर खुदा यह अभिलेख खारवेल के शासनकाल का प्रमाण है। इसमें राजा के कार्यों, सैन्य अभियानों और धार्मिक दान की विस्तृत जानकारी दी गई है।

3. इलाहाबाद प्रशस्ति (समुद्रगुप्त):- हरिषेण द्वारा रचित यह संस्कृत भाषा में ब्राह्मी लिपि में अंकित प्रशस्ति समुद्रगुप्त की विजयों, राजनीतिक नीति और सैन्य शक्ति का चित्रण करती है। इसे "भारत का नेपोलियन" साबित करने में इसका योगदान है।

4. बिल्हारी और एरण के अभिलेख:- यह गुप्त व पूर्व-मध्यकालीन काल के अभिलेख हैं जो तत्कालीन प्रशासन, कर व्यवस्था और सैन्य संचालन के साक्ष्य देते हैं।

5. राजराजचोल मंदिर अभिलेख (तंजावुर):- तमिल भाषा में लिखे गए इन अभिलेखों में चोल सम्राट के मंदिर निर्माण, पुजारियों के कार्य, दान व्यवस्था और सांस्कृतिक गतिविधियों का उल्लेख है। यह मंदिर संस्कृति और प्रशासन के मेल का उदाहरण है।

6.6 अभिलेखीय स्रोतों की आलोचनात्मक व्याख्या

अभिलेखीय स्रोत ऐतिहासिक अध्ययन के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण साधन हैं। वे न केवल शासकों के आदेश, सामाजिक परंपराएँ और धार्मिक व्यवस्थाएँ बताते हैं, बल्कि अपने समय की वास्तविकता के निकटतम लिखित प्रमाण भी होते हैं। तथापि, इन स्रोतों का उपयोग करते समय एक इतिहासकार को विवेकपूर्ण और आलोचनात्मक दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। केवल लेख में निहित जानकारी को सत्य मान लेना उचित नहीं होता, क्योंकि हर अभिलेख एक विशेष प्रयोजन, राजनीतिक उद्देश्य अथवा धार्मिक भावना के साथ निर्मित होता है।

1. उद्देश्य की पहचान- किसी भी अभिलेख को समझने का पहला कदम उसके उद्देश्य को जानना है। अधिकांश अभिलेख किसी राजा की उपलब्धियों की प्रशंसा, धार्मिक दान की घोषणा, विजय विवरण या सामाजिक प्रतिष्ठा को बढ़ाने के उद्देश्य से लिखे गए होते थे। उदाहरण के लिए, समुद्रगुप्त की इलाहाबाद प्रशस्ति में केवल उसकी विजयों और गुणों का वर्णन है, पर उसकी विफलताओं या राजनीतिक संघर्षों का कोई उल्लेख नहीं मिलता। अतः यह स्पष्ट है कि अभिलेखों में पुर्वाग्रह (bias) की संभावना होती है।

2. भाषा-शैली की प्रशस्तिपरकता- प्रायः राजाओं के अभिलेखों में भाषा अत्यंत अलंकारिक और प्रशस्तिपरक होती है। राजा को "चक्रवर्ती", "धर्मरक्षक", "परम भागवत" जैसी उपाधियों से विभूषित किया जाता है। इससे वास्तविक राजनीतिक स्थिति को समझने में भ्रम हो सकता है। उदाहरण के लिए, किसी राजा को "त्रैलोक्य विजेता" कहा जाना, उस क्षेत्रीय शासक की अतिरंजित प्रतिष्ठा को दर्शा सकता है। ऐसे वर्णनों को शाब्दिक नहीं, बल्कि प्रतीकात्मक रूप में देखना चाहिए।

3. शासकीय नियंत्रण और प्रचार माध्यम- अभिलेख प्रायः शासनतंत्र के नियंत्रण में तैयार किए जाते थे। वे सत्ता के वैधीकरण (legitimization) का माध्यम होते थे। जैसे अशोक के शिलालेखों का उद्देश्य धर्म (धम्म) का प्रचार था, किंतु वे उसकी नीतियों की आलोचना नहीं करते। इसी प्रकार मध्यकालीन सुल्तानों द्वारा जारी फरमान या तुगलक कालीन आदेश केवल शाही दृष्टिकोण को दर्शाते हैं। आलोचनात्मक विश्लेषण हेतु यह देखना आवश्यक होता है कि किसने, कब, क्यों और किन परिस्थितियों में उस अभिलेख को तैयार करवाया।

4. अनुपस्थित सूचनाएँ (Silences in Records)- अभिलेखों में अक्सर समाज के वंचित वर्गों, महिलाओं, श्रमिकों, दासों या आमजन की भूमिका का अभाव होता है। उदाहरणस्वरूप, अधिकांश मंदिर शिलालेखों में केवल दानदाता, शिल्पी या राजा का उल्लेख होता है, परंतु निर्माण में लगे सैकड़ों मजदूरों, स्त्रियों या समाज के अन्य घटकों का उल्लेख नहीं होता। यह इतिहास में 'मौन क्षेत्र' (historical silences) को जन्म देता है, जिसे साहित्यिक, पुरातात्विक और जनश्रुतियों के माध्यम से भरने का प्रयास किया जाता है।

5. लिपि और भाषा संबंधी सीमाएँ- कई अभिलेखों की लिपियाँ आज के शोधकर्ताओं के लिए दुरूह हो सकती हैं। प्राचीन ब्राह्मी, खरोष्ठी, शारदा आदि लिपियों को पढ़ने के लिए विशेष प्रशिक्षण आवश्यक होता है। कुछ अभिलेख अत्यंत क्षतिग्रस्त, अपूर्ण या अस्पष्ट होते हैं, जिससे अर्थ निकालना कठिन हो जाता है। इसके अतिरिक्त, एक ही शब्द का विभिन्न भाषाओं में अलग अर्थ होना भी व्याख्या को प्रभावित करता है।

6. भौगोलिक और सांस्कृतिक सीमाएँ- कई अभिलेख केवल एक सीमित क्षेत्र या जातीय-सांस्कृतिक समूह से संबंधित होते हैं। दक्षिण भारत के चोल या पल्लव अभिलेख तमिल या संस्कृत में हैं, जबकि उत्तर भारत में ब्राह्मी-नागरी परंपरा प्रमुख रही। इस कारण पूरे देश की समग्र ऐतिहासिक समझ के लिए विभिन्न क्षेत्रों से विविध प्रकार के अभिलेखों को समेटना आवश्यक है।

7. पुरातात्विक संदर्भ के बिना अधूरी जानकारी- कई बार अभिलेखों की भाषा तो समझ में आ जाती है, पर वह किस स्थल, मूर्ति, मंदिर, या राजनीतिक घटना से संबंधित है, यह संदर्भ स्पष्ट नहीं होता। जब तक उस स्थल की पूरी पुरातात्विक खुदाई और तुलना नहीं की जाती, तब तक अभिलेख की जानकारी अधूरी रह सकती है। इसलिए अभिलेखों का अध्ययन केवल ग्रंथ रूप में नहीं, बल्कि पुरातात्विक विश्लेषण के साथ करना चाहिए।

8. सहायक स्रोतों की आवश्यकता- अभिलेखों में दी गई जानकारी को पुनः जांचने के लिए साहित्यिक स्रोतों, विदेशी यात्रियों की टिप्पणियों, पुरातात्विक साक्ष्यों और अन्य क्षेत्रीय अभिलेखों का सहारा लेना आवश्यक होता है। जैसेकि ह्वेनसांग के यात्रा विवरण और बौद्ध शिलालेखों की तुलना से हमें नालंदा, विक्रमशिला और वैशाली के बौद्ध संस्थानों की अधिक सटीक जानकारी मिलती है।

अभिलेखीय स्रोतों की आलोचनात्मक व्याख्या उनके इतिहासकारों द्वारा सतर्कता और गहनता से किए गए मूल्यांकन पर आधारित होती है। इन स्रोतों को अंधभक्ति से नहीं, अपितु वैज्ञानिक दृष्टिकोण और बहुआयामी विश्लेषण से देखा जाना चाहिए। यह दृष्टिकोण न केवल इतिहास को अधिक प्रामाणिक रूप में समझने में सहायक होता है, बल्कि इतिहास को समाज के हर वर्ग की दृष्टि से देखने की दिशा भी प्रदान करता है।०

6.7 साहित्यिक एवं अभिलेखीय विरासत का ऐतिहासिक महत्व

भारत की सांस्कृतिक और ऐतिहासिक पहचान को समझने के लिए साहित्यिक एवं अभिलेखीय स्रोत अत्यंत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। ये स्रोत न केवल हमें ऐतिहासिक घटनाओं की जानकारी देते हैं, बल्कि तत्कालीन समाज की मानसिकता, विश्वास, जीवनशैली और मूल्य प्रणाली का भी चित्रण करते हैं। भारत जैसी प्राचीन सभ्यता में जहाँ मौखिक परंपराएँ समृद्ध थीं, वहाँ साहित्यिक ग्रंथों ने उन परंपराओं को संरक्षित करने में योगदान दिया।

साहित्यिक ग्रंथों में वेद, पुराण, रामायण, महाभारत जैसे धार्मिक ग्रंथों के साथ-साथ बौद्ध और जैन साहित्य,

राजनैतिक ग्रंथ, नाट्यशास्त्र, संस्कृत काव्य, और यात्रा विवरण भी शामिल हैं। ये ग्रंथ विभिन्न युगों की धार्मिक नीतियों, शासकीय व्यवस्था, सामाजिक संरचना और सांस्कृतिक मूल्यों को गहराई से उकेरते हैं। उदाहरण के लिए, महाभारत और रामायण में राजधर्म, समाजधर्म और व्यक्तिगत आचरण की शिक्षा दी गई है। बौद्ध साहित्य जैसे त्रिपिटक, जातक कथाएँ और जैन ग्रंथों में तत्कालीन जनजीवन, सामाजिक स्तर, आचार-व्यवहार, नगर नियोजन, व्यापार व्यवस्था आदि का सजीव चित्रण है। इन ग्रंथों से हमें यह भी ज्ञात होता है कि धार्मिक संस्थाएँ, विहार और स्तूप किस प्रकार सांस्कृतिक केंद्र के रूप में विकसित हुए थे। साथ ही, इन ग्रंथों में लोककथाओं और जनश्रुतियों की अंतर्वस्तु भी समाहित है। विदेशी यात्रियों जैसे फाह्यान, ह्वेनसांग और इब्न बतूता के यात्रा विवरण साहित्यिक स्वरूप में उपलब्ध हैं, और उन्होंने तत्कालीन शासन, शिक्षा, नगर व्यवस्था तथा धार्मिक आचरण पर महत्वपूर्ण सूचनाएँ दी हैं। इन ग्रंथों की विशेषता यह है कि ये बाहरी दृष्टिकोण से भारतीय समाज को देखते हैं, जिससे तुलनात्मक अध्ययन में सहायता मिलती है।

वहीं अभिलेखीय स्रोत जैसे शिलालेख, ताम्रपट्ट, मंदिर लेख, सिक्के और प्रशस्तियाँ ऐतिहासिक तथ्यों के प्रत्यक्ष साक्ष्य माने जाते हैं। अशोक के शिलालेखों से हमें उसकी 'धम्म' नीति, प्रशासनिक सुधारों और धार्मिक सहिष्णुता की जानकारी मिलती है। ये अभिलेख तत्कालीन भाषा, लिपि, और लेखन शैली के अध्ययन का भी आधार बनते हैं। अभिलेखों में प्रयुक्त लिपियाँ — ब्राह्मी, खरोष्ठी, नागरी, तमिल-ब्राह्मी आदि समय के साथ भारतीय भाषाओं के विकास का संकेत देती हैं। ताम्रपत्रों में दी गई भूमि दान की जानकारी से उस समय के भू-संपत्ति अधिकार, सामाजिक श्रेणियाँ, मंदिरों की आर्थिक स्थिति और ब्राह्मणों की भूमिका का अनुमान लगाया जा सकता है।

साहित्यिक और अभिलेखीय स्रोतों की सम्मिलित व्याख्या से इतिहासकारों को सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और राजनैतिक संरचनाओं की बहुआयामी समझ मिलती है। यदि कोई जानकारी साहित्य में वर्णित है और उसकी पुष्टि अभिलेखों में मिलती है, तो वह ऐतिहासिक रूप से अधिक प्रमाणिक मानी जाती है। जैसे गुप्तकालीन साहित्य और अभिलेख एक साथ उस युग को "भारत का स्वर्णयुग" प्रमाणित करते हैं। इतिहासलेखन की प्रक्रिया में इन स्रोतों की आलोचनात्मक परीक्षा भी अत्यंत आवश्यक होती है। साहित्यिक स्रोतों में अलंकरण, अतिरंजना या पौराणिक तत्व अधिक हो सकते हैं, जबकि अभिलेख भी कभी-कभी केवल राजकीय प्रचार के साधन बन जाते हैं। अतः इन दोनों को पारस्परिक पूरक के रूप में देखा जाना चाहिए, जिससे अधिक सटीक ऐतिहासिक पुनर्निर्माण संभव हो सके।

6.8 संरक्षण की आवश्यकता

भारत की मूर्त सांस्कृतिक विरासत—जिसमें मंदिर, स्तूप, किले, महल, मूर्तियाँ, शिलालेख, पांडुलिपियाँ, अभिलेख और अन्य पुरातात्विक अवशेष सम्मिलित हैं | यह हमारे इतिहास, संस्कृति और सभ्यता की पहचान हैं। ये

केवल भौतिक संरचनाएँ नहीं, बल्कि हमारी सामूहिक स्मृति, पहचान और गौरव के प्रतीक हैं। इनका संरक्षण केवल अतीत को सुरक्षित रखने का कार्य नहीं है, बल्कि यह वर्तमान और भविष्य की सांस्कृतिक निरंतरता का भी आधार है।

6.8.1. संरक्षण की आवश्यकता के कारण

(क) ऐतिहासिक और सांस्कृतिक पहचान की रक्षा- मूर्त सांस्कृतिक विरासत हमारे पूर्वजों की जीवन शैली, कला, स्थापत्य, धार्मिक विश्वास और सामाजिक व्यवस्था का जीवंत प्रमाण है। इनका संरक्षण हमें अपनी ऐतिहासिक जड़ों से जोड़े रखता है और सांस्कृतिक निरंतरता बनाए रखता है।

(ख) शैक्षिक और अनुसंधान मूल्य- पुरातत्वविद, इतिहासकार, कला-विशेषज्ञ और छात्र इन धरोहरों से अध्ययन और शोध करते हैं। अभिलेखों, पांडुलिपियों और शिलालेखों से भाषा-विकास, सामाजिक संरचना और राजनीतिक इतिहास का गहन अध्ययन संभव है।

(ग) पर्यटन और आर्थिक लाभ- संरक्षित धरोहर स्थल देशी-विदेशी पर्यटकों को आकर्षित करते हैं, जिससे स्थानीय और राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को लाभ होता है। पर्यटन के माध्यम से रोजगार सृजन और सांस्कृतिक उत्पादों का बाज़ार विकसित होता है।

(घ) अंतर्राष्ट्रीय दायित्व- यूनेस्को की विश्व धरोहर सूची में शामिल स्थलों का संरक्षण अंतर्राष्ट्रीय प्रतिबद्धता का हिस्सा है। विरासत संरक्षण के माध्यम से भारत वैश्विक सांस्कृतिक मंच पर अपनी पहचान बनाए रखता है।

6.8.2. संरक्षण में आने वाली चुनौतियाँ

(क) प्राकृतिक कारण- मौसम, वर्षा, नमी, भूकंप, बाढ़ और जलवायु परिवर्तन के कारण धरोहरें नष्ट होती हैं। पत्थर और धातु पर क्षरण, लकड़ी पर दीमक, और चित्रों पर रंग फीका पड़ना आम समस्याएँ हैं।

(ख) मानवीय कारण- अतिक्रमण, तोड़-फोड़, चोरी, अवैध खुदाई, स्मारकों पर लिखावट, और प्रदूषण। अज्ञानता और लापरवाही के कारण लोग धरोहरों को क्षति पहुँचा देते हैं।

(ग) संसाधनों की कमी- पर्याप्त वित्तीय संसाधन, प्रशिक्षित मानवबल और तकनीकी साधनों का अभाव संरक्षण कार्य में बाधा डालता है।

(घ) शहरीकरण और औद्योगिकीकरण- निर्माण कार्य, सड़कें, बांध और उद्योग अक्सर धरोहर स्थलों के आसपास के क्षेत्र को नुकसान पहुँचाते हैं।

6.8.3. संरक्षण के उपाय

(क) भौतिक संरक्षण- संरचनाओं की मरम्मत, सफाई, रासायनिक उपचार और स्थायित्व बढ़ाने के उपाय। शिलालेखों और मूर्तियों को जलवायु नियंत्रित संग्रहालयों में सुरक्षित रखना।

(ख) कानूनी और प्रशासनिक उपाय- प्राचीन स्मारक एवं पुरातात्विक स्थल एवं अवशेष अधिनियम, 1958 जैसे कानूनों का कड़ाई से पालन। अवैध खुदाई और तस्करी पर रोक लगाने के लिए दंडात्मक प्रावधान।

(ग) जन-जागरूकता और सहभागिता- स्थानीय समुदाय को संरक्षण कार्य में शामिल करना। स्कूल-कॉलेजों में विरासत शिक्षा को बढ़ावा देना।

(घ) तकनीकी और वैज्ञानिक उपाय- 3D स्कैनिंग, डिजिटल आर्काइव, GIS मैपिंग, ड्रोन सर्वेक्षण जैसे आधुनिक तकनीकी साधनों का उपयोग। जलवायु अनुकूलन और पर्यावरण प्रबंधन योजनाएँ।

संरक्षण केवल एक प्रशासनिक या तकनीकी कार्य नहीं है, बल्कि यह हमारी सांस्कृतिक ज़िम्मेदारी है। मूर्त सांस्कृतिक विरासत को सुरक्षित रखना हमारे अतीत का सम्मान है, वर्तमान की सांस्कृतिक पहचान को मज़बूत करना है, और भविष्य की पीढ़ियों के लिए एक समृद्ध सांस्कृतिक विरासत छोड़ना है। यदि आज इन धरोहरों को सुरक्षित नहीं रखा गया, तो आने वाले समय में हम अपनी ऐतिहासिक स्मृतियों और सांस्कृतिक गौरव से वंचित हो सकते हैं।

6.9 सारांश

भारत की मूर्त सांस्कृतिक विरासत उसकी हजारों वर्षों की समृद्ध परंपरा, धार्मिकता, कला और शिल्प कौशल की सजीव अभिव्यक्ति है। इस विरासत को समझने के लिए साहित्यिक एवं अभिलेखीय स्रोतों की भूमिका अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इन दोनों प्रकार के स्रोतों ने भारतीय सभ्यता के विविध पक्षों — जैसे धर्म, दर्शन, सामाजिक संगठन, प्रशासन, कला, शिक्षा, स्थापत्य और भौगोलिक विस्तार — को न केवल अभिलेखबद्ध किया, बल्कि उसे समय के साथ जोड़ते हुए वर्तमान तक जीवंत बनाए रखा है। साहित्यिक स्रोतों में वेद, पुराण, महाकाव्य, स्मृतियाँ, बौद्ध-जैन ग्रंथ, तांत्रिक व आगम साहित्य, राजकीय इतिहास, धार्मिक उपदेश, नाट्य व काव्य रचनाएँ, साथ ही विदेशी यात्रियों के वृतांत भी शामिल हैं। ये न केवल उस युग की विचारधारा और ज्ञान परंपरा का दर्पण हैं, बल्कि मूर्त सांस्कृतिक वस्तुओं — जैसे मूर्तियाँ, स्तूप, मंदिर, धातु कला, चित्रकला आदि — के निर्माण, प्रयोजन और सामाजिक भूमिका को भी स्पष्ट करते हैं।

वहीं दूसरी ओर, अभिलेखीय स्रोत हमें मूर्त रूप में शासकों के आदेश, प्रशस्तियाँ, दानपत्र, धार्मिक निर्देश और प्रशासनिक घोषणाओं के स्वरूप से अवगत कराते हैं। ये शिलालेख, ताम्रपत्र, मुद्राएँ और वास्तु-अभिलेख किसी

भी ऐतिहासिक संदर्भ को प्रमाणित करने का ठोस आधार प्रदान करते हैं। इन स्रोतों की भाषाएँ, लिपियाँ, शैली और प्रसंग हमें भारत की क्षेत्रीय विविधता, राजनैतिक संरचना और सांस्कृतिक समन्वय की झलक प्रदान करते हैं। यद्यपि, इन दोनों स्रोतों की सीमाएँ भी हैं। साहित्यिक ग्रंथों में अक्सर धार्मिक पक्ष या प्रतीकात्मकता अधिक होती है, वहीं अभिलेखों में राजनीतिक पूर्वाग्रह या आधिकारिक दृष्टिकोण की प्रधानता रहती है। अतः इनका अध्ययन करते समय एक आलोचनात्मक, तुलनात्मक और बहुस्तरीय दृष्टिकोण आवश्यक होता है।

6.10 शब्दावली

1. अभिलेख – पत्थर, धातु, लकड़ी या अन्य माध्यम पर अंकित लिखित सामग्री।
2. ताम्रपत्र – तांबे की पट्टी पर अंकित दस्तावेज।
3. पांडुलिपि – हस्तलिखित ग्रंथ।
4. प्रशस्ति – राजा या व्यक्ति की प्रशंसा में लिखा गया लेख।
5. अभिलेखागार – दस्तावेज़ों का संगठित संग्रह।
6. शिलालेख – पत्थर पर खुदा हुआ लेख।
7. वैदिक साहित्य – वेदों से संबंधित ग्रंथ।
8. आगम साहित्य – जैन और बौद्ध धर्म के धार्मिक ग्रंथ।
9. विदेशी यात्रावृत्तांत – विदेशी यात्रियों के भारत भ्रमण का विवरण।
10. संरक्षण – धरोहर को सुरक्षित रखने की प्रक्रिया।

6.11 अभ्यास प्रश्न

- बहुविकल्पीय प्रश्न

1. अशोक के शिलालेख मुख्यतः किस भाषा में लिखे गए थे?
   (क) संस्कृत
   (ख) प्राकृत
   (ग) पाली
   (घ) तमिल
2. ब्राह्मी लिपि से कौन-सी आधुनिक लिपि विकसित हुई है?
   (क) अरबी
   (ख) देवनागरी

(ग) रोमन
(घ) खरोष्ठी

3. "हर्षचरित" ग्रंथ के रचयिता कौन थे?
(क) कालिदास
(ख) भवभूति
(ग) बाणभट्ट
(घ) वाल्मीकि

4. खरोष्ठी लिपि किस दिशा में लिखी जाती थी?
(क) बाएँ से दाएँ
(ख) दाएँ से बाएँ
(ग) ऊपर से नीचे
(घ) तिरछी दिशा में

5. जैन धर्म के ग्रंथ किस भाषा में मुख्य रूप से लिखे गए थे?
(क) पाली
(ख) संस्कृत
(ग) प्राकृत
(घ) तमिल

6. इलाहाबाद प्रशस्ति किस शासक की विजय और दान का वर्णन करती है?
(क) चन्द्रगुप्त मौर्य
(ख) समुद्रगुप्त
(ग) हर्षवर्धन
(घ) अशोक

7. "त्रिपिटक" किस धर्म से संबंधित है?
(क) जैन धर्म
(ख) बौद्ध धर्म
(ग) वैदिक धर्म
(घ) इस्लाम धर्म

8. ताम्रपत्र का मुख्य उपयोग किस लिए होता था?
(क) मंदिर निर्माण
(ख) भूमि दान और कर-मुक्ति आदेश

(ग) धार्मिक उपदेश
(घ) साहित्यिक रचना

9. "संगम साहित्य" किस क्षेत्र से संबंधित है?
(क) उत्तर भारत
(ख) पश्चिम भारत
(ग) दक्षिण भारत
(घ) पूर्वोत्तर भारत

स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

1. (ख) प्राकृत
2. (ख) देवनागरी
3. (ग) बाणभट्ट
4. (ख) दाएँ से बाएँ
5. (ग) प्राकृत
6. (ख) समुद्रगुप्त
7. (ख) बौद्ध धर्म
8. (ख) भूमि दान और कर-मुक्ति आदेश
9. (ग) दक्षिण भारत

- निबंधात्मक प्रश्न

1. भारत की मूर्त सांस्कृतिक विरासत के अध्ययन में साहित्यिक स्रोतों की भूमिका का विस्तारपूर्वक विश्लेषण कीजिए।
2. अभिलेखीय स्रोतों के प्रमुख प्रकारों और उनके ऐतिहासिक महत्व पर प्रकाश डालिए।
3. बौद्ध एवं जैन साहित्यिक ग्रंथों से प्राप्त मूर्त सांस्कृतिक ज्ञान का विश्लेषण कीजिए।
4. अशोक के शिलालेखों में अभिव्यक्त धार्मिक एवं प्रशासनिक दृष्टिकोण का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।

6.12 संदर्भ ग्रंथ (References / Suggested Readings)

आर.सी. मजूमदार – प्राचीन भारत का इतिहास

डी.एन. झा – प्राचीन भारत: एक ऐतिहासिक अध्ययन

रोमिला थापर – एंशिएंट इंडिया

उमेश मिश्रा – भारतीय इतिहास के स्रोत

बी.एन. मुख़र्जी – एपिग्राफी एंड इन्स्क्रिप्शन्स ऑफ इंडिया

एच.सी. रायचौधरी – पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एंशिएंट इंडिया

कृष्ण देव – मूर्तिकला का इतिहास

ए.एल. बाशम – द वंडर दैट वाज इंडिया

डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी – भारतीय संस्कृति के तत्व

इग्नू अध्ययन सामग्री – बीए इतिहास, एमए इतिहास (पुरातत्व एवं संस्कृति इकाइयाँ)

इकाई सात

भारत की मूर्त सांस्कृतिक विरासत – लिपियां एवं अभिलेख

7.1 प्रस्तावना

7.2 उद्देश्य

7.3 लिपियों का उद्भव और विकास

7.4 प्रमुख भारतीय लिपियाँ

7.4.1 ब्राह्मी लिपि

7.4.2 खरोष्ठी लिपि

7.4.3 नागरी लिपि

7.4.4 सिद्धमात्रिका लिपि

7.4.5 ग्रंथ लिपि

7.4.6 तमिल-ब्राह्मी लिपि

7.4.7 बंगला लिपि

7.5 प्राचीन भारतीय अभिलेख

7.5.1 अभिलेखों के प्रकार

7.6 अभिलेखों की महत्ता

7.7 निष्कर्ष

7.8 शब्दावली

7.9 तकनीकी शब्दावली

7.10 स्वमूल्यांकित प्रश्न

7.11 संदर्भ सूची

7.1 प्रस्तावना

भारत की सांस्कृतिक विरासत अत्यंत समृद्ध एवं विविधतापूर्ण रही है। इसकी मूर्त अभिव्यक्तियाँ न केवल स्थापत्य, मूर्तिकला और चित्रकला में दिखाई देती हैं, बल्कि लेखन परंपरा के माध्यम से भी सुरक्षित हुई हैं। लेखन की यह परंपरा लिपियों और अभिलेखों के माध्यम से संरक्षित हुई, जो आज भी भारत के प्राचीन गौरव, प्रशासनिक नीतियों, धार्मिक मान्यताओं और सामाजिक संरचनाओं का दर्पण प्रस्तुत करती हैं। इन अभिलेखों ने भारत के

इतिहास-लेखन को सशक्त आधार प्रदान किया है।

लिपियाँ वे साधन हैं जिनके माध्यम से भाषा को लिखित रूप में व्यक्त किया जाता है। भारत में लिपियों का विकास एक दीर्घ ऐतिहासिक प्रक्रिया रही है, जो सिंधु घाटी सभ्यता से प्रारंभ होकर मौर्य, गुप्त, पल्लव, चोल आदि कालों से होती हुई आधुनिक लिपियों तक पहुँची है। ब्राह्मी, खरोष्ठी, नागरी, तमिल-ब्राह्मी जैसी लिपियाँ न केवल भाषाओं की अभिव्यक्ति का माध्यम रहीं, बल्कि उन्होंने धार्मिक और राजकीय संदेशों को भी जन-जन तक पहुँचाया। लिपियों का यह विकास भारतीय सभ्यता की निरंतरता का भी परिचायक है।

अभिलेखों की परंपरा भारत में अत्यंत प्राचीन है। ये अभिलेख स्तम्भों, शिलाओं, गुफाओं, ताम्रपत्रों और भोजपत्रों पर उत्कीर्ण किए गए हैं। सम्राट अशोक के अभिलेखों से लेकर गुप्तकालीन, दक्षिण भारतीय, तथा मध्यकालीन राजाओं के दानपत्रों एवं प्रशस्तियों तक, ये अभिलेख ऐतिहासिक तथ्यों का अमूल्य स्रोत हैं। इनमें प्रशासन, भूमि दान, धर्म प्रचार, सामाजिक व्यवस्था और राजनीतिक घटनाओं का विस्तृत विवरण मिलता है, जिससे उस समय की समाज व्यवस्था की सटीक जानकारी प्राप्त होती है।

लिपियाँ और अभिलेख केवल ऐतिहासिक महत्व के ही नहीं, बल्कि भाषावैज्ञानिक, पुरातात्त्विक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण से भी अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। वे विभिन्न भाषाओं और लिपियों के विकास की कड़ियों को जोड़ते हैं तथा विभिन्न क्षेत्रों के बीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान की पुष्टि करते हैं। इसके अतिरिक्त, अभिलेख हमें यह भी दिखाते हैं कि शासकों ने किस प्रकार अपने कार्यों को जनमानस तक पहुँचाने के लिए लेखन को माध्यम बनाया।

7.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप:

- भारत में लिपियों के उद्भव एवं विकास को समझ सकेंगे।
- प्रमुख भारतीय लिपियों के प्रकारों की पहचान कर सकेंगे।
- विभिन्न प्रकार के अभिलेखों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- अभिलेखों की ऐतिहासिक महत्ता का विश्लेषण कर सकेंगे।

आज के संदर्भ में अनेक शैक्षणिक और शोध संस्थान, जैसे भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण (ASI), राष्ट्रीय अभिलेखागार, और विभिन्न विश्वविद्यालयों के भाषाविज्ञान विभाग, इन स्रोतों का संरक्षण एवं विश्लेषण करते हैं। इन स्रोतों के व्यवस्थित अध्ययन से यह संभव हुआ है कि हम न केवल लिपियों के विकास को समझ सकें, बल्कि उन अभिलेखों के माध्यम से इतिहास की उन परतों तक पहुँच सकें जो अन्यथा मौखिक परंपराओं में विलीन हो चुकी होतीं।

7.3 लिपियों का उद्भव और विकास

भारत में लिपियों का उद्भव अत्यंत प्राचीन है और यह लेखन परंपरा सिंधु घाटी सभ्यता (ई.पू. 2600–1900) तक जाती है। इस सभ्यता की मुहरों पर पाई गई लिपि अब तक पूरी तरह पढ़ी नहीं जा सकी है, किंतु यह स्पष्ट है कि भारत में लेखन की परंपरा हजारों वर्षों से विद्यमान रही है। सिंधु लिपि के पश्चात वास्तविक साक्ष्य मौर्यकाल (ई.पू. 3री शताब्दी) में देखने को मिलते हैं, जब सम्राट अशोक ने अपने शिलालेखों में ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपियों का प्रयोग किया। ये लिपियाँ ही भारत की लेखन परंपरा के प्रामाणिक आधार माने जाते हैं।

ब्राह्मी लिपि भारत की सबसे प्राचीन और व्यापक रूप से उपयोग में लाई गई लिपि थी, जो मौर्य काल में विशेष रूप से लोकप्रिय रही। यह लिपि बाएँ से दाएँ लिखी जाती थी और बाद के काल में कई क्षेत्रीय लिपियों की जननी बनी। दूसरी ओर खरोष्ठी लिपि मुख्यतः उत्तर-पश्चिम भारत में प्रचलित थी और यह दाएँ से बाएँ लिखी जाती थी। यह लिपि विशेष रूप से गांधार क्षेत्र में उपयोग में लाई जाती थी और उस पर यूनानी प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। इन लिपियों का प्रयोग केवल राजकीय आदेशों तक सीमित नहीं था, बल्कि धार्मिक संदेशों और दानपत्रों में भी होता था।

कालांतर में ब्राह्मी लिपि से अनेक लिपियों का विकास हुआ। गुप्तकाल में ब्राह्मी से गुप्त लिपि उत्पन्न हुई, जिसने नागरी लिपि के विकास की नींव रखी। नागरी लिपि से ही आगे चलकर देवनागरी लिपि का विकास हुआ, जो आज संस्कृत, हिंदी, मराठी आदि भाषाओं की प्रमुख लिपि है। दक्षिण भारत में ब्राह्मी से ग्रंथ, वट्टेलुटु, कन्नड़, तेलुगु, मलयालम और तमिल लिपियों का विकास हुआ। इन लिपियों के विकास में क्षेत्रीय प्रभाव, भाषाई आवश्यकताएँ और धार्मिक परंपराएँ प्रमुख कारक थीं।

लिपियों का यह क्रमिक विकास यह दर्शाता है कि भारत में लेखन केवल सूचना के आदान-प्रदान का माध्यम नहीं था, बल्कि सांस्कृतिक पहचान, धार्मिक विश्वास और प्रशासनिक संरचना को स्थायित्व देने का प्रमुख साधन भी था। लिपियों के माध्यम से न केवल भाषा संरक्षित हुई, बल्कि उन्होंने समाज को संगठित करने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। भारत की यह समृद्ध लेखन परंपरा आज भी आधुनिक भाषाओं और लिपियों में जीवित है, जो इसकी निरंतर सांस्कृतिक विरासत का प्रमाण है।

7.4 प्रमुख भारतीय लिपियाँ

भारत की सांस्कृतिक और भाषाई विविधता ने अनेक लिपियों के विकास को प्रेरित किया। विभिन्न कालखंडों में विभिन्न क्षेत्रों में प्रयुक्त लिपियाँ न केवल लेखन का माध्यम रहीं, बल्कि उन्होंने संस्कृति, धर्म और राजनीति के संदेशों को संप्रेषित करने का कार्य भी किया। भारत की प्रमुख प्राचीन और मध्यकालीन लिपियों का विश्लेषण निम्न प्रकार से है।

7.4.1 ब्राह्मी लिपि

ब्राह्मी लिपि भारत की सबसे प्राचीन और महत्वपूर्ण लिपियों में से एक है, जिसे भारतीय लिपियों की जननी भी कहा जाता है। यह न केवल प्राचीन भारत में लेखन का प्रमुख माध्यम थी, बल्कि इसके आधार पर अनेक अन्य लिपियों का विकास हुआ। ब्राह्मी लिपि का प्रयोग विशेषतः सम्राट अशोक के अभिलेखों में हुआ था और इसी के माध्यम से इसके स्वरूप का प्रमाण मिलता है। इस लिपि ने भारतीय उपमहाद्वीप की भाषायी और सांस्कृतिक अभिव्यक्ति को स्थायित्व प्रदान किया।

ब्राह्मी लिपि के अभिलेख मुख्यतः शिलाओं, स्तंभों, गुफाओं तथा ताम्रपत्रों पर उत्कीर्ण पाए जाते हैं। इसकी प्रमुख विशेषता इसकी वर्णमाला पद्धति है, जिसमें व्यंजनों के साथ स्वरों को जोड़ने की स्पष्ट प्रणाली विकसित की गई थी। यह लिपि भारत के उत्तर, मध्य, पश्चिम और दक्षिण के अनेक भागों में प्रयोग की गई, जिससे यह स्पष्ट होता है कि यह एक अखिल भारतीय लिपि थी।

7.4.1.2 ब्राह्मी लिपि का काल निर्धारण

ब्राह्मी लिपि का प्रयोग सबसे पहले मौर्यकाल में देखने को मिलता है, विशेषकर सम्राट अशोक (ई.पू. 273–232) के अभिलेखों में। इन अभिलेखों की खोज और अध्ययन के आधार पर विद्वानों ने इस लिपि को ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी के आसपास का माना है। यद्यपि कुछ विद्वान इसे सिंधु घाटी सभ्यता के बाद की कड़ी मानते हैं, किंतु अब तक ऐसा कोई निर्णायक प्रमाण नहीं मिला है जिससे यह स्थापित हो सके कि ब्राह्मी का उद्भव सिंधु लिपि से हुआ।

सम्राट अशोक के शिलालेखों से यह स्पष्ट होता है कि ब्राह्मी लिपि उस समय तक एक परिपक्व और सुव्यवस्थित लिपि बन चुकी थी। ब्राह्मी के अतिरिक्त अशोक के उत्तर-पश्चिमी अभिलेखों में खरोष्ठी लिपि का प्रयोग भी होता था, किंतु ब्राह्मी का प्रसार अधिक व्यापक था। अशोक के दक्षिण भारत के अभिलेख ब्राह्मी लिपि में प्राकृत भाषा में उत्कीर्ण किए गए थे, जो इस लिपि के बहुक्षेत्रीय प्रयोग को दर्शाते हैं।

7.4.1.3 संरचना एवं विशेषताएँ

ब्राह्मी लिपि की सबसे बड़ी विशेषता इसकी ध्वन्यात्मकता (phonetic structure) है। यह एक वर्णमाला-आधारित लिपि थी, जिसमें व्यंजनों और स्वरों को स्पष्ट रूप से दर्शाया जाता था। प्रत्येक व्यंजन के साथ अंतर्निहित स्वर 'अ' जुड़ा होता था। यदि किसी अन्य स्वर का प्रयोग करना होता था, तो उसके लिए अतिरिक्त चिह्नों का प्रयोग होता था। उदाहरणस्वरूप, 'क' में यदि 'इ' जोड़ा जाए तो वह 'कि' बनता है, जो स्वरचिह्न की उपस्थिति से ज्ञात होता है।

ब्राह्मी लिपि में लेखन की दिशा बाएँ से दाएँ होती थी। इसके अक्षर प्रारंभ में सीधे और सरल होते थे, जो समय के साथ अधिक सजावटी होते गए। लिपि में 33 व्यंजन और 9 स्वर पाए जाते हैं। ब्राह्मी की यह व्यवस्था आगे चलकर देवनागरी, तमिल, कन्नड़, तेलुगु, बंगला, मलयालम आदि लिपियों के विकास की आधारशिला बनी। इस लिपि की विविधता का संकेत इस बात से मिलता है कि देश के विभिन्न क्षेत्रों में प्रयुक्त ब्राह्मी के रूपों में कुछ अंतरक्षेत्रीय भिन्नताएँ पाई जाती हैं, जैसे उत्तर भारत की ब्राह्मी, दक्षिण भारत की ब्राह्मी, और पश्चिम भारत की ब्राह्मी। दक्षिण भारत में ब्राह्मी से ही तमिल-ब्राह्मी का विकास हुआ।

7.4.1.4 भाषा और ब्राह्मी लिपि का संबंध

ब्राह्मी लिपि का प्रयोग मुख्यतः प्राकृत भाषा के लेखन में किया गया, विशेषतः अशोक के अभिलेखों में। उस समय प्राकृत भाषा राजकीय कार्यों, धार्मिक उपदेशों और सार्वजनिक घोषणाओं के लिए प्रयुक्त होती थी। ब्राह्मी लिपि ने इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए एक व्यवस्थित लेखन प्रणाली प्रदान की।

बाद के काल में ब्राह्मी का प्रयोग संस्कृत लेखन में भी होने लगा, विशेषकर गुप्तकाल में। जैसे-जैसे लिपि का विकास हुआ, उसमें संशोधन एवं परिवर्तन किए गए जिससे वह संस्कृत भाषा की जटिल ध्वनियों को भी अभिव्यक्त करने में सक्षम हुई। यह लिपि भाषायी विकास का भी सूचक बनी क्योंकि इसके माध्यम से विभिन्न क्षेत्रीय बोलियों और भाषाओं के लेखन में सुविधा हुई।

7.4.1.5 ब्राह्मी लिपि से व्युत्पन्न लिपियाँ

ब्राह्मी लिपि से अनेक क्षेत्रीय और प्रमुख लिपियाँ विकसित हुईं। उत्तरी भारत में गुप्त लिपि, नागरी, सिद्धमात्रिका और आगे चलकर देवनागरी का विकास हुआ। दक्षिण भारत में ग्रंथ, तमिल-ब्राह्मी, वट्टेलुटु, कन्नड़, तेलुगु और मलयालम लिपियाँ ब्राह्मी से ही निकलीं। इसके अतिरिक्त ब्राह्मी लिपि का प्रभाव श्रीलंका, तिब्बत, नेपाल, बर्मा और दक्षिण-पूर्व एशिया तक पहुँचा, जहाँ इसके विभिन्न रूपों का विकास हुआ।

गुप्त लिपि, जो चौथी से छठी शताब्दी के बीच प्रचलित थी, ब्राह्मी की एक प्रमुख उत्तराधिकारी थी। गुप्त लिपि से ही नागरी और सिद्धमात्रिका लिपियाँ विकसित हुईं। सिद्धमात्रिका लिपि का प्रयोग विशेष रूप से बौद्ध ग्रंथों के लेखन में हुआ और यह चीन तथा जापान तक पहुँची। इन सभी लिपियों की मूल धारा ब्राह्मी लिपि से जुड़ी रही, जो इसे भारतीय लेखन परंपरा की केन्द्रीय धुरी बनाती है।

7.4.1.6 पुरातात्विक प्रमाण और अध्ययन

ब्राह्मी लिपि के अध्ययन में पुरातात्विक स्रोतों की अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका रही है। अशोक के स्तंभलेख, शिलालेख, गुफालेख आदि ब्राह्मी लिपि में ही लिखे गए हैं। इनमें दिल्ली का लाट अशोक, साँची, धौली, गिरनार, और बहरुत जैसे स्थानों के अभिलेख उल्लेखनीय हैं। इन अभिलेखों के माध्यम से तत्कालीन समाज, धर्म, प्रशासन और नीति का ज्ञान प्राप्त होता है।

ब्राह्मी लिपि की पुनः खोज का श्रेय प्रसिद्ध विद्वान जेम्स प्रिंसेप को जाता है, जिन्होंने 1837 ई. में अशोक के शिलालेखों को पढ़ने में सफलता प्राप्त की। उनके कार्य ने भारतीय इतिहास को एक नया दृष्टिकोण प्रदान किया और भारतीय पुरालेखन (epigraphy) के क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन किया।

ब्राह्मी लिपि भारतीय सभ्यता की लेखन परंपरा का प्रस्थान बिंदु है। यह लिपि न केवल भारत की, बल्कि दक्षिण एशिया की सांस्कृतिक धरोहर का प्रतिनिधित्व करती है। इसके माध्यम से न केवल शासक वर्ग, बल्कि साधारण जनों के विचार, विश्वास और क्रियाएँ अभिलेखित हुईं। ब्राह्मी लिपि से उत्पन्न लिपियाँ आज भी आधुनिक भारत की भाषायी और सांस्कृतिक संरचना का आधार हैं। इस लिपि का संरक्षण और अध्ययन आज भी भारतीय इतिहास और संस्कृति के मूल स्रोतों को समझने के लिए अत्यंत आवश्यक है।

7.4.2 खरोष्ठी लिपि

खरोष्ठी लिपि भारतीय उपमहाद्वीप की एक प्रमुख प्राचीन लिपि थी, जिसका प्रयोग विशेषतः उत्तर-पश्चिम भारत के गांधार क्षेत्र (आधुनिक पाकिस्तान और अफगानिस्तान का भाग) में किया जाता था। इसका प्रयोग ईसा-पूर्व तीसरी शताब्दी से लेकर ईसा की तीसरी-चौथी शताब्दी तक हुआ। इस लिपि की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह दाएँ से बाएँ लिखी जाती थी, जो इसे ब्राह्मी लिपि से भिन्न बनाती है। खरोष्ठी लिपि मुख्यतः गांधारी भाषा, प्राकृत और संस्कृत के लेखन में प्रयुक्त हुई।

खरोष्ठी लिपि भारत की उन लिपियों में से एक है, जिन पर विदेशी प्रभाव बहुत अधिक रहा। यह लिपि मुख्यतः अरेमाइक (Aramaic) लिपि से विकसित मानी जाती है, जो ईरान और मध्य एशिया के माध्यम से भारत आई। यह लिपि अशोक के शिलालेखों में, विशेषतः उत्तर-पश्चिम भारत के अभिलेखों में पाई जाती है। खरोष्ठी लिपि का अध्ययन भारतीय इतिहास, संस्कृति और बौद्ध धर्म के प्रसार को समझने में अत्यंत सहायक है।

7.4.2.1 खरोष्ठी लिपि का उद्भव और विकास

खरोष्ठी लिपि का विकास भारतीय उपमहाद्वीप के उस क्षेत्र में हुआ जहाँ यूनानी, ईरानी और मध्य एशियाई संस्कृतियों का प्रभाव व्यापक था। इसका उद्भव लगभग ई.पू. 4वीं शताब्दी में माना जाता है, लेकिन इसे व्यवस्थित रूप से मौर्य काल में अपनाया गया। विशेष रूप से सम्राट अशोक ने अपने उत्तर-पश्चिमी शिलालेखों में इस लिपि का

उपयोग किया।

यह लिपि अरेमाइक लिपि पर आधारित मानी जाती है, जो हकमानी साम्राज्य (ईरान) की राजकीय लिपि थी। जब ईरानी प्रभाव भारत के गांधार क्षेत्र तक पहुँचा, तो स्थानीय बोली (गांधारी प्राकृत) के लेखन के लिए खरोष्ठी लिपि का विकास हुआ। इस लिपि का प्रयोग मुख्यतः मथुरा, पेशावर, स्वात घाटी, और काबुल क्षेत्र में व्यापक रूप से किया गया।

7.4.2.2 संरचना और विशेषताएँ

खरोष्ठी लिपि की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि यह दाएँ से बाएँ लिखी जाती है, जबकि भारत की अधिकांश लिपियाँ बाएँ से दाएँ लिखी जाती हैं। इस विशेषता से इसका अरेमाइक मूल स्पष्ट होता है। इस लिपि में कुल मिलाकर लगभग 34 अक्षर होते थे, जिनमें स्वर और व्यंजन दोनों सम्मिलित होते थे।

खरोष्ठी लिपि वर्णमाला आधारित लिपि नहीं थी, बल्कि इसे आंशिक रूप से वर्णमात्रात्मक माना जाता है। इसमें स्वरों के लिए स्वतंत्र चिह्न नहीं थे, बल्कि स्वर विशेष रूप से व्यंजन के साथ जुड़े होते थे। यह लिपि लेखन के लिए उपयोगी होने के साथ-साथ पत्थरों, ताम्रपत्रों और भोजपत्रों पर भी प्रयुक्त होती थी। खरोष्ठी में लिखे गए अभिलेखों की शैली सरल, सीधी और प्रशासनिक होती थी।

खरोष्ठी लिपि का प्रयोग मुख्यतः गांधारी भाषा में होता था, जो प्राकृत की एक क्षेत्रीय बोली थी। इसके अतिरिक्त, कुछ अभिलेखों में संस्कृत भाषा का भी उपयोग हुआ। खरोष्ठी लिपि में विशेष रूप से बौद्ध धर्म संबंधी ग्रंथ, अभिलेख और दानपत्र उत्कीर्ण किए गए। बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार में इस लिपि की महत्वपूर्ण भूमिका रही, विशेष रूप से उत्तर-पश्चिमी भारत और मध्य एशिया में।

खरोष्ठी में लिखित बौद्ध ग्रंथ अफगानिस्तान, पाकिस्तान और चीन के कुछ क्षेत्रों में भी पाए गए हैं। गांधार क्षेत्र के बौद्ध भिक्षुओं ने इस लिपि के माध्यम से अनेक धार्मिक ग्रंथों और शिलालेखों की रचना की। गांधार से प्राप्त ताड़पत्रों पर लिखित ग्रंथ, जिन्हें 'गंधारी बौद्ध हस्तलिपियाँ' कहा जाता है, इस लिपि की प्राचीनता और धार्मिक महत्त्व को प्रमाणित करते हैं।

7.4.2.3 प्रमुख खरोष्ठी अभिलेख और पुरातात्विक प्रमाण

खरोष्ठी लिपि में लिखे गए प्रमुख अभिलेखों में अशोक के शिलालेख प्रमुख हैं, विशेषतः शाहबाजगढ़ी और मानसेहरा के अभिलेख जो खरोष्ठी लिपि में उत्कीर्ण हैं। इसके अतिरिक्त कुषाण शासकों, विशेषकर कनिष्क के काल के ताम्रपत्रों और मुद्राओं में खरोष्ठी लिपि का प्रयोग मिलता है। खरोष्ठी में लिखी गई मुद्राओं से हमें तत्कालीन शासन व्यवस्था, धर्म और व्यापार की जानकारी मिलती है।

गांधार क्षेत्र में पाए गए बौद्ध ग्रंथों के अवशेष, जिन्हें बर्च बार्क मैनुस्क्रिप्ट्स (Birch Bark Manuscripts) कहा जाता है, भी खरोष्ठी लिपि में हैं। ये ग्रंथ वर्तमान में ब्रिटिश संग्रहालय तथा विभिन्न विश्वविद्यालयों में संरक्षित हैं। इन ग्रंथों का अध्ययन कर विद्वानों ने बौद्ध धर्म के प्रारंभिक स्वरूप और गांधार संस्कृति के अनेक पहलुओं को उजागर किया है।

7.4.2.4 अवसान और महत्त्व

खरोष्ठी लिपि का प्रयोग धीरे-धीरे तीसरी-चौथी शताब्दी ईस्वी के बाद समाप्त होने लगा। इसके स्थान पर ब्राह्मी से उत्पन्न लिपियों ने स्थान ले लिया, जो अधिक लचीली और स्वरों के लिए स्पष्ट संकेत देने में सक्षम थीं। फिर भी खरोष्ठी लिपि ने भारत के सांस्कृतिक, धार्मिक और प्रशासनिक जीवन में एक ऐतिहासिक अध्याय जोड़ा।

इस लिपि का ऐतिहासिक महत्त्व इसलिए भी है क्योंकि इसने भारत और पश्चिमी सभ्यताओं के बीच संपर्क का प्रमाण प्रस्तुत किया। खरोष्ठी लिपि ने बौद्ध धर्म के प्रसार में जो भूमिका निभाई, वह इसे भारत की सांस्कृतिक विरासत का अमूल्य अंग बनाती है। आज भी इसके अवशेष हमें भारत की बहुपरतीय सभ्यता और लिपिकीय परंपरा की जानकारी देते हैं।

7.4.3 नागरी लिपि

नागरी लिपि भारतीय उपमहाद्वीप की सबसे व्यापक रूप से प्रयुक्त एवं विकसित लिपियों में से एक रही है। यह ब्राह्मी लिपि की परंपरा से विकसित हुई और आज की देवनागरी लिपि का आधार बनी। यह लिपि उत्तर भारत की भाषाओं, विशेषतः संस्कृत, हिंदी, मराठी और नेपाली के लेखन के लिए उपयोग में लाई जाती रही है। नागरी लिपि का प्रयोग लगभग 8वीं शताब्दी ईस्वी से प्रारंभ हुआ और यह मध्यकालीन तथा आधुनिक भारतीय भाषाओं के विकास में अत्यंत महत्त्वपूर्ण रही। नागरी लिपि का नाम 'नगर' शब्द से आया है, जिसका तात्पर्य शहरी संस्कृति और विद्वत्ता से है। यह लिपि विशेष रूप से धार्मिक, दार्शनिक और साहित्यिक ग्रंथों के लेखन में प्रयुक्त होती रही है। इसकी संरचना सरल, स्पष्ट और नियमित है, जो इसे लेखन तथा मुद्रण के लिए उपयुक्त बनाती है। यह लिपि न केवल एक लिपिकीय प्रणाली है, बल्कि भारतीय सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम भी रही है।

7.4.3.1 नागरी लिपि का उद्भव और विकास

नागरी लिपि का विकास ब्राह्मी लिपि से हुआ, जो कि भारतीय लिपियों की जननी मानी जाती है। ब्राह्मी से विकसित होने वाली अनेक लिपियों में से नागरी एक अत्यंत परिष्कृत रूप थी, जिसने मध्यकालीन भारत में प्रमुखता प्राप्त की।

लगभग 8वीं से 11वीं शताब्दी के मध्य यह लिपि संस्कृत ग्रंथों के लेखन में सर्वप्रमुख बन गई।

नागरी लिपि की पहचान सबसे पहले मध्यभारत और उत्तर भारत के क्षेत्रों में हुई। कालांतर में यह लिपि बौद्ध, जैन और हिंदू ग्रंथों में व्यापक रूप से अपनाई गई। धीरे-धीरे यह धार्मिक अभिलेखों, मंदिर शिलालेखों, और ताड़पत्रों पर लिखे गए ग्रंथों की मुख्य लिपि बन गई। नागरी लिपि में कालांतर में जो सुधार और नियमितता आई, उसने इसे आधुनिक देवनागरी लिपि का रूप प्रदान किया।

7.4.3.2 संरचना और विशेषताएँ

नागरी लिपि एक वर्णमाला आधारित लिपि है जिसमें कुल 48 वर्ण होते हैं—13 स्वर और 35 व्यंजन। इसकी एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें प्रत्येक वर्ण अपने आप में पूर्ण ध्वनि का प्रतिनिधित्व करता है। नागरी लिपि की एक प्रमुख पहचान इसकी "शीर्ष-रेखा" (head-line) है, जो शब्दों के ऊपर एक निरंतर रेखा के रूप में खिंचती है। यह रेखा विभिन्न अक्षरों को जोड़ने में सहायक होती है और लिपि को विशिष्ट रूप प्रदान करती है।

नागरी लिपि बाएँ से दाएँ लिखी जाती है और इसकी रचना में स्पष्टता तथा सौंदर्य होता है। प्रत्येक अक्षर को स्वतंत्र रूप से तथा संयोजन में लिखा जा सकता है। यह लिपि लेखन, मुद्रण और टंकण के लिए अनुकूल है। इसकी विशेषताएँ इसे दीर्घकालिक ग्रंथ-लेखन हेतु उपयुक्त बनाती हैं, विशेषकर जब इसे ताड़पत्रों और हस्तलिखित पांडुलिपियों में उपयोग किया गया।

7.4.3.3 धार्मिक एवं साहित्यिक उपयोग

नागरी लिपि का सबसे व्यापक उपयोग धार्मिक ग्रंथों के लेखन में हुआ। वैदिक साहित्य, पुराण, उपनिषद, महाकाव्य जैसे रामायण और महाभारत तथा अनेक स्त्रोत इसी लिपि में सुरक्षित किए गए। इसके अतिरिक्त बौद्ध और जैन ग्रंथों का अनुवाद भी नागरी लिपि में हुआ, जिससे यह विभिन्न पंथों की अभिव्यक्ति का साधन बन गई। 11वीं से 18वीं शताब्दी तक नागरी लिपि हिंदी, मराठी और नेपाली साहित्य के लेखन की मुख्य लिपि रही। तुलसीदास, कबीर, सूरदास जैसे भक्तिकालीन कवियों के साहित्य का लेखन भी इसी लिपि में हुआ। पांडुलिपियों, ताम्रपत्रों और शिलालेखों में नागरी लिपि का प्रयोग एक समान रूप से मिलता है।

7.4.3.4 देवनागरी का विकास और मानकीकरण

नागरी लिपि से ही आधुनिक देवनागरी लिपि का विकास हुआ। 19वीं शताब्दी में देवनागरी लिपि को छपाई और मुद्रण की दृष्टि से सुव्यवस्थित किया गया। फोर्ट विलियम कॉलेज, काशी नागरी प्रचारिणी सभा और नागरीप्रचार संस्थाओं ने इसके प्रचार और मानकीकरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

देवनागरी लिपि आज हिंदी, संस्कृत, मराठी, कोंकणी और नेपाली भाषाओं की प्रमुख लिपि है। कंप्यूटर और डिजिटल माध्यमों के अनुकूल बनकर यह लिपि आधुनिक तकनीक के साथ भी जुड़ गई है। इसका यूनिकोड मानक भी विकसित हो चुका है, जिससे इसका प्रयोग विश्वव्यापी हो गया है।

7.4.4 सिद्धमात्रिका लिपि

सिद्धमात्रिका लिपि भारतीय उपमहाद्वीप की एक अत्यंत महत्वपूर्ण मध्यकालीन लिपि है, जो नागरी लिपि से विकसित मानी जाती है। यह लिपि विशेष रूप से उत्तर भारत और हिमालयी क्षेत्रों, जैसे कश्मीर, नेपाल और तिब्बत में 6वीं से 9वीं शताब्दी ईस्वी के बीच व्यापक रूप से प्रयोग में लाई गई। सिद्धमात्रिका न केवल भाषा और लेखन का एक उपकरण थी, बल्कि धार्मिक एवं सांस्कृतिक संप्रेषण का माध्यम भी थी।

इस लिपि का नाम "सिद्धमात्रिका" दो शब्दों से बना है – 'सिद्ध' (पूर्ण या सिद्धि को प्राप्त) और 'मात्रिका' (मातृका यानी वर्णमाला)। इसका प्रयोग विशेषतः संस्कृत ग्रंथों के लेखन में होता था। यह लिपि बौद्ध धर्म के महायान संप्रदाय में विशेष महत्त्व की रही और भारत से चीन, जापान, कोरिया और तिब्बत तक इसके प्रभाव को देखा जा सकता है।

7.4.4.1 सिद्धमात्रिका लिपि का उद्भव और विकास

सिद्धमात्रिका लिपि का उद्भव गुप्त काल के पश्चात नागरी लिपि में एक विशेष शैलीगत परिवर्तन के रूप में हुआ। यह लिपि 6वीं शताब्दी में विकसित हुई और 8वीं-9वीं शताब्दी तक उत्तर भारत में लोकप्रिय रही। इसके पश्चात यह तिब्बती, नेपाली और जापानी लिपियों के विकास में सहायक बनी।

भारत में इसकी प्रमुख उपस्थिति कश्मीर, मध्य भारत, मगध तथा नालंदा, विक्रमशिला जैसे बौद्ध शिक्षण केंद्रों में दिखाई देती है। बौद्ध साधक इस लिपि में मंत्रों, सूत्रों और धर्म ग्रंथों की प्रतिलिपियाँ बनाते थे। नालंदा विश्वविद्यालय के ताम्रपत्रों पर भी इस लिपि के प्रमाण मिलते हैं।

सिद्धमात्रिका लिपि का सबसे बड़ा प्रभाव बौद्ध धर्म के प्रचार के साथ जुड़ा हुआ है। जब बौद्ध भिक्षु चीन, जापान और कोरिया की ओर गए, तो वे अपने साथ इस लिपि की परंपरा भी ले गए। जापान में यह लिपि आज भी "सिद्धं" नाम से जानी जाती है और वहाँ इसे पवित्र समझा जाता है। जापानी बौद्ध मंदिरों में अभी भी सिद्धमात्रिका लिपि में लिखे गए मंत्र और चित्र मिलते हैं। महायान बौद्ध धर्म में सिद्धमात्रिका लिपि का विशेष स्थान रहा है। इसके अतिरिक्त, तांत्रिक परंपराओं और साधनाओं में इस लिपि का प्रयोग अत्यंत पवित्र और गूढ़ माना जाता था।

7.4.5 ग्रंथ लिपि

ग्रंथ लिपि दक्षिण भारत की एक अत्यंत विशिष्ट और ऐतिहासिक लिपि है, जिसका उपयोग विशेष रूप से तमिलनाडु और केरल क्षेत्रों में संस्कृत ग्रंथों को लिखने के लिए किया गया। यह लिपि ब्राह्मी लिपि की दक्षिणी शाखा से विकसित हुई और इसका प्रयोग लगभग 5वीं शताब्दी ईस्वी से शुरू हो गया था। "ग्रंथ" शब्द स्वयं संस्कृत में "पुस्तक" या "ग्रंथ" का द्योतक है, और इस लिपि का नाम इसलिए पड़ा क्योंकि इसका प्रयोग मुख्यतः धार्मिक और साहित्यिक ग्रंथों को लिपिबद्ध करने में किया जाता था।

ग्रंथ लिपि का विशेष महत्त्व इस बात में है कि यह दक्षिण भारत में संस्कृत भाषा के प्रचार-प्रसार का प्रमुख माध्यम रही है। यह लिपि द्रविड़ भाषाओं की लिपियों (जैसे तमिल) से स्पष्ट रूप से भिन्न थी और इसकी संरचना संस्कृत की ध्वनियों को ठीक-ठीक प्रदर्शित करने में सक्षम थी। यह लिपि तमिलनाडु के चोल, पांड्य और विजयनगर राजवंशों के शिलालेखों और ताम्रपत्रों में प्रमुख रूप से प्रयुक्त हुई।

7.4.5.1 उद्भव एवं ऐतिहासिक विकास

ग्रंथ लिपि का विकास दक्षिण ब्राह्मी लिपि से हुआ और यह 5वीं शताब्दी से लेकर 19वीं शताब्दी तक दक्षिण भारत में संस्कृत ग्रंथों के लेखन का मानक माध्यम रही। ग्रंथ लिपि का प्रारंभिक रूप पल्लव काल (6वीं-9वीं शताब्दी) में दिखाई देता है, जब इस लिपि का उपयोग मंदिरों के शिलालेखों और ताम्रपत्रों पर होने लगा। पल्लवों ने दक्षिण-पूर्व एशिया (विशेषकर कंबोडिया, वियतनाम और इंडोनेशिया) में भी इस लिपि को पहुँचाया। विजयनगर साम्राज्य के काल में ग्रंथ लिपि को और अधिक परिष्कृत और प्रचलित किया गया। यह काल भारतीय संस्कृति, साहित्य और धार्मिक ग्रंथों के लेखन का स्वर्ण युग माना जाता है। ग्रंथ लिपि ने संस्कृत के साथ-साथ वैदिक साहित्य, स्तोत्र, मंत्र और शास्त्रों को संरक्षित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

7.4.5.2 संरचना और लिपिकीय विशेषताएँ

ग्रंथ लिपि की सबसे प्रमुख विशेषता इसकी ध्वन्यात्मक पूर्णता है, अर्थात यह संस्कृत भाषा की समस्त ध्वनियों को स्पष्ट रूप से दर्शाने में सक्षम है। इसकी तुलना में तमिल लिपि में कई ध्वनियाँ नहीं दर्शाई जा सकती थीं, जिनका संस्कृत में प्रयोग होता था। इसलिए ग्रंथ लिपि एक वैज्ञानिक और व्याकरणिक रूप से उन्नत लिपि मानी जाती है।

इस लिपि में कुल 13 स्वर और 34 व्यंजन होते हैं। अक्षरों की आकृति गोलाकार होती है और कई वर्णों में सजावटी आभा होती है। यह लिपि वाम से दक्षिण की ओर लिखी जाती है और इसमें संयुक्ताक्षरों का उपयोग भी अत्यधिक परिपक्व रूप में मिलता है। इसकी शैली शिलालेखों, ताड़पत्रों तथा ताम्रपत्रों पर अंकित ग्रंथों में अत्यंत

सुरुचिपूर्ण होती थी।

ग्रंथ लिपि का प्रयोग मुख्यतः धार्मिक कार्यों में होता था। इसके माध्यम से वेद, उपनिषद, पुराण, शास्त्र और अन्य संस्कृत ग्रंथों की प्रतिलिपियाँ बनाई जाती थीं। मंदिरों में पुरोहित, विद्वान और गुरुकुलों के शिक्षक इस लिपि में धार्मिक ग्रंथ पढ़ते और पढ़ाते थे। ग्रंथ लिपि का प्रयोग विशेषतः वैदिक अनुष्ठानों और पूजा विधानों में उपयोगी ग्रंथों के लिए किया जाता था।

केरल में ब्राह्मण समुदाय ने ग्रंथ लिपि को "कैरला ग्रंथ" नामक एक विशेष शैली में अपनाया। इसके अतिरिक्त, ग्रंथ लिपि ने मलयालम लिपि के प्रारंभिक विकास को भी प्रभावित किया। चोल और पांड्य राजाओं द्वारा उपयोग की गई इस लिपि ने शैव और वैष्णव परंपराओं के धार्मिक साहित्य को संरक्षित करने में प्रमुख भूमिका निभाई।

7.4.6 तमिल-ब्राह्मी लिपि

तमिल-ब्राह्मी लिपि, जिसे "दक्षिण ब्राह्मी" या "तमिळ ब्राह्मी" भी कहा जाता है, प्राचीन तमिलनाडु क्षेत्र में प्रयुक्त एक अत्यंत महत्वपूर्ण लिपि है। यह लिपि ब्राह्मी लिपि की एक क्षेत्रीय रूपांतरित शाखा थी, जिसका प्रयोग विशेष रूप से प्राचीन तमिल भाषा को लिपिबद्ध करने के लिए किया गया। इसका उद्भव लगभग तीसरी शताब्दी ईसा-पूर्व में हुआ माना जाता है। यह लिपि उस समय के सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन की महत्वपूर्ण झलक प्रस्तुत करती है। तमिल-ब्राह्मी लिपि प्राचीनतम तमिल लेखन प्रणाली है जो भारत की द्रविड़ भाषायी विरासत और ब्राह्मी लिपिक परंपरा को जोड़ती है। इसके माध्यम से प्राप्त अभिलेख हमें संगम कालीन समाज, व्यापार, धर्म और राजनीति की विस्तृत जानकारी प्रदान करते हैं। यह लिपि द्रविड़ भाषाओं और उत्तर भारतीय लिपियों के बीच सेतु का कार्य करती है।

7.4.6.1 उद्भव एवं विकास

तामिल-ब्राह्मी लिपि का विकास ब्राह्मी लिपि से हुआ, किंतु इसे तमिल भाषा की विशेष ध्वनियों और व्याकरणिक संरचना के अनुसार अनुकूलित किया गया। ब्राह्मी लिपि मूलतः संस्कृत या प्राकृत लेखन के लिए उपयुक्त थी, किंतु तमिल में कई ऐसी ध्वनियाँ थीं जो ब्राह्मी में स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त नहीं होती थीं। इसलिए, तमिल-ब्राह्मी में कुछ विशेष संकेतों और चिन्हों का समावेश किया गया। इस लिपि का प्रयोग लगभग तीसरी शताब्दी ई.पू. से लेकर तीसरी शताब्दी ई. तक हुआ। इसके बाद यह लिपि धीरे-धीरे लुप्त होती गई और इसकी जगह नागरी तथा भिन्न तमिल लिपियों का उद्भव हुआ। किन्तु उस समय प्राप्त शिलालेख, गुफा-लेख, तथा मृद्भांडों पर अंकित लेख इस लिपि की उपयोगिता और व्यापकता को दर्शाते हैं।

7.4.6.2 प्रमुख अभिलेख एवं उपयोग

तमिल-ब्राह्मी लिपि में प्राप्त प्रमुख अभिलेखों में मदुरै, पुझलुर, अडिचनल्लूर, करुवूर, और अलागर्मलाई आदि स्थानों से प्राप्त गुफा-लेख उल्लेखनीय हैं। इन अभिलेखों से पता चलता है कि यह लिपि व्यापारियों, साधुओं और सामान्य जनों द्वारा व्यापक रूप से उपयोग की जाती थी।

उत्खनन (archaeological excavation) में मिले ताम्र-पत्र, मिट्टी के बर्तन, सिक्के और दीवार-लेख इस बात का प्रमाण देते हैं कि इस लिपि का प्रयोग व्यापारिक गतिविधियों, दान-पत्रों, नाम-लेखन और धार्मिक घोषणाओं के लिए किया जाता था। कुछ अभिलेख जैन धर्म से भी संबंधित हैं, जिससे स्पष्ट होता है कि जैन साधुओं ने भी इस लिपि का उपयोग किया।

विशेष रूप से पांड्य और चेर राजवंशों के समय यह लिपि अधिक प्रचलित रही। इससे यह भी संकेत मिलता है कि उस समय तमिल भाषा की प्रतिष्ठा और लेखन परंपरा कितनी समृद्ध थी।

7.4.6.3 भाषाई संरचना और लिपिकीय विशेषताएँ

तमिल-ब्राह्मी लिपि ब्राह्मी के समानांतर संरचना को बनाए रखते हुए कुछ नवाचार प्रस्तुत करती है। इसमें तमिल भाषा की ध्वनियों के अनुरूप नए अक्षरों और चिह्नों को विकसित किया गया। इस लिपि में ध्वन्यात्मक सटीकता पर विशेष ध्यान दिया गया है, जिससे यह तमिल के उच्चारण के निकटतम रूप में प्रस्तुत होती है। यह लिपि बाएँ से दाएँ लिखी जाती थी, और इसमें दीर्घ-ह्रस्व स्वरों को स्पष्ट पहचान देने की परंपरा थी। संयुक्ताक्षरों का प्रयोग बहुत कम था, और व्यंजन के साथ स्वर के चिह्न जोड़े जाते थे। इस लिपि में अभिलेखों की भाषा प्रारंभिक तमिल होती थी जो उस युग की सामाजिक बोली को दर्शाती है।

7.4.6.4 महत्त्व और प्रभाव

तमिल-ब्राह्मी लिपि का भारतीय लिपिक परंपरा में विशिष्ट स्थान है। इस लिपि के माध्यम से तमिल भाषा में लेखन की पुरातन परंपरा को मान्यता मिली और यह द्रविड़ भाषाओं के विकास का प्रमाण बन गई। यह लिपि दर्शाती है कि ब्राह्मी जैसी लिपि को भी क्षेत्रीय भाषाओं की आवश्यकताओं के अनुरूप ढाला जा सकता था।

इस लिपि का प्रभाव बाद की तमिल लिपि पर स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। आधुनिक तमिल लिपि में कई स्वरूप और चिन्ह तमिल-ब्राह्मी से ही विकसित हुए हैं। साथ ही, इस लिपि के माध्यम से संगम युगीन साहित्य, संस्कृति, धर्म और समाज की बहुमूल्य जानकारी मिलती है।

7.4.7 बंगला लिपि

बंगला लिपि भारतीय उपमहाद्वीप की एक अत्यंत समृद्ध और प्राचीन लिपि है, जो मुख्यतः बांग्ला भाषा के लेखन में प्रयुक्त होती है। इसके अतिरिक्त यह असमिया, संथाली, मैथिली और मणिपुरी जैसी भाषाओं के लेखन में भी विविध रूपों में प्रयोग की जाती रही है। बंगला लिपि देवनागरी लिपि की तरह ब्राह्मी लिपि से ही विकसित हुई है, परंतु इसकी आकृति और शैली विशिष्ट है, जो इसे अन्य लिपियों से अलग बनाती है।

यह लिपि आज केवल भाषा के संप्रेषण का माध्यम नहीं है, बल्कि बंगाल की सांस्कृतिक और साहित्यिक विरासत की संवाहक भी है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर, बंकिम चंद्र चट्टोपाध्याय, ईश्वर चंद्र विद्यासागर जैसे महान साहित्यकारों की रचनाएँ इसी लिपि में लिपिबद्ध की गईं, जिसने इसे राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय ख्याति प्रदान की।

7.4.7 उद्भव और विकास

बंगला लिपि का विकास ब्राह्मी लिपि की पूर्वी शाखा से हुआ है, जो 11वीं शताब्दी के आस-पास एक विशिष्ट रूप लेने लगी। पाल और सेन वंशों के समय बंगाल में साहित्य, धर्म और प्रशासन में लेखन कार्य का विस्तार हुआ, जिससे इस लिपि का प्रयोग व्यापक होने लगा। प्रारंभिक रूप में इसे 'गौड़ी लिपि' कहा जाता था, जो समय के साथ 'बंगला लिपि' के रूप में विकसित हुई। बंगला लिपि में समय के साथ कई सुधार और परिष्करण हुए। विशेष रूप से 19वीं शताब्दी में ईश्वर चंद्र विद्यासागर ने इस लिपि को सरल और व्याकरणसम्मत स्वरूप प्रदान किया। आधुनिक मुद्रण तकनीक और डिजिटल माध्यमों में इसका व्यापक उपयोग इसे 21वीं सदी में भी जीवंत बनाए हुए है।

बंगला लिपि बाएं से दाएं लिखी जाती है और इसमें कुल 12 स्वर और 36 व्यंजन अक्षर होते हैं। इसका प्रमुख लक्षण इसकी गोलाकार और वक्र रेखाओं से युक्त शैली है, जो इसे देवनागरी लिपि से अलग बनाती है। इसमें शीर्ष रेखा नहीं होती, जो देवनागरी की एक प्रमुख पहचान होती है। बंगला लिपि में संयुक्ताक्षर का विशेष महत्व है और इनमें कई अक्षरों का संयोजन नए रूपों में होता है, जो शुद्ध उच्चारण और लेखन के लिए आवश्यक होते हैं। इस लिपि की संरचना में उच्चारण की सटीकता को बनाए रखने के लिए स्वरचिह्नों और व्यंजन संयोगों की विस्तृत प्रणाली विकसित हुई है।

बंगला लिपि का भारत के सांस्कृतिक इतिहास में विशिष्ट स्थान है। इस लिपि में रचित साहित्य ने भारतीय राष्ट्रवाद, समाज सुधार और सांस्कृतिक पुनर्जागरण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविताएँ और 'जन गण मन' जैसे गीत, बंकिम चंद्र चट्टोपाध्याय का 'वंदे मातरम्', तथा चैतन्य महाप्रभु की भक्ति परंपरा में रचित ग्रंथ इसी लिपि में लिखे गए हैं। बंगाल की धार्मिक परंपराओं, विशेषकर वैष्णव और शाक्त परंपरा के ग्रंथों का संकलन भी इसी लिपि में हुआ है। इसने भारत की विविध भाषिक और सांस्कृतिक एकता को भी बल प्रदान किया।

7.5 प्राचीन भारतीय अभिलेख

प्राचीन भारतीय अभिलेख वे लेखन सामग्री हैं जो पत्थर, ताम्रपत्र, स्तंभ, गुहाओं, मंदिरों या अन्य ठोस माध्यमों पर खुदे हुए होते हैं । ये अभिलेख न केवल तत्कालीन शासकों के आदेश, दान, धार्मिक निर्देश, और राजनैतिक घटनाओं के प्रमाण थे, बल्कि आज के इतिहास लेखन के लिए मौलिक स्रोत भी हैं। ये हमें प्राचीन भारतीय समाज की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा भाषाई स्थितियों की जानकारी देते हैं। इसलिए, अभिलेख भारतीय इतिहास के "जीवित दस्तावेज़" कहे जा सकते हैं।

प्राचीन भारतीय अभिलेख ऐतिहासिक अनुसंधान में अत्यंत सहायक हैं। ये अभिलेख न केवल कालक्रम निर्धारण में मदद करते हैं, बल्कि वंशावली, भू-राजस्व व्यवस्था, समाज की वर्ग-व्यवस्था, भाषा के विकास, और धार्मिक प्रवृत्तियों की स्पष्ट जानकारी भी प्रदान करते हैं। इनके माध्यम से इतिहासकारों को घटनाओं के सटीक विवरण और तिथि मिलती है। भारत की विविधता और एकता का प्रमाण भी इन अभिलेखों में परिलक्षित होता है।

7.5.1 अभिलेखों के प्रकार

प्राचीन भारतीय अभिलेखों को विभिन्न आधारों पर वर्गीकृत किया जा सकता है, जैसे – उनके लेखन माध्यम, प्रयोजन, भाषा, लिपि तथा विषयवस्तु। ये अभिलेख भारतीय इतिहास और संस्कृति के अमूल्य स्रोत हैं। अभिलेखों को उनकी प्रकृति एवं उपयोगिता के आधार पर प्रमुख वर्गों में विभाजित कर समझा जा सकता है-

1. लेखन माध्यम के आधार पर अभिलेखों के प्रकार

(क) शिलालेख (Stone Inscriptions)- ये अभिलेख पत्थरों पर खुदे होते हैं और भारतीय उपमहाद्वीप में बड़ी संख्या में पाए जाते हैं। मौर्यकालीन सम्राट अशोक के शिलालेख सबसे प्रसिद्ध हैं, जो ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपियों में लिखे गए थे। ये लेख मुख्यतः धार्मिक आदेश, नीति-संदेश, या प्रशासनिक निर्देश को दर्शाते हैं। प्रमुख शिलालेखों में गिरनार, थोर, कंधार, रुम्मिनदेई आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

(ख) स्तंभलेख (Pillar Inscriptions)- स्तंभों पर अंकित अभिलेखों का प्रयोग भी विशेष रूप से मौर्य काल में हुआ। अशोक के स्तंभ जैसे लौरीया नंदनगढ़, सांची, और दिल्ली के अशोक स्तंभ ऐतिहासिक रूप से अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। ये स्तंभ धर्मप्रसार, नीतिशिक्षा और न्यायव्यवस्था का परिचायक रहे हैं।

(ग) ताम्रपट्ट अभिलेख (Copper-plate Inscriptions)- ताम्रपट्ट अभिलेखों का प्रयोग भूमि दान, करमुक्ति, या किसी विशेष अधिकार के प्रमाणपत्र के रूप में किया जाता था। ये मुख्यतः राजाओं, सामंतों या मंदिरों द्वारा जारी किए जाते थे। गुप्त, चालुक्य, राष्ट्रकूट, चोल आदि राजवंशों ने इस प्रकार के अनेक ताम्रपत्र जारी किए। इन पर संस्कृत भाषा का प्रचलन अधिक देखने को मिलता है।

(घ) गुहालेख (Cave Inscriptions)- गुहाओं की दीवारों या प्रवेशद्वारों पर लिखे गए ये अभिलेख विशेषतः धार्मिक महत्त्व के होते थे। बौद्ध, जैन तथा हिन्दू मठों और मंदिरों में इनका उपयोग हुआ। अजन्ता, एलोरा, कार्ले, नासिक, भीमबेटका आदि गुफाओं में इस प्रकार के अभिलेख मिलते हैं। ये धार्मिक अनुदानों, शिल्पकारों के नाम, दाताओं की जानकारी एवं निर्माण तिथियों को प्रकट करते हैं।

2. प्रयोजन आधारित अभिलेखों के प्रकार

(क) राजकीय आदेश या प्रशस्तियाँ (Royal Edicts & Eulogies)- इन अभिलेखों में शासकों के आदेश, दानपत्र या प्रशंसा लेख होते थे। जैसे – प्रयाग प्रशस्ति (हर्षवर्धन काल), एरण शिलालेख, एवं भीतरी शिलालेख आदि। ये लेख शासकों की वीरता, पराक्रम, दानशीलता और धार्मिक गतिविधियों को उजागर करते हैं।

(ख) दानपत्र अभिलेख (Donation Records)- इन अभिलेखों में किसी दान, भूमि-दान या मंदिर-निर्माण का उल्लेख होता है। विशेषतः ब्राह्मणों, मठों एवं मंदिरों को दी गई भूमि या संपत्ति के बारे में इन अभिलेखों में विवरण मिलता है। ये समाज में धार्मिक संस्थाओं की स्थिति और उनकी भूमिका का भी संकेत देते हैं।

(ग) मंदिर लेख (Temple Inscriptions)- मंदिरों में उपलब्ध ये लेख मंदिर की स्थापना, दान, पुजारियों के अधिकार, और उत्सवों के आयोजन आदि का विवरण प्रदान करते हैं। दक्षिण भारत के मंदिरों जैसे – बृहदेश्वर मंदिर, मीनाक्षी मंदिर, होयसलेश्वर मंदिर आदि में ऐसे अनेक अभिलेख मिले हैं।

(घ) स्मारक लेख या जनसामान्य लेख (Memorial or Local Inscriptions)- इन अभिलेखों में किसी सामान्य व्यक्ति, सैनिक, शिल्पकार, व्यापारी या यात्री की स्मृति में लेखन होता था। ये इतिहास की लोकधारा को समझने में सहायक होते हैं और हमें समाज के विविध वर्गों की भागीदारी का संकेत देते हैं।

अभिलेखों के विविध प्रकार यह प्रमाणित करते हैं कि भारत में लेखन केवल एक औपचारिक प्रक्रिया नहीं थी, बल्कि यह सांस्कृतिक, धार्मिक, आर्थिक और प्रशासनिक जीवन का अभिन्न हिस्सा थी। शिलालेखों से लेकर ताम्रपत्रों तक, ये सभी अभिलेख हमारी सांस्कृतिक धरोहर का अद्वितीय दस्तावेज़ हैं, जो प्राचीन भारत की बहुआयामी पहचान को सुरक्षित रखते हैं।

7.6 अभिलेखों का ऐतिहासिक महत्व

भारत के प्रमुख अभिलेख भारतीय इतिहास, संस्कृति, प्रशासन और धर्म के मूलभूत स्रोत हैं। ये अभिलेख न केवल तत्कालीन राजनीतिक घटनाओं और सामाजिक संरचना का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं, बल्कि प्राचीन भारतीय लिपियों, भाषाओं और लेखन शैलियों के विकास का भी साक्ष्य प्रदान करते हैं।

यह प्रमुख अभिलेख भारतीय इतिहास की विविध परतों को उजागर करते हैं। वे शासकों की नीतियों, धार्मिक प्रवृत्तियों, सामाजिक व्यवस्थाओं और सांस्कृतिक चेतना का लेखा-जोखा प्रस्तुत करते हैं। इन अभिलेखों के माध्यम से हम यह समझ सकते हैं कि भारत में लेखन केवल एक संवाद माध्यम नहीं, बल्कि शासकीय, धार्मिक और सांस्कृतिक चेतना का प्रतिबिंब भी था। अतः इन अभिलेखों का संरक्षण एवं अध्ययन भारतीय सांस्कृतिक विरासत को समझने हेतु अत्यंत आवश्यक है।

7.7 अभिलेखों के संरक्षण की आवश्यकता

अभिलेख, चाहे वे शिलालेख हों, ताम्रपत्र हों या भोजपत्र पर लिखे गए ग्रंथ, हमारे अतीत की सजीव धरोहर हैं। वे हमें प्राचीन काल की शासन व्यवस्था, धार्मिक विश्वासों, सामाजिक संरचना और सांस्कृतिक उपलब्धियों की जानकारी देते हैं। किंतु समय के प्रवाह में इन अभिलेखों पर संकट के बादल मंडराने लगे हैं – जलवायु परिवर्तन, मानवीय उपेक्षा, प्रदूषण, अज्ञानता और प्राकृतिक क्षरण ने कई महत्वपूर्ण अभिलेखों को नष्ट कर दिया है। ऐसे में इनका संरक्षण अत्यंत आवश्यक हो जाता है।

1. सांस्कृतिक विरासत का संवर्धन- अभिलेख केवल ऐतिहासिक दस्तावेज नहीं, बल्कि हमारी सांस्कृतिक चेतना के वाहक भी हैं। वे कला, भाषा, लिपि, साहित्य और धार्मिक विश्वासों की विविधता को दर्शाते हैं। ब्राह्मी, खरोष्ठी, नागरी, ग्रंथ, तमिल-ब्राह्मी जैसी लिपियाँ केवल लेखन नहीं थीं, वे एक युग की सांस्कृतिक आत्मा थीं। इन लिपियों में लिखे गए अभिलेख यदि सुरक्षित नहीं रखे गए, तो हमारी सांस्कृतिक पहचान को क्षति पहुँच सकती है।

2. शोध और शैक्षणिक महत्व- अभिलेख इतिहासकारों, पुरातत्वविदों और शोधकर्ताओं के लिए प्राथमिक स्रोत होते हैं। इनसे प्राप्त सूचनाओं के आधार पर विश्वविद्यालयों में शोध होते हैं, ग्रंथ लिखे जाते हैं और पाठ्यक्रम तैयार किए जाते हैं। यदि ये अभिलेख संरक्षित नहीं रहेंगे, तो भावी पीढ़ियों के लिए अनुसंधान के अवसर सीमित हो जाएंगे। इसीलिए आवश्यक है कि अभिलेखों को वैज्ञानिक ढंग से संरक्षित किया जाए।

3. विरासत जागरूकता और पर्यटन में योगदान- अभिलेख, विशेषकर शिलालेख, कई बार ऐतिहासिक स्थलों पर स्थित होते हैं जो सांस्कृतिक पर्यटन के प्रमुख आकर्षण होते हैं। इन अभिलेखों के माध्यम से जनता में अपने अतीत के प्रति जागरूकता उत्पन्न होती है। यदि पर्यटक किसी ऐतिहासिक स्थल पर जाकर वहाँ के अभिलेखों को पढ़ते हैं या उनके बारे में जानते हैं, तो उनका संबंध उस विरासत से अधिक गहरा बनता है। संरक्षण के अभाव में यह अनुभव अधूरा रह जाएगा।

अभिलेख हमारी सांस्कृतिक आत्मा और ऐतिहासिक स्मृति के वाहक हैं। यदि हमने उन्हें उपेक्षित छोड़ दिया, तो हम अपने अतीत के अमूल्य खजाने को खो देंगे। अतः इनका संरक्षण केवल एक तकनीकी कार्य नहीं, बल्कि एक

सांस्कृतिक कर्तव्य है। शासन, शिक्षण संस्थान, पुरातत्व विभाग और नागरिक समाज – सभी को मिलकर इस दिशा में कार्य करना चाहिए ताकि हमारी धरोहर भावी पीढ़ियों तक सुरक्षित पहुँच सके।

7.8 सारांश

भारत की मूर्त सांस्कृतिक विरासत के अंतर्गत लिपियाँ एवं अभिलेख एक अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इनकी सहायता से हम न केवल प्राचीन भारत की राजनीतिक और धार्मिक व्यवस्था को समझते हैं, बल्कि भाषा, साहित्य, समाज और संस्कृति की विविधताओं का भी आंकलन कर पाते हैं। ब्राह्मी, खरोष्ठी, नागरी, सिद्धमात्रिका, ग्रंथ, तामिल-ब्राह्मी, शारदा और बंगला जैसी भारतीय लिपियाँ न केवल भाषायी संप्रेषण के साधन थीं, बल्कि उन्होंने भारतीय दर्शन, धर्म और साहित्य को पीढ़ी-दर-पीढ़ी संरक्षित करने में प्रमुख भूमिका निभाई। इन लिपियों के माध्यम से ही वेद, उपनिषद, धर्मशास्त्र, राजाज्ञाएँ, दानपत्र और शिलालेख भविष्य के लिए सहेजे जा सके। इन लिपियों के विकास से भारतीय भाषाओं में विविधता और परिपक्वता आई, जिससे क्षेत्रीय संस्कृति का विस्तार और परिष्कार हुआ।

अभिलेख प्राचीन काल की घटनाओं के प्रत्यक्ष प्रमाण होते हैं। अशोक के शिलालेख, गुप्तकालीन प्रशस्तियाँ, चोलों और पल्लवों के मंदिर लेख ये सभी भारत के सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक इतिहास के अविभाज्य अंग हैं। अभिलेखों से ही हमें यह ज्ञात होता है कि विभिन्न कालों में समाज में किन-किन मूल्यों और व्यवस्थाओं का स्थान था।

अंततः कहा जा सकता है कि भारत की मूर्त सांस्कृतिक विरासत की पहचान उसकी लिपियों और अभिलेखों में निहित है। यह विरासत हमें अपने गौरवशाली अतीत से जोड़ती है और भविष्य की दिशा निर्धारित करने में मार्गदर्शन करती है। इसलिए लिपियों और अभिलेखों का अध्ययन केवल शैक्षणिक कार्य नहीं, बल्कि सांस्कृतिक उत्तराधिकार को जीवित रखने का प्रयास है। इस इकाई के माध्यम से विद्यार्थी यह समझने में सक्षम होंगे कि कैसे लिपियाँ और अभिलेख भारतीय इतिहास के अविभाज्य अंग हैं और उन्हें संरक्षित करना हम सभी की जिम्मेदारी है।

7.9 शब्दावली

1.	लिपि	ध्वनियों या शब्दों को लिखने की प्रणाली, जो किसी भाषा को दृश्य रूप में प्रकट करती है। जैसे – ब्राह्मी, देवनागरी आदि।
2.	अभिलेख	किसी शासक, व्यक्ति या संस्था द्वारा पत्थर, धातु, ताम्रपत्र या अन्य सतहों पर अंकित लेख जिसे स्थायीत्व के लिए लिखा गया हो।
3.	शिलालेख	पत्थर या चट्टान पर खुदा हुआ अभिलेख, जो आमतौर पर राजाज्ञा या धार्मिक सूचना के रूप में होता है।

4.	ताम्रपत्र	तांबे की पट्टिका पर खुदे हुए लेख, जो दान, भूमि-अनुदान या सरकारी आदेशों को दर्शाते हैं।
5.	ब्राह्मी लिपि	भारत की सबसे प्राचीन लिपियों में से एक, जिससे कई आधुनिक भारतीय लिपियाँ विकसित हुईं।
6.	खरोष्ठी लिपि	उत्तर-पश्चिम भारत में प्रचलित एक प्राचीन लिपि जो दाएँ से बाएँ लिखी जाती थी और अरामी लिपि से प्रभावित थी।
7.	देवनागरी लिपि	आधुनिक हिंदी, संस्कृत, मराठी आदि भाषाओं की प्रमुख लिपि, जो बाएँ से दाएँ लिखी जाती है।
8.	पुरालेखन	प्राचीन लिपियों और लेखन पद्धतियों का अध्ययन, जो अभिलेखों को पढ़ने और समझने में सहायक होता है।
9.	प्रशस्ति	किसी राजा या व्यक्ति की प्रशंसा में रचित गद्य या पद्य लेख, जो प्रायः मंदिरों या स्तंभों पर उत्कीर्ण होता है।

7.10 अभ्यास प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

प्रश्न 1. भारत की सबसे प्राचीन लिपि कौन-सी मानी जाती है?

A. खरोष्ठी

B. ब्राह्मी

C. देवनागरी

D. सिद्धमात्रिका

प्रश्न 2. खरोष्ठी लिपि किस दिशा में लिखी जाती थी?

A. ऊपर से नीचे

B. बाएँ से दाएँ

C. दाएँ से बाएँ

D. गोलाकार

प्रश्न 3. निम्न में से किस लिपि से देवनागरी लिपि का विकास हुआ?

A. शारदा

B. ब्राह्मी
C. खरोष्ठी
D. तामिल-ब्राह्मी

प्रश्न 4. शारदा लिपि का प्रयोग विशेषकर किस क्षेत्र में हुआ?
A. बंगाल
B. केरल
C. कश्मीर
D. महाराष्ट्र

प्रश्न 5. ग्रंथ लिपि मुख्यतः किस भाषा के लेखन के लिए प्रयोग होती है?
A. संस्कृत
B. तमिल
C. तेलुगु
D. मलयालम

प्रश्न 6. 'प्रशस्ति' क्या होती है?
A. धार्मिक आदेश
B. युद्ध की घोषणा
C. दान-पत्र
D. राजा की प्रशंसा में लिखा गया लेख

स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

1. (B) ब्राह्मी, 2, (C) दाएँ से बाएँ, 3. (B) ब्राह्मी, 4. (C) कश्मीर, 5. (A) संस्कृत, 6. (D) राजा की प्रशंसा में लिखा गया लेख

- दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

10. ब्राह्मी लिपि के उद्भव, विकास एवं महत्व का वर्णन कीजिए।

11. भारतीय उपमहाद्वीप में प्राचीन लिपियों की विविधता पर प्रकाश डालिए।

12. प्रमुख भारतीय अभिलेखों का ऐतिहासिक महत्व स्पष्ट कीजिए।

13. अभिलेखों के प्रकारों का विस्तृत वर्णन करें एवं उदाहरण दें।

14. भारतीय लिपियों का भारतीय संस्कृति एवं साहित्य में योगदान समझाइए।

15. अशोक के शिलालेखों के माध्यम से मौर्यकालीन शासन का मूल्यांकन कीजिए।

16. अभिलेखों के संरक्षण हेतु वर्तमान में किए जा रहे प्रयासों का विश्लेषण कीजिए।

17. ताम्रपत्रों की ऐतिहासिक उपयोगिता एवं उदाहरणों सहित विवेचना कीजिए।

7.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

बनर्जी, डी. सी. (1974). द डेवलपमेंट ऑफ इंडियन स्क्रिप्ट्स

पाणिग्राही, के. एम. (1965). इंडियन एपीग्राफी

कृष्णस्वामी, ए. (1998). टैम्पल इनस्क्रिप्शन्स इन साउथ इंडिया

श्रीवास्तव, ए. एल. (2010). भारतीय लिपियों का इतिहास

गुप्त, पी. के. (2002). भारत के अभिलेख एवं लिपियाँ

मजा महाजन, वी. डी. (1975). एंशिएंट इंडिया

सिंह, उपेंद्र. (2008). ए हिस्ट्री ऑफ एंशिएंट एंड अर्ली मेडिवल इंडिया

IGNOU Study Material (History Discipline)

भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण की वार्षिक रिपोर्ट्स

एपिग्राफिया इण्डिका (Epigraphia Indica)

इकाई आठ

भारत की अमूर्त सांस्कृतिक विरासत - त्यौहार, मेले, नृत्य, नाटक, खेल, विश्वास, अनुष्ठान, लोकगीत आदि

8.0 परिचय

8.1 उद्देश्य

8.2 अमूर्त सांस्कृतिक विरासत: अवधारणा और अर्थ

8.3 यूनेस्को द्वारा अमूर्त सांस्कृतिक विरासत की परिभाषा

8.4 भारत में अमूर्त सांस्कृतिक विरासत के मुख्य आयाम

8.5 अमूर्त विरासत का संरक्षण: नीति एवं पहल

8.6 भारत के प्रमुख त्यौहार

8.7 भारत के प्रमुख मेले

8.8 भारतीय नृत्य परंपरा

8.9 भारतीय नाट्य एवं रंगमंच परंपराएँ

- 8.9.1 संस्कृत नाट्य परंपरा
- 8.9.2 लोक रंगमंच
- 8.9.3 कठपुतली एवं छाया-नाट्य
- 8.9.4 आधुनिक भारतीय रंगमंच परंपरा

8.10 अनुष्ठान, विश्वास और सामाजिक प्रथाएँ

- 8.10.1 हिन्दू, बौद्ध, जैन, सिख, इस्लामी व ईसाई अनुष्ठान
- 8.10.2 जीवन-चक्र संस्कार: जन्म, उपनयन, विवाह, मृत्यु
- 8.10.3 क्षेत्रीय/जनजातीय विश्वास प्रणालियाँ
- 8.10.4 तंत्र, योग तथा ध्यान परंपराएँ
- 8.10.5 अनुष्ठानों का सामाजिक महत्व

8.11 खेल व पारंपरिक खेल-कूद

- 8.11.1 पारंपरिक भारतीय खेल: कबड्डी, खो-खो, मलखंब आदि
- 8.11.2 जनजातीय खेल
- 8.11.3 पारंपरिक खेलों का सांस्कृतिक महत्व

8.11.4 आधुनिक संदर्भ में पारंपरिक खेलों का पुनरुत्थान
8.12 लोकगीत, लोकसंगीत एवं मौखिक परंपरा
8.13 युनेस्को द्वारा मान्यता प्राप्त भारत की अमूर्त सांस्कृतिक विरासत
8.14 संरक्षण, संवर्धन एवं चुनौतियाँ
8.15 सारांश
8.16 मुख्य शब्द
8.17 संदर्भ-ग्रंथ सूची
8.18 प्रश्नावली

8.0 परिचय

भारतीय संस्कृति अपने व्यापक स्वरूप, विविधता तथा निरंतरता के कारण विश्व में अद्वितीय मानी जाती है। भारत की सांस्कृतिक परंपराएँ केवल स्थापत्य, मूर्तिकला, चित्रकला अथवा भौतिक स्रोतों तक सीमित नहीं हैं, बल्कि वे उन असंख्य परंपराओं, ज्ञान-प्रणालियों, लोकमान्यताओं, अनुष्ठानों, संगीत, नृत्य, पर्व-त्यौहार, मेलों और मौखिक अभिव्यक्तियों में भी निहित हैं जिन्हें हम सामूहिक रूप से अमूर्त सांस्कृतिक विरासत कहते हैं। यह विरासत पीढ़ियों से लोक जीवन का हिस्सा रही है और निरंतर बदलते हुए भी अपने मूल स्वरूप को बनाए रखती है। यही कारण है कि अमूर्त विरासत किसी भी समाज की पहचान, सामुदायिक एकता, सांस्कृतिक निरंतरता और आत्मगौरव की आधारशिला के रूप में कार्य करती है।

भारत का विविधतापूर्ण भौगोलिक स्वरूप, भाषा-समूहों का विस्तार, धार्मिक-दार्शनिक परंपराएँ और जनजातीय-सामुदायिक संरचना ने यहाँ की अमूर्त विरासत को अत्यंत समृद्ध और बहुरूपी बनाया है। चाहे उत्तर भारत के लोकगीत हों, दक्षिण की शास्त्रीय नृत्य परंपराएँ, पूर्वोत्तर की जनजातीय मान्यताएँ हों या पश्चिम भारत की लोक-नाट्य शैलियाँ—सभी मिलकर भारतीय सांस्कृतिक धरोहर की जीवंतता को व्यक्त करती हैं।

इक्कीसवीं सदी में वैश्वीकरण, शहरीकरण और तकनीकी परिवर्तन के कारण अमूर्त विरासत को संरक्षण की आवश्यकता और भी बढ़ गई है। इसी उद्देश्य से यूनेस्को ने 2003 में "अमूर्त सांस्कृतिक विरासत के संरक्षण हेतु अभिसमय" को स्वीकार किया, जिसके अंतर्गत भारत की अनेक परंपराओं को विश्व धरोहर का दर्जा प्राप्त हुआ है। यह इकाई अमूर्त विरासत की अवधारणा, इसके विभिन्न स्वरूपों, संरक्षण प्रयासों और भारतीय उदाहरणों पर विस्तार से विचार प्रस्तुत करती है।

8.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप निम्नलिखित उद्देश्यों को प्राप्त कर सकेंगे:-

1. अमूर्त सांस्कृतिक विरासत की अवधारणा एवं अर्थ को समझ सकेंगे।
2. यूनेस्को द्वारा अमूर्त सांस्कृतिक विरासत की परिभाषा और उससे संबंधित वैश्विक प्रयासों को जान सकेंगे।
3. भारतीय अमूर्त विरासत के प्रमुख आयामों—त्यौहार, मेले, नृत्य, नाटक, अनुष्ठान, विश्वास, खेल और लोकसंगीत —का परिचय प्राप्त करेंगे।
4. भारत में अमूर्त विरासत के संरक्षण से जुड़ी नीतियाँ, सरकारी पहल और चुनौतियों का विश्लेषण कर सकेंगे।
5. यह समझ पाएंगे कि अमूर्त सांस्कृतिक विरासत सामाजिक पहचान, सामुदायिक समरसता और सांस्कृतिक निरंतरता में कैसे योगदान देती है।
6. इस विषय से जुड़े प्रमुख शब्दों, यूनेस्को सूचीबद्ध भारतीय विरासतों तथा अध्ययन में प्रयुक्त स्रोतों की जानकारी प्राप्त करेंगे।

8.2 अमूर्त सांस्कृतिक विरासत: अवधारणा और अर्थ

अमूर्त सांस्कृतिक विरासत (Intangible Cultural Heritage) ऐसी सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों, कौशलों, पारंपरिक ज्ञानों और सामाजिक व्यवहारों को संदर्भित करती है जिनका भौतिक रूप सीमित होता है, परंतु सांस्कृतिक महत्व अत्यंत गहरा होता है। यह वह सांस्कृतिक संपदा है जो स्पर्श नहीं की जा सकती, परंतु अनुभव की जा सकती है तथा जो समुदायों के जीवन-प्रक्रिया का अंग बनकर पीढ़ी-दर-पीढ़ी संचारित होती रहती है।

अमूर्त विरासत के मुख्य घटक निम्न प्रकार से हैं:-

- ➢ मौखिक परंपराएँ और अभिव्यक्तियाँ
- ➢ प्रदर्शन कलाएँ : नृत्य, संगीत, नाटक, कठपुतली इत्यादि
- ➢ सामाजिक प्रथाएँ एवं अनुष्ठान
- ➢ त्यौहार एवं उत्सव
- ➢ पारंपरिक हस्तकौशल एवं शिल्पकला का ज्ञान
- ➢ लोक ज्ञान एवं पारंपरिक विज्ञान

अमूर्त विरासत का मूल आधार "लोग" हैं; उनका कौशल, स्मृति, अनुभव, विश्वास और अभिव्यक्ति। यह जीवित परंपराएँ हैं जो समय के साथ रूप बदलती रहती हैं परंतु समुदाय की सांस्कृतिक पहचान को बनाए रखती हैं।

अमूर्त सांस्कृतिक विरासत की विशेषताएँ:-

1. जीवंत और गतिशील: यह समय के साथ विकसित होती है।
2. सामुदायिक स्वरूप: इसका संरक्षण समुदाय स्वयं करता है।
3. अभौतिक प्रकृति: यह भौतिक वस्तुओं पर निर्भर नहीं रहती।

4. सांस्कृतिक पहचान का आधार: यह समाज की आत्म-छवि को निर्मित करती है।

5. सृजनात्मकता और कौशल का स्रोत: यह सामुदायिक ज्ञान को आगे बढ़ाती है।

8.3 यूनेस्को द्वारा अमूर्त सांस्कृतिक विरासत की परिभाषा

यूनेस्को ने 2003 के Convention for the Safeguarding of the Intangible Cultural Heritage में अमूर्त सांस्कृतिक विरासत की परिभाषा प्रस्तुत की। इस परिभाषा के अनुसार- "अमूर्त सांस्कृतिक विरासत वे प्रथाएँ, अभिव्यक्तियाँ, ज्ञान, कौशल तथा उनसे संबंधित उपकरण, शिल्प एवं सांस्कृतिक अंतर्संबंध हैं, जिन्हें समुदाय, समूह तथा कुछ मामलों में व्यक्ति अपनी सांस्कृतिक विरासत के रूप में स्वीकार करते हैं।"

यूनेस्को पाँच मुख्य श्रेणियाँ निर्धारित करता है-

1. मौखिक परंपराएँ और अभिव्यक्तियाँ
2. प्रदर्शन कलाएँ
3. सामाजिक प्रथाएँ, अनुष्ठान और उत्सव
4. प्रकृति एवं ब्रह्माण्ड संबंधी पारंपरिक ज्ञान
5. पारंपरिक हस्तकौशल

यूनेस्को अमूर्त विरासत के संरक्षण के लिए निम्न उपायों पर बल देता है-

- ➢ दस्तावेज़ीकरण
- ➢ शिक्षण एवं प्रशिक्षण
- ➢ जागरूकता कार्यक्रम
- ➢ सामुदायिक भागीदारी
- ➢ राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय सहयोग

भारत इस अभिसमय का सक्रिय सदस्य है और अनेक भारतीय परंपराएँ यूनेस्को की प्रतिनिधि सूची में शामिल हैं।

8.4 भारत में अमूर्त सांस्कृतिक विरासत के मुख्य आयाम

भारत की अमूर्त सांस्कृतिक विरासत अपनी विविधता, प्राचीनता और सामाजिक जड़ों के कारण अत्यंत व्यापक है। यह विरासत केवल धार्मिक परंपराओं तक सीमित नहीं है, बल्कि लोकजीवन, कृषि, ऋतु-चक्र, सामाजिक संरचना, लोक-ज्ञान, कलात्मक अभिव्यक्तियों और सामुदायिक विश्वासों की समग्र प्रक्रिया से विकसित हुई है। भारतीय अमूर्त सांस्कृतिक विरासत को मुख्यतः निम्न आयामों में वर्गीकृत किया जा सकता है।

(1) मौखिक परंपराएँ, लोककथाएँ और भाषाई विविधता:- भारत में सैकड़ों भाषाएँ और हजारों बोलियाँ प्रचलित हैं। इन भाषाओं में निहित लोककथाएँ, कहावतें, मुहावरे, गाथाएँ और लोकमहाकाव्य भारतीय समाज की सांस्कृतिक स्मृति का महत्वपूर्ण हिस्सा हैं। रामकथा-परंपरा, पांडव-गाथाएँ, बिरसा मुंडा की कथाएँ, संत परंपरा की वाणी, पंजाबी अरदास, भक्ति-संतों के पद; ये सभी अमूर्त विरासत के जीवंत उदाहरण हैं।

(2) प्रदर्शन कलाएँ: नृत्य, संगीत और नाट्य:- शास्त्रीय संगीत (हिंदुस्तानी और कर्नाटक), लोकसंगीत की विविध परंपराएँ, मंदिर-नृत्य से विकसित शास्त्रीय नृत्य (भरतनाट्यम, कथक, ओडिसी आदि), लोकनृत्य (रम्माण, तांदी, चौंफुला, छोलिया, झोड़ा, गरबा, बिहू, लावणी, घुमर आदि) तथा देश के विभिन्न भागों की लोक-नाट्य परंपराएँ (नौटंकी, जात्रा, रामलीला, भवाई, आदि) भारतीय अमूर्त विरासत का महत्वपूर्ण आयाम हैं।

(3) सामाजिक प्रथाएँ, अनुष्ठान और उत्सव:- भारत में धार्मिक तथा सामाजिक जीवन अनुष्ठानों और उत्सवों से परिपूर्ण है। जन्म, नामकरण, उपनयन, विवाह, मृत्यु जैसे संस्कारों के साथ-साथ नवरात्रि, दीपावली, ईद, वैशाखी, ओणम, पोंगल, माघ बिहू जैसे उत्सव भारतीय समाज की सामूहिक आस्था को व्यक्त करते हैं। जनजातीय समुदायों में कुर्मा पर्व, सरहुल, सोहराय, मोपला, आदि विशेष महत्व रखते हैं।

(4) पारंपरिक ज्ञान प्रणाली:- भारतीय जनजीवन में कृषि-ज्ञान, आयुर्वेद, लोक-चिकित्सा, जल प्रबंधन, कृषि-तिथियों का ज्ञान, पशुपालन के कौशल आदि जीवित परंपराएँ हैं। मौसम और प्रकृति से संबंधित लोकज्ञान, नाव-निर्माण, पारंपरिक वास्तु, धातुकर्म आदि भी इस विरासत के अंग हैं।

(5) पारंपरिक हस्तकौशल और शिल्पकला:- भारत के प्रत्येक क्षेत्र में विशिष्ट शिल्पकला और पारंपरिक हस्तकौशल मौजूद है- ऐपण कला, चिकनकारी, कांथा, पटोला, बंधनी, पिथोरा चित्रकला, मधुबनी, वारली, चन्नापटना खिलौने, कठपुतली-कला, धातुशिल्प, मिट्टीकला, वाद्य निर्माण आदि। ये शिल्प न केवल कलात्मक कौशल का प्रदर्शन हैं, बल्कि सामुदायिक आर्थिक संरचना का भी आधार हैं।

(6) खेल, पारंपरिक खेल-कूद और मार्शल आर्ट:- भारत में कबड्डी, खो-खो, मलखंब, कलारीपयट्टु, सिलंबम, कुश्ती, गिल्ली-डंडा, पतंगबाजी आदि खेल लंबे समय से सामाजिक जीवन का हिस्सा रहे हैं। जनजातीय समुदायों के विभिन्न खेल जैसे तीरंदाजी, नौकादौड़, बुशु-नु (नागालैंड), थांग-ता (मणिपुर) विशेष महत्व रखते हैं।

(7) लोकगीत, लोकसंगीत और मौखिक परंपरा:- ब्रज के फाग, अवधी के सोहर, बनारस का कजरिया, कश्मीरी चाकरी, राजस्थानी मांड, हिमालयी जागर, कुमाऊँनी-गढ़वाली चौंफुला, चांचरी, छत्तीसगढ़ी पंडवानी, और दक्षिण

भारत के ओप्पारी जैसे गीत लोक-संस्कृति की ध्वनि-परंपरा को सजीव बनाए रखते हैं। ये गीत कृषि, ऋतु, प्रेम, श्रम, युद्ध, भक्ति और सामुदायिक जीवन की अभिव्यक्ति हैं।

(8) सामुदायिक जीवन और प्रकृति आधारित ज्ञान:- भारतीय अमूर्त विरासत का एक महत्वपूर्ण आयाम प्रकृति के साथ सामंजस्य है। पर्वत, नदियाँ, वन, ऋतु-चक्र, पशु-पक्षी आदि भारतीय जीवन में विशेष महत्व रखते हैं। जनजातीय समुदायों की प्रकृति-संरक्षण संबंधी मान्यताएँ और अनुष्ठान अद्वितीय हैं।

इन सभी आयामों से स्पष्ट होता है कि भारत की अमूर्त सांस्कृतिक विरासत केवल सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों की सूची नहीं, बल्कि पूरे समाज के जीवन-चक्र, मूल्य-व्यवस्था और ऐतिहासिक निरंतरता का जीवंत दस्तावेज़ है।

8.5 अमूर्त विरासत का संरक्षण: नीति एवं पहल

अमूर्त सांस्कृतिक विरासत का संरक्षण एक सतत प्रक्रिया है, क्योंकि यह विरासत भौतिक रूप से संरक्षित किए जाने के बजाय समुदायों के जीवन-व्यवहार में संरक्षित रहती है। वैश्वीकरण, शहरीकरण, तकनीकी परिवर्तन, रोजगार के नए अवसरों और उपभोक्तावादी जीवनशैली के कारण अनेक पारंपरिक कलाएँ एवं अनुष्ठान विलुप्ति के कगार पर पहुँच रहे हैं। ऐसे समय में राज्य, समाज और अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं की भूमिका महत्वपूर्ण हो जाती है। भारत में अमूर्त सांस्कृतिक विरासत के संरक्षण हेतु निम्न प्रमुख नीतियाँ एवं पहलें प्रमुख हैं।

(1) यूनेस्को अभिसमय (2003) का अनुसमर्थन:-
भारत ने 2003 में यूनेस्को के Convention for the Safeguarding of the Intangible Cultural Heritage का अनुमोदन किया। इसके अंतर्गत देश निम्न कार्यों को करने के लिए प्रतिबद्ध है-

- अमूर्त विरासत की पहचान एवं सूचीकरण
- समुदाय आधारित संरक्षण
- दस्तावेज़ीकरण, अभिलेखीकरण और डिजिटलीकरण
- संरक्षण कार्यक्रमों हेतु प्रशिक्षण
- कलाकारों और परंपरा-वाहकों को सहायताएँ

इस अभिसमय के बाद अनेक भारतीय परंपराएँ- जैसे कुंभ मेला, नवरोज़, योग, रामलीला, कलारीपयट्टु, बौद्ध जुलूस आदि यूनेस्को की प्रतिनिधि सूची में शामिल हुए।

(2) भारत सरकार के संस्थागत प्रयास:-

(क) संस्कृति मंत्रालय (Ministry of Culture)

संस्कृति मंत्रालय विभिन्न शैक्षणिक एवं सांस्कृतिक संस्थाओं के माध्यम से अमूर्त विरासत के संरक्षण हेतु योजनाएँ संचालित करता है, जैसे—

- ➢ गुरु-शिष्य परंपरा संरक्षण योजना
- ➢ कलाकार मानदेय/वजीफ़ा योजना
- ➢ आदिवासी एवं लोककला संरक्षण परियोजनाएँ
- ➢ 'राष्ट्रीय संस्कृति निधि' (National Culture Fund)

(ख) इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केंद्र (IGNCA)

यह संस्थान देशभर की लोक कलाओं, अनुष्ठानों, भाषाई परंपराओं और लोक-ज्ञान का दस्तावेजीकरण, ऑडियो-वीडियो रिकॉर्डिंग और शोध करता है। IGNCA की "जनपद परियोजना" विभिन्न जिलों की लोक परंपराओं का विस्तृत दस्तावेज़ तैयार करती है।

(ग) संगीत नाटक अकादमी (SNA)

शास्त्रीय एवं लोक संगीत-नृत्य के कलाकारों को प्रशिक्षण, सम्मान, छात्रवृत्ति, कार्यशाला और अभिलेखागार निर्माण में सहयोग प्रदान करती है। "लोक रंग परियोजना" ग्रामीण एवं जनजातीय रंगमंच को संरक्षित करने का कार्य करती है।

(3) समुदाय आधारित संरक्षण (Community-driven Safeguarding)

यूनेस्को की दृष्टि में अमूर्त विरासत का असली संरक्षक समुदाय ही होता है। भारत में- स्थानीय उत्सव समिति, जनजातीय परिषदें, गाँव के कलाकार समूह, पारंपरिक शिल्पी संघ, पूजा एवं त्यौहार समितियाँ इत्यादि अपने स्तर पर अनुष्ठान, नृत्य, त्योहार और खेलकूद की परंपराओं को जीवित रखते हैं। कई बार ये संरक्षण प्रक्रियाएँ स्वाभाविक रूप से पीढ़ी-दर-पीढ़ी स्थानांतरित होती रहती हैं।

(4) दस्तावेजीकरण और डिजिटलीकरण

भारतीय अमूर्त विरासत के संरक्षण के लिए हाल के वर्षों में निम्न कदम उठाए गए हैं-

- ➢ डिजिटलीकृत अभिलेखागार
- ➢ लोकगीतों, वाद्यों, नृत्यों और शिल्प तकनीकों की रिकॉर्डिंग
- ➢ डिजिटल लाइब्रेरियाँ (जैसे: राष्ट्रीय डिजिटल अभिलेखागार)

➢ शिल्प एवं कला पर वीडियो प्रलेखन

इन्हें विश्वविद्यालयों, शोध संस्थानों और ऑनलाइन पोर्टलों के माध्यम से सभी को उपलब्ध कराया जा रहा है।

(5) शिक्षा, शोध एवं विश्वविद्यालयीय पहल

भारतीय विश्वविद्यालयों में लोककला एवं संस्कृति अध्ययन केंद्र स्थापित किए गए हैं। इग्नू (IGNOU), एनसीईआरटी, सीसीआरटी (CCRT) आदि संस्थान पाठ्यक्रमों में लोकसाहित्य, लोककला, जनजातीय अध्ययन और सांस्कृतिक विरासत को शामिल कर रहे हैं। शोध परियोजनाएँ अमूर्त सांस्कृतिक विरासत की बदलती संरचना, चुनौतियों और स्थानीय पहल का अध्ययन कर रही हैं।

(6) आर्थिक संरक्षण और बाजार-आधारित पहल

कई परंपराएँ आजीविका से सीधी जुड़ी हुई हैं। इसलिए भारत सरकार और राज्य सरकारें- हस्तशिल्प मेलों, GI टैग (Geographical Indication), हस्तकरघा/हस्तशिल्प बोर्ड, वित्तीय सहायता एवं ऋण योजनाओं के माध्यम से शिल्पियों और परंपरा-वाहकों को आर्थिक रूप से सशक्त कर रही हैं। इससे युवाओं में भी पारंपरिक कौशल अपनाने की रुचि बढ़ती है।

(7) मीडिया, पर्यटन और सांस्कृतिक उद्योग

सांस्कृतिक पर्यटन, उत्सव पर्यटन और ईको-टूरिज्म

डॉक्यूमेंट्री, फिल्में और टीवी कार्यक्रम

संगीत एवं नृत्य महोत्सव

इन सभी माध्यमों ने लोकपरंपराओं को व्यापक पहचान दिलाई है। हालाँकि, इनमें व्यावसायीकरण की चुनौती भी मौजूद रहती है।

(8) कानून और नीतिगत ढाँचा

भारत में विरासत संरक्षण हेतु- केंद्रीय संस्कृति नीति, राष्ट्रीय विरासत संरक्षण नीति, राज्य संस्कृति नीतियाँ, अमूर्त सांस्कृतिक विरासत सूचीकरण कार्यक्रम सक्रिय रूप से लागू किए जा रहे हैं। इसके अतिरिक्त, सांस्कृतिक विविधता की सुरक्षा हेतु भारत अंतरराष्ट्रीय संगठनों के साथ साझेदारी बढ़ा रहा है।

इन सभी पहलों का उद्देश्य केवल परंपराओं को संरक्षित करना नहीं, बल्कि उन्हें जीवंत रूप में आगे बढ़ाना है, ताकि भविष्य की पीढ़ियाँ अपनी सांस्कृतिक जड़ों से जुड़ी रहें और समाज की पहचान सुदृढ़ बनी रहे।

8.6 भारत के प्रमुख त्यौहार

भारत विविध संस्कृतियों, भाषाओं, धर्मों और सामाजिक परंपराओं का संगम है। यहाँ लगभग प्रत्येक माह किसी-न-किसी रूप में त्यौहार मनाया जाता है। भारतीय त्यौहारों का संबंध केवल धार्मिक आस्था से ही नहीं, बल्कि ऋतु-परिवर्तन, कृषि चक्र, सामाजिक जीवन, ऐतिहासिक घटनाओं, जनजातीय मान्यताओं और सामुदायिक संबंधों से भी गहराई से जुड़ा है। इन त्यौहारों के माध्यम से भारतीय समाज अपने सांस्कृतिक मूल्य, नैतिक आदर्श, पारिवारिक संबंध और सामुदायिक एकता को सुदृढ़ करता है।

भारतीय त्यौहारों को मोटे तौर पर निम्न श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा सकता है—

- धार्मिक त्यौहार
- फसल/ऋतु आधारित त्यौहार
- जनजातीय समुदायों के विशिष्ट त्यौहार
- सामाजिक एवं क्षेत्रीय त्यौहार
- त्यौहारों की सामाजिक-सांस्कृतिक भूमिका

8.6.1 धार्मिक त्यौहार

भारत एक बहुधार्मिक देश है जहाँ हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई, बौद्ध, जैन, पारसी और अन्य समुदाय अपने-अपने धार्मिक त्यौहार अत्यंत उत्साह के साथ मनाते हैं। धार्मिक त्यौहार न केवल आस्था का प्रतीक हैं, बल्कि सांस्कृतिक विविधता, सह-अस्तित्व और सामाजिक सद्भाव को भी व्यक्त करते हैं।

(क) हिन्दू त्यौहार:

- दीपावली – प्रकाश का पर्व, अंधकार पर प्रकाश और असत्य पर सत्य की विजय का प्रतीक।
- होली – रंगों का पर्व, सामाजिक मेल-जोल और बसंत के आगमन का उत्सव।
- नवरात्रि/दुर्गापूजा – देवी शक्ति की उपासना, नृत्य-उत्सव और धार्मिक अनुष्ठान।
- रक्षाबंधन, जनमाष्टमी, महाशिवरात्रि, रामनवमी, गणेश चतुर्थी आदि व्यापक रूप से मनाए जाते हैं।

(ख) मुस्लिम त्यौहार

- ईद-उल-फ़ित्र – रमज़ान के उपवासों के बाद आनंद और कृतज्ञता का पर्व।
- ईद-उल-अज़हा – त्याग और समर्पण का प्रतीक।
- मिलाद-उन-नबी और मुहर्रम भी अत्यंत महत्वपूर्ण हैं।

(ग) सिख त्यौहार

- बैसाखी, गुरुपर्व, लोहरी प्रमुख पर्व हैं।
- गुरु नानक जयंती विशेष श्रद्धा के साथ मनाई जाती है।

(घ) ईसाई त्यौहार

- क्रिसमस, गुड फ्राइडे, ईस्टर प्रमुख त्यौहार हैं। ये प्रेम, सेवा और मानवीय करुणा के सिद्धांतों पर बल देते हैं।

(ड़) बौद्ध और जैन त्यौहार

- बुद्ध पूर्णिमा, अष्टमी, उपोसथ (बौद्ध)।
- महावीर जयंती, पर्युषण, संवत्सरी (जैन)।

(च) पारसी त्यौहार

- नवरोज़ प्रमुख त्यौहार है, जो नववर्ष की शुरुआत का प्रतीक है।
- धार्मिक त्यौहार भारतीय समाज को सांस्कृतिक बहुलता का बोध कराते हैं और आपसी सहयोग की भावना को बढ़ाते हैं।

8.6.2 फसल/ऋतु आधारित त्यौहार

भारत की कृषि प्रधान परंपरा के कारण अधिकांश त्यौहार कृषि चक्र और ऋतु परिवर्तन से जुड़े हैं। ये त्यौहार प्रकृति के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हैं। इन त्योहारों के कुछ प्रमुख उदहारण हैं:-

- पोंगल (तमिलनाडु) – नई फसल का स्वागत, सूर्य देव की पूजा।
- मकर संक्रांति (उत्तर भारत) – सूर्य के उत्तरायण होने का पर्व, पतंगबाजी और लोकगीत।
- वैसाखी (पंजाब) – रबी फसल की कटाई का पर्व।
- ओणम (केरल) – वामन अवतार कथा और कृषि उत्सव का संगम।
- बिहू (असम) – बोहाग, काति और माघ बिहू तीनों कृषि-ऋतु चक्र से जुड़े।
- नुआखाई (ओडिशा/छत्तीसगढ़) – नई फसल का सम्मान।

ये त्यौहार ग्रामीण सामाजिक ढाँचे, सामूहिक श्रम, लोकगीतों और नृत्य की समृद्ध परंपरा को जीवित रखते हैं।

8.6.3 जनजातीय समुदायों के त्यौहार

भारत की जनजातीय संस्कृति विविध, प्राचीन और प्रकृति-आधारित है। जनजातीय त्यौहार प्रकृति, ऋतु-चक्र, पशु-पक्षी, पूर्वज-पूजा और सामुदायिक जीवन पर आधारित होते हैं।

- सरहुल (झारखंड) – वसंत आगमन और प्रकृति पूजा का पर्व।
- सोहराय – पशुधन, कृषि और कला पर केंद्रित।
- मोपला (नागालैंड) – समृद्धि और समुदायिक नृत्य का उत्सव।
- वंगला (मेघालय) – गारो समुदाय का धान कटाई पर्व।

- लोसार (लद्दाख/तिब्बती बौद्ध) – नववर्ष का पर्व।
- भुजनों का कुमांऊनी "हिलजात्रा", राजस्थानी गैरी, भीलुला आदि स्थानीय परंपराएँ।

जनजातीय त्यौहार अपनी विशिष्ट नृत्य-शैली, संगीत, वेशभूषा और सामूहिक अनुष्ठानों के लिए जाने जाते हैं।

8.6.4 सामाजिक एवं क्षेत्रीय त्यौहार

कुछ त्यौहार विशुद्ध रूप से सामाजिक प्रथाओं, ऐतिहासिक स्मृतियों और क्षेत्रीय परंपराओं से संबंधित होते हैं। जैसे- करवा चौथ, हरियाली तीज, भाई दूज, छठ पूजा, गोवर्धन पूजा – उत्तर भारत, गुड़ी पड़वा – महाराष्ट्र. यक्षगान उत्सव – कर्नाटक, बोनालु – तेलंगाना, हेरिटेज फेस्टिवल, डेजर्ट फेस्टिवल (राजस्थान), गोवा कार्निवल – पुर्तगाली विरासत से प्रभावित इत्यादि। ये त्यौहार भारतीय सामाजिक जीवन की क्षेत्रीय विविधता और सांस्कृतिक रंग-रूप को प्रकट करते हैं।

8.6.5 त्यौहारों की सांस्कृतिक एवं सामाजिक भूमिका

भारतीय त्यौहार केवल उत्सव नहीं, बल्कि सामाजिक-सांस्कृतिक संस्थाएँ हैं, जो विभिन्न स्तरों पर महत्वपूर्ण भूमिकाएँ निभाते हैं:

1. सामाजिक एकता का माध्यम—त्यौहार समुदायों को एक प्लेटफॉर्म पर लाते हैं।
2. सांस्कृतिक निरंतरता—पारंपरिक ज्ञान, गीत, संगीत, नृत्य और मान्यताएँ नई पीढ़ी तक पहुँचती हैं।
3. आर्थिक गतिविधि का विस्तार—बाजार, हस्तशिल्प, कृषि और पर्यटन को बढ़ावा।
4. लोककला एवं लोकनाट्य का पुनर्जीवन—कई नृत्य और संगीत रूप केवल त्यौहारों में ही प्रकट होते हैं।
5. धार्मिक और नैतिक शिक्षा—त्यौहार जीवन मूल्यों एवं नैतिक आदर्शों का संचार करते हैं।
6. प्रकृति-संबंधी चेतना—ऋतु आधारित त्यौहार पर्यावरण एवं प्रकृति के महत्व को रेखांकित करते हैं।

8.7 भारत के प्रमुख मेले

भारत एक विविधतापूर्ण सांस्कृतिक देश है जहाँ लोक विश्वास, आर्थिक गतिविधियाँ, धार्मिक आस्था और सामुदायिक परंपराएँ सामाजिक जीवन का महत्वपूर्ण हिस्सा हैं। मेलों की परंपरा भारतीय समाज में अत्यंत प्राचीन है। धार्मिक स्थल, तीर्थ, पर्व, फसल-चक्र, व्यापारिक आवश्यकताएँ तथा सांस्कृतिक उत्सव—इन सभी ने भारत में मेलों को एक जीवंत और निरंतर विकसित होती संस्था के रूप में प्रस्तुत किया है। मेले केवल व्यापार या धार्मिक

गतिविधियों तक सीमित नहीं रहते, बल्कि वे एक समग्र सांस्कृतिक मंच प्रदान करते हैं जहाँ कला, शिल्प, व्यापार, संगीत, नृत्य, नाटक तथा सामुदायिक सहभागिता का अनूठा संगम देखने को मिलता है।

भारतीय मेलों को व्यापक रूप से धार्मिक मेले, व्यापारिक मेले, सांस्कृतिक मेले, जनजातीय मेले, पशु मेले और क्षेत्रीय/मौसमी मेले आदि में वर्गीकृत किया जाता है। प्रत्येक मेला स्थानीय परंपराओं, लोक-आस्थाओं, वाणिज्यिक गतिविधियों तथा ऐतिहासिक स्मृतियों को अपने भीतर समाहित करता है।

भारत के प्रमुख मेलों में शामिल हैं:-

- कुंभ मेला (हरिद्वार, प्रयागराज, उज्जैन, नासिक)
- पुष्कर पशु मेला (राजस्थान)
- सोनपुर मेला (बिहार)
- सरस मेला एवं हाट उत्सव
- सूरी मेला (पश्चिम बंगाल)
- धनुष यज्ञ मेला (जनकपुर-मिथिला क्षेत्र)
- गोवा का शिगमो मेला
- नागालैंड का हॉर्नबिल उत्सव (जिसमें मेला-जैसी गतिविधियाँ शामिल)
- ताज महोत्सव (आगरा)
- ऋषिकेश अंतरराष्ट्रीय योग महोत्सव

इनके अतिरिक्त अनेक छोटे-बड़े स्थानीय मेले भी सदियों से सामाजिक जीवन का अभिन्न अंग रहे हैं। इन मेलों के माध्यम से समुदाय अपनी पारंपरिक कलाओं, वस्त्रों, व्यंजनों तथा मान्यताओं को संरक्षित और संप्रेषित करते हैं।

8.8 भारतीय नृत्य परंपरा

भारतीय नृत्य परंपरा अत्यंत प्राचीन, समृद्ध और बहुस्तरीय है। नृत्य भारतीय जीवन और संस्कृति में केवल मनोरंजन का साधन नहीं, बल्कि आध्यात्मिक संवाद, सामाजिक अनुभव और कलात्मक अभिव्यक्ति का माध्यम रहा है। नाट्यशास्त्र में नृत्य, संगीत और नाट्य को समान महत्व दिया गया है, जहाँ नृत्य को भाव, राग और ताल के समन्वय का सजीव रूप माना गया है।

भारतीय नृत्य परंपरा को दो व्यापक वर्गों में विभाजित किया जाता है—शास्त्रीय नृत्य और लोकनृत्य। दोनों अपनी-अपनी सामाजिक पृष्ठभूमि, क्षेत्रीय विविधताओं और सांस्कृतिक परिवेश के अनुरूप विकसित हुए हैं।

8.8.1 शास्त्रीय नृत्य

भारत की अमूर्त सांस्कृतिक विरासत में शास्त्रीय नृत्य अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। ये नृत्य केवल कलात्मक अभिव्यक्ति ही नहीं बल्कि भारतीय दर्शन, संगीत, वेशभूषा, अभिनय परंपरा और आध्यात्मिकता का समन्वित रूप हैं। भारतीय शास्त्रीय नृत्य-परंपराएँ नाट्यशास्त्र, संगीतशास्त्र और क्षेत्रीय लोक परंपराओं में निहित हैं। प्रत्येक नृत्य-शैली का अपना विशिष्ट इतिहास, विकास-क्रम, तकनीक, प्रस्तुतिकरण-पद्धति तथा परिधान-विन्यास है। नीचे भारत सरकार द्वारा मान्यता प्राप्त आठ शास्त्रीय नृत्य-रूपों की रूपरेखा दी गई है।

1. भरतनाट्यम (तमिलनाडु):- भरतनाट्यम भारत की सबसे प्राचीन और व्यवस्थित शास्त्रीय नृत्य-शैलियों में से एक मानी जाती है। इसका उद्गम तमिलनाडु के देवदासी परंपरा से जुड़ा है और ऐतिहासिक रूप से यह शिव के नटराज स्वरूप के नृत्य को अभिव्यक्त करने वाला माना गया है। इसकी रचनात्मक संरचना भाव, राग, ताल और नाट्य (Bha-Ra-Ta-Natyam) पर आधारित कही जाती है।

भरतनाट्यम की मुख्य विशेषताएं हैं– मजबूत पद-चालन, गहरी अरमंडी (अर्धबैठक), हाथों की सूक्ष्म मुद्राएँ, तथा "अभिनय" का अत्यधिक महत्व। इसकी प्रस्तुति आमतौर पर अलारिप्पु, जातिस्वरम्, शब्दम्, वर्णम्, पदम् और तिल्लाना के क्रम में होती है। बीसवीं शताब्दी में रुकी हुई इस परंपरा को रुक्मिणी देवी अरुंडेल, बालसरस्वती आदि ने पुनर्जीवित किया। आज यह वैश्विक स्तर पर लोकप्रिय शास्त्रीय नृत्य-रूप है।

2. कथक (उत्तरी भारत):- कथक की उत्पत्ति प्राचीन कथावाचक परंपरा में मानी जाती है, जहाँ भटकते कथाकार भगवान कृष्ण की लीलाओं का वर्णन नृत्य के माध्यम से करते थे। यह नृत्य-शैली मुगल दरबारों में विकसित होकर अत्यंत परिष्कृत शास्त्रीय रूप में परिणत हुई।

कथक की मुख्य विशेषताएं हैं; चक्रीय घूमर, लयकारी, पायलों की घुँघरुओं के माध्यम से ताल, तथा अभिनय-प्रधान कथावाचन। इस नृत्य में तीन प्रमुख घराने प्रसिद्ध हैं- लखनऊ, जयपुर तथा वाराणसी। इसकी प्रस्तुति में ठाठ, सलामी, अमद, परन, तिहाई, गट-नृत्य, भाव और अंत में तराना प्रस्तुत किए जाते हैं। कथक में हिंदुस्तानी संगीत के साथ तबला, पखावज और सारंगी का प्रयोग होता है।

3. ओडिसी (ओडिशा): ओडिसी नृत्य का विकास ओडिशा में महारी और गोटीपुआ परंपरा से हुआ है। इसकी संरचना प्राचीन शिल्पकला, विशेषकर कोणार्क सूर्य मंदिर की नर्तकी मूर्तियों से अत्यधिक प्रभावित है। ओडिसी की

तकनीक में त्रिभंगी (तीन मोड़– सिर, धड़, कटी) और चौक (वीर-भाव) इसकी विशिष्ट पहचान हैं। नृत्य की प्रस्तुति मंगला-चरन, बासदेवस्तव, पालि, अभिनय, और मोक्श जैसी वस्तुओं में विभक्त होती है। ओडिसी के पुनरुद्धार में केलुचरण महापात्रा, संजुक्ता पाणिग्रही आदि कलाकारों का महत्वपूर्ण योगदान रहा।

4. कथकली (केरल):- कथकली एक अत्यंत भव्य एवं नाट्यप्रधान नृत्य-शैली है, जिसकी विशेषता उसका विस्तृत मेक-अप, रंगीन परिधान, पाखनेरी संगीत, और अत्यधिक नियंत्रित शारीरिक मुद्राएँ हैं। इसका जन्म केरल के अट्टम, कूटियाट्टम और कथक जैसे लोक-नाट्यों से हुआ। कथकली में चरित्रों को रंगों के आधार पर वर्गीकृत किया जाता है —पच (सतोगुणी नायक), काठी (राक्षस), ताड़ी (वनमानुष), करुट्ट (कृष्ण वर्ण), मिनुक्कु (साधु/साध्वी)। इसमें हस्त-मुद्राएँ, नेत्र-अभिनय, तथा शारीरिक प्रशिक्षण अत्यंत कठोर होते हैं। कथकली के कथानक प्रायः रामायण, महाभारत तथा पुराणों पर आधारित होते हैं।

5. मणिपुरी (मणिपुर): मणिपुरी नृत्य मुख्यतः वैष्णव भक्ति आंदोलन से संचालित परंपरा है। विशेषकर कृष्ण-राधा की रसलीला और पुंग चोलम इस शैली की पहचान हैं। इसकी सबसे बड़ी विशेषता है—कोमलता, मृदु संचलन, तथा सौम्य अभिव्यक्ति। परिधान गोल आकार का कुमिन स्कर्ट, जरीदार चोली और पारदर्शी ओढ़नी वाला पारंपरिक पोशाक इस नृत्य को विशिष्ट सौंदर्य प्रदान करती है। पुंग चोलम में कलाकार ढोल बजाते हुए नृत्य करते हैं, जो इसकी अनूठी विशेषता है।

6. कुचिपुड़ी (आंध्र प्रदेश):- कुचिपुड़ी नृत्य का विकास आंध्र प्रदेश के कृष्णा जिले के कुचेलपुर (कुचिपुड़ी) गाँव के भागवत मेला नाटकों से हुआ। यह नृत्य शैली नृत्य, नाट्य और गीत का संयुक्त रूप है। कुचिपुड़ी की विशेषता है—लयबद्ध गतियाँ, नाटकीय प्रस्तुति, तथा कभी-कभी पीतल की प्लेट पर नृत्य करने की परंपरा। इसकी प्रस्तुति में जलधर, तारंगम, आदि खास स्थान रखते हैं। आधुनिक युग में वेंपटी चिन्ना सत्यम, यामिनी कृष्णमूर्ति ने इसे अंतरराष्ट्रीय स्तर पर प्रतिष्ठित किया।

7. सत्रिया (असम): सत्रिया नृत्य असम के वैष्णव संत शंकरदेव द्वारा स्थापित सत्रभक्ति परंपरा से उत्पन्न हुआ। यह मूलतः अंकिया नाट का हिस्सा था, लेकिन आज स्वतंत्र शास्त्रीय नृत्य के रूप में मान्यता प्राप्त है। सत्रिया की विशेषताएँ हैं—नृत्य-नाट्य, कीर्तन, ताल-वाद्य, तथा शांत भाव प्रधानता। इस नृत्य में पुरुष और महिलाएँ दोनों प्रदर्शन करते हैं। इसका उपयोग मुख्यतः धार्मिक और सामाजिक-सांस्कृतिक संदेशों के संप्रेषण में किया जाता रहा है।

8. मोहिनीअट्टम (केरल):- मोहिनीअट्टम का उद्गम केरल में हुआ और इसका नाम मोहिनी (आकर्षक) रूप से लिया गया है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता है—कोमल शरीर-गतियाँ, धीमे लयबद्ध आंदोलनों, और लेसदार हाथों की मुद्राएँ।

इस नृत्य में सफ़ेद-स्वर्ण सीमा वाली साड़ी, जूड़े में गजरा और सरल सौंदर्य इसकी पहचान है। मोहिनीअट्टम का विकास वल्लथोल नारायण मेनन और कलामंडलम् संस्थान द्वारा सशक्त रूप से किया गया।

ये शास्त्रीय नृत्य 'राग, ताल और भाव' के उच्च स्तर के तालमेल पर आधारित होते हैं। इनमें अभिनय, हाव-भाव, मुद्राएँ, वेशभूषा और संगीत नृत्य-प्रस्तुति के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। शास्त्रीय नृत्य रूप केवल कला का प्रदर्शन ही नहीं करते, बल्कि वे भारतीय धार्मिक और दार्शनिक परंपराओं का सौंदर्यात्मक प्रस्तुतीकरण भी हैं।

8.8.2 लोकनृत्य

लोकनृत्य भारत की सामुदायिक और ग्रामीण संस्कृति का स्वाभाविक और जीवंत रूप है। ये नृत्य किसी विशेष अवसर; जैसे फसल कटाई, विवाह, उत्सव, जन्म, ऐतिहासिक स्मृतियों या सामाजिक अनुष्ठानों के साथ जुड़े होते हैं।

भारत के प्रमुख लोकनृत्यों में शामिल हैं:-

- गरबा और डांडिया (गुजरात)
- भांगड़ा और गिद्धा (पंजाब)
- लावणी (महाराष्ट्र)
- घूमर (राजस्थान)
- बिहू (असम)
- छाऊ (झारखंड/पश्चिम बंगाल/ओडिशा)
- कालबेलिया (राजस्थान)
- थीरानट्टम (केरल)
- झूमर (हरियाणा/पंजाब)
- पांका और कर्मा (छत्तीसगढ़/झारखंड)

लोकनृत्य समुदाय की स्वतःस्फूर्त अभिव्यक्ति हैं। इनका उद्देश्य सामाजिक बंधन को मजबूत करना, सामूहिकता की भावना पैदा करना तथा सांस्कृतिक निरंतरता बनाए रखना है।

8.8.3 नृत्य परंपराओं की क्षेत्रीय विविधताएँ

भारत का विशाल भौगोलिक विस्तार नृत्य परंपराओं में अत्यंत व्यापक विविधता उत्पन्न करता है।

उत्तर भारत – कथक, घूमर, जाऊ-नृत्य, पंजाबी भांगड़ा

दक्षिण भारत – भरतनाट्यम, कूचिपुड़ी, कथकली, यक्षगान

पूर्वोत्तर – मणिपुरी रास, बिहू, वांगला

पश्चिम भारत – गरबा, लावणी, कालबेलिया

पूर्वी भारत – ओडिसी, छाऊ, झूमर

हर नृत्य रूप अपने भूगोल, इतिहास, भाषा, वेशभूषा और धार्मिक-सांस्कृतिक मान्यताओं के अनुरूप विकसित हुआ है।

8.8.4 नृत्य: अभिव्यक्ति और सामाजिक पहचान

नृत्य केवल शारीरिक गतिविधि नहीं, बल्कि सामाजिक पहचान और सांस्कृतिक स्मृति का महत्वपूर्ण साधन है। यह समुदाय की कहानियाँ, मिथक, किवदंतियाँ और परंपराएँ संरक्षित करता है। नृत्य सामाजिक मान्यताओं, लैंगिक भूमिकाओं और सामाजिक संरचनाओं को अभिव्यक्त करता है। धार्मिक नृत्यों में भक्ति और आध्यात्मिक संवेदनाएँ स्पष्ट होती हैं। पारंपरिक नृत्य बाजार, पर्यटन और सांस्कृतिक उद्योगों से जुड़कर आर्थिक अवसर भी प्रदान करते हैं। इस प्रकार नृत्य को भारतीय लोकजीवन की महत्त्वपूर्ण अभियक्ति माना जाता है।

8.9 भारतीय नाट्य एवं रंगमंच परंपराएँ

भारत की नाट्य परंपरा का इतिहास दो सहस्राब्दियों से भी अधिक पुराना है। नाट्यशास्त्र भारतीय नाट्य-कला का मूल ग्रंथ माना जाता है, जिसमें अभिनय, नृत्य, संगीत, रंग-प्रसाधन, वेशभूषा और मंच-व्यवस्था के विस्तृत सिद्धांत मिलते हैं।

भारतीय रंगमंच विविध रूपों में विकसित हुआ:-

- संस्कृत नाट्य परंपरा
- लोक नाट्य / लोक रंगमंच
- कठपुतली और छाया-नाट्य
- आधुनिक भारतीय रंगमंच

8.9.1 संस्कृत नाट्य परंपरा

संस्कृत नाट्य भारतीय कला की सबसे प्राचीन और शास्त्रीय अभिव्यक्तियों में से एक है। कालिदास, भवभूति, शूद्रक और विशाखदत्त इसके प्रमुख नाटककार हैं। "अभिज्ञानशाकुंतलम्", "मृच्छकटिकम्", "रामचरित", "मालविकाग्निमित्रम्" आदि संस्कृत रंगमंच के श्रेष्ठ उदाहरण हैं। संस्कृत नाट्य 'रस' और 'भाव' के सिद्धांतों पर

आधारित है, जहाँ 'नवरस' नाटक का मूल आधार माना गया है। इसमें संगीत, नृत्य और अभिनय का त्रि-संयोजन देखने को मिलता है।

8.9.2 लोक रंगमंच

लोक रंगमंच भारतीय जनजीवन से जुड़ा, सहज और जीवंत रंग-रूप प्रस्तुत करता है। भारत के प्रमुख लोक रंगमंच में शामिल हैं:-

- नौटंकी (उत्तर भारत)
- रम्माण (उत्तराखंड)
- यक्षगान (कर्नाटक)
- जात्रा (बंगाल)
- तमाशा (महाराष्ट्र)
- भावई (गुजरात)
- भागवतमेला (तमिलनाडु)
- थिय्याट्टम (केरल)
- बुर्रा कथा (आंध्र प्रदेश)

लोक रंगमंच में स्थानीय सामाजिक मुद्दे, धार्मिक कथाएँ, ऐतिहासिक प्रसंग और लोक-कथाएँ नाट्य रूप में प्रस्तुत होती हैं।

8.9.3 कठपुतली एवं छाया-नाट्य

कठपुतली भारत की प्राचीनतम रंग-परंपराओं में से एक है। राजस्थान की कठपुतली विश्व-प्रसिद्ध है। तमिलनाडु का तोलपावक्कुत्थु छाया-नाट्य के रूप में प्रचलित है। केरल का पवक्कूत्तम भी महत्वपूर्ण है। इन कलाओं के माध्यम से पौराणिक कथाएँ, लोक-गाथाएँ और वीर-चरित जीवंत रूप में प्रस्तुत किए जाते हैं।

8.9.4 आधुनिक भारतीय रंगमंच परंपरा

1850 के बाद भारत में आधुनिक रंगमंच का विकास हुआ, जिसमें; सामाजिक मुद्दे, राष्ट्रवाद, औपनिवेशिक विरोध,नई कलात्मक तकनीकें, प्रयोगधर्मी नाटक जैसे नए प्रवाह विकसित हुए। भारत के कुछ प्रमुख नाट्यकारों में शामिल हैं- भरतमुनि (शास्त्रीय परंपरा), जयशंकर प्रसाद, हबीब तनवीर, मोहन राकेश, गिरिश कर्नाड, बद्रीनारायण, महेश एलकुंचवार इत्यादि। आधुनिक रंगमंच ने भारतीय थिएटर को वैश्विक मंच पर नई पहचान दिलाई।

8.10 अनुष्ठान, विश्वास और सामाजिक प्रथाएँ

भारतीय समाज का सांस्कृतिक ढांचा अनुष्ठानों, विश्वासों और सामाजिक प्रथाओं पर आधारित है। ये परंपराएँ केवल धार्मिक कृत्य नहीं, बल्कि सामाजिक संबंध, सांस्कृतिक निरंतरता और सामुदायिक सामंजस्य को बनाए रखने के साधन भी हैं। भारत में अनुष्ठान व्यक्तिगत जीवन, पारिवारिक संरचना, कृषि-चक्र, ऋतुओं, देव-पूजन, प्रकृति-आराधना तथा लोक-मान्यताओं से गहरे रूप में जुड़े होते हैं। अनुष्ठानों का उद्देश्य व्यक्ति और समुदाय को एक साझा सांस्कृतिक धागे में बाँधना है। ये प्रथाएँ समाज में नैतिकता, कर्तव्य-बोध, सामाजिक जिम्मेदारी और आध्यात्मिक संतुलन की स्थापना में मदद करती हैं। भारतीय जीवन में अनुष्ठान दैनिक, साप्ताहिक, वार्षिक तथा जीवन-चक्र आधारित स्तरों पर दिखाई देते हैं।

8.10.1 हिन्दू, बौद्ध, जैन, सिख, इस्लामी व ईसाई अनुष्ठान

हिन्दू अनुष्ठान: हिन्दू परंपरा में पूजा, हवन, जप, तीर्थ-यात्रा, व्रत, दान और संस्कार प्रमुख हैं।

पूजा-पद्धति में मंत्रोच्चारण, आरती, नैवेद्य, जल-अर्पण आदि शामिल होते हैं।

ऋतु-आधारित अनुष्ठान जैसे संक्रांति, नवरात्र, श्रावण-पूजन प्रकृति से सामंजस्य का प्रतीक हैं।

तीर्थ—वाराणसी, प्रयाग, हरिद्वार—शुद्धिकरण और आध्यात्मिक उन्नति के स्थल माने जाते हैं।

बौद्ध अनुष्ठान: बौद्ध परंपरा में त्रिरत्न—बुद्ध, धम्म, संघ—की शरणागति मुख्य अनुष्ठान है।

ध्यान, सूत्र-पाठ, परित्राण, दीक्षा और विपश्यना महत्वपूर्ण हैं।

वैशाख, असाढ़ी पूर्णिमा, कठिना आदि धार्मिक अनुष्ठान समुदाय को जोड़ते हैं।

जैन अनुष्ठान: जैन परंपरा अहिंसा, अपरिग्रह व आत्मसंयम पर आधारित है।

प्रतिमा-वंदन, समायिक, प्रतिक्रमण, प्रभु-वंदना, पर्युषण प्रमुख अनुष्ठान हैं।

तप, उपवास और ध्यान का विशेष महत्व है।

सिख अनुष्ठान;सिख धर्म में गुरु ग्रंथ साहिब की प्रतिष्ठा सर्वोपरि है।

अमृत संचार, कीर्तन, अखंड पाठ, हुकुमनामा मुख्य अनुष्ठान हैं।

लंगर सामाजिक समानता और सेवा का महत्वपूर्ण प्रतीक है।

इस्लामी अनुष्ठान: इस्लामी परंपरा पाँच स्तंभों पर आधारित है—

1. कलमा 2. नमाज़ 3. रोज़ा 4. ज़कात 5. हज।

इसके अतिरिक्त कुरान-पाठ, ईद-उल-फ़ित्र, ईद-उल-अज़हा तथा जुमे की नमाज़ सामाजिक-धार्मिक एकता स्थापित करती हैं।

ईसाई अनुष्ठान: ईसाई परंपरा में प्रार्थना, बप्तिस्मा (दीक्षा), होली कम्युनियन, कन्फर्मेशन, गुड फ़्राइडे, ईस्टर, क्रिसमस इत्यादि को मुख्य धार्मिक अनुष्ठानों के रूप में मनाया जाता है।

8.10.2 जीवन-चक्र संस्कार: जन्म, उपनयन, विवाह, मृत्यु

भारतीय संस्कृति में जीवन-चक्र संस्कार व्यक्ति के जन्म से मृत्यु तक सभी महत्वपूर्ण पड़ावों को चिह्नित करते हैं। इन संस्कारों का उद्देश्य व्यक्ति के जीवन को सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्यों से जोड़ना है।

जन्म-संस्कार, जाट-कर्म, नामकरण, अन्नप्राशन आदि परिवार और समुदाय में नवजीवन के स्वागत का प्रतीक हैं।

उपनयन (दीक्षा संस्कार): शिक्षा-दीक्षा की औपचारिक शुरुआत मानी जाती है, यह गुरु-शिष्य परंपरा की संवाहक है।

विवाह-संस्कार: सामाजिक संस्था के रूप में युगल दम्पत्तियों को समाज में मान्यता प्रदान करता है। इस संस्कार में कन्यादान, सप्तपदी, लग्न-मंत्र जैसे कई अनुष्ठान सम्मिलित रहते हैं। कई समुदायों में लोकगीत, नृत्य, और अन्य विशेष अनुष्ठान भी सम्पादित किये जाते हैं।

मृत्यु-संस्कार: इसे मनुष्य जीवन की अंतिम यात्रा, दाह संस्कार/कब्र-दफन इत्यादि के रूप में जाना जाता है| इसमें मृत मनुष्य की आत्मा की शांति के लिए श्राद्ध, प्रार्थना, सामूहिक स्मरण इत्यादि किये जाते हैं।

ये सभी संस्कार सामाजिक अनुशासन, नैतिक मूल्यों और सांस्कृतिक निरंतरता का प्रतीक हैं।

8.10.3 क्षेत्रीय/जनजातीय विश्वास प्रणालियाँ

भारत के जनजातीय समुदायों में प्रकृति-पूजन अत्यंत महत्वपूर्ण है। वन, पर्वत, नदियाँ, चंद्रमा, सूर्य देव-तत्त्व माने जाते हैं। सारण, सिंघबोंगा, धरती माता, गार्लंग, आदि देवताएँ विभिन्न समुदायों द्वारा पूजी जाती हैं। हो, संथाल, भील, गोंड, नागा, मिजो, गारो सभी के अपने-अपने टोटेम, संरक्षक देव, मौसमी अनुष्ठान और फसल-पर्व हैं। जनजातीय विश्वास समुदाय की सामूहिक पहचान को बनाए रखते हैं और पर्यावरण-संरक्षण की पारंपरिक समझ विकसित करते हैं।

8.10.4 तंत्र, योग तथा ध्यान परंपराएँ

भारत में तांत्रिक, योगिक तथा ध्यान-परंपराएँ आध्यात्मिक साधना की गहन प्रणालियाँ हैं।

तंत्र: शक्ति-उपासना और मंत्र-साधना इसका प्रमुख माध्यम हैं। कश्मीर में शैववाद, शाक्त परंपरा, बौद्ध में वज्रयान में इसकी महत्वपूर्ण भूमिका देखी जाती है।

योग: पतंजलि का अष्टांग योग: यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि; आध्यात्मिक उन्नति, स्वास्थ्य, संतुलन और आत्मबोध का मार्ग दिखलाता है। वर्तमान में भारत के द्वारा सम्पूर्ण विश्व में प्रत्येक वर्ष योग दिवस का आयोजन किया जाने लगा है।

ध्यान: विपश्यना, ज़ेन, सुफ़ी ध्यान, ध्यान योग, सहज समाधि; ध्यान के यह सभी तरीके मानसिक शांति और आत्मज्ञान प्राप्त करने का प्रमुख साधन हैं।

8.10.5 अनुष्ठानों का सामाजिक महत्व

अनुष्ठान- सामाजिक संरचना को स्थिर बनाते हैं। पारिवारिक और सामुदायिक संबंधों को मजबूत करने के साथ ही मूल्य, नैतिकता, अनुशासन और सांस्कृतिक निरंतरता का संचार भी करते हैं। ये सामाजिक पहचान और सामूहिक स्मृति का प्रमुख माध्यम हैं साथ ही अनुष्ठानों के माध्यम से परंपरा पीढ़ी-दर-पीढ़ी सुरक्षित रहती है।

8.11 खेल व पारंपरिक खेल-कूद

भारतीय सभ्यता में खेल केवल मनोरंजन का साधन नहीं, बल्कि शरीर-मन के संतुलन, सामाजिक सहभागिता, सैन्य-प्रशिक्षण और सामुदायिक मेल-जोल का माध्यम थे। प्राचीन ग्रंथों में कुश्ती, धनुर्विद्या, गेद-खेल, घुड़सवारी, मल्लयुद्ध आदि का वर्णन मिलता है।

8.11.1 पारंपरिक भारतीय खेल: कबड्डी, खो-खो, मलखंब आदि

कबड्डी – फुर्ती, सहनशीलता और रणनीति का खेल, भारतीय ग्रामीण संस्कृति का प्रतिनिधित्व करता है।

खो-खो – गति और टीम-समन्वय पर आधारित खेल है।

मलखंब – शारीरिक शक्ति, संतुलन और लचीलेपन का अनूठा संयोजन प्रस्तुत करता है।

कुश्ती/मल्लयुद्ध – अखाड़ा-परंपरा, गुरु-शिष्य परम्परा अनुशासन का प्रतिनिधित्व करता है।

गिल्ली-डंडा, पिट्ठू, कंचे, पचीसी – बच्चों और युवाओं के पारंपरिक खेल।

धनुर्विद्या, घुड़सवारी – प्राचीन काल में सैन्य प्रशिक्षण का मुख्य आधार।

8.11.2 जनजातीय खेल

जनजातीय समुदायों में खेल सामुदायिक संबंधों को मजबूत करने का माध्यम हैं—

थेपाथी (ओडिशा)

डलुम (झारखंड)

थांग-टा (मणिपुर)

आर्चरी (उत्तर-पूर्व)

सीमन्टिनी (छत्तीसगढ़)

इन खेलों में प्रकृति, शारीरिक क्षमता और सामूहिकता की गहरी भूमिका होती है।

8.11.3 पारंपरिक खेलों का सांस्कृतिक महत्व

पारंपरिक खेल:-

- सामाजिक मेल-जोल बढ़ाते हैं
- बच्चों में अनुशासन, सहयोग, नेतृत्व और साहस विकसित करते हैं
- शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य को बढ़ावा देते हैं
- स्थानीय पहचान और सांस्कृतिक मूल्यों को सुरक्षित रखते हैं

8.11.4 आधुनिक संदर्भ में पारंपरिक खेलों का पुनरुत्थान

आज पारंपरिक खेलों को- स्कूल पाठ्यक्रम, खेल महोत्सव, राष्ट्रीय/अंतरराष्ट्रीय प्रतियोगिताएँ, डिजिटल प्लेटफॉर्म, सरकारी योजनाएँ (जैसे 'फिट इंडिया', 'खेलो इंडिया') के माध्यम से पुनर्जीवित किया जा रहा है। इस पुनर्जागरण से भारतीय खेल विरासत को नई पहचान मिली है।

8.12 लोकगीत, लोकसंगीत एवं मौखिक परंपरा

भारतीय लोकजीवन में संगीत और गीत सामुदायिक भावनाओं, जीवन-घटनाओं, प्रेम, श्रम, त्योहारों और अनुष्ठानों की अभिव्यक्ति हैं।

लोकगीत – सोहर, कजरी, आल्हा, रागिनी, पांडवानी, झोड़ा-चांचरी

लोकसंगीत – ढोल, नगाड़ा, रबाब, एकतारा, अल्गोजा, मसकबाज़ा

मौखिक परंपरा – लोककथाएँ, गाथाएँ, दंतकथाएँ, वीर-गीत, पहेलियाँ, कहावतें

ये सभी परंपराएँ समुदाय की स्मृतियों, अनुभवों और ज्ञान का जीवंत भंडार हैं।

8.13 यूनेस्को द्वारा मान्यता प्राप्त भारत की अमूर्त सांस्कृतिक विरासत

भारत की कई सांस्कृतिक परंपराएँ यूनेस्को की Representative List of the Intangible Cultural Heritage of Humanity में शामिल हैं-

क्रम संख्या	अमूर्त सांस्कृतिक विरासत तत्त्व	वर्ष
1.	कुटियाट्टम, संस्कृत थियेटर	2008
2.	वैदिक जप की परंपरा	2008
3.	रामलीला, रामायण का पारंपरिक प्रदर्शन	2008

4.	रम्माण, भारत के गढ़वाल हिमालय के धार्मिक उत्सव और परंपरा का मंचन	2009
5.	छऊ नृत्य	2010
6.	राजस्थान के कालबेलिया लोक गीत और नृत्य	2010
7.	मुदियेट्टू, केरल का अनुष्ठान थियेटर और नृत्य नाटक	2010
8.	लद्दाख का बौद्ध जप: हिमालयी लद्दाख क्षेत्र, जम्मू और कश्मीर, भारत में पवित्र बौद्ध ग्रंथों का पाठ	2012
9.	मणिपुर का संकीर्तन, अनुष्ठान गायन, ढोलक बजाना और नृत्य करना	2013
10.	जंडियाला गुरु, पंजाब, भारत के ठठेरों के बीच पारंपरिक तौर पर पीतल और ताँबे के बर्तन बनाने का शिल्प	2014
11.	नवरोज़	2016
12.	योग	2016
13.	कुंभ मेला	2017
14.	कोलकाता में दुर्गा पूजा	2021
15.	गुजरात का गरबा	2023

इनका वैश्विक दर्जा भारतीय सांस्कृतिक विविधता की मान्यता का प्रतीक है।

8.14 संरक्षण, संवर्धन एवं चुनौतियाँ

अमूर्त सांस्कृतिक विरासत के संरक्षण में सम्मिलित चुनौतियाँ—

- शहरीकरण और आधुनिकीकरण
- नई पीढ़ी की भागीदारी में कमी
- आर्थिक सहयोग की कमी
- वाणिज्यिक प्रभाव
- दस्तावेज़ीकरण और शिक्षण प्रणाली की कमजोरियाँ

सरकारी पहल-

संस्कृति मंत्रालय की योजनाएँ

ज़ोनल सांस्कृतिक केंद्र

राष्ट्रीय अभिलेखागार

यूनेस्को के सहयोग कार्यक्रम

सांस्कृतिक महोत्सव, कार्यशालाएँ

सामुदायिक भागीदारी इस संरक्षण की सबसे महत्वपूर्ण शर्त है।

8.15 सारांश

इस इकाई में भारत की अमूर्त सांस्कृतिक विरासत के विभिन्न आयाम—त्यौहार, मेले, नृत्य, नाटक, खेल, लोकगीत, अनुष्ठान, विश्वास प्रणाली तथा यूनेस्को द्वारा मान्यता प्राप्त परंपराएँ—का विस्तृत अध्ययन किया गया। भारतीय संस्कृति की विविधता, सामूहिकता और परंपराओं की निरंतरता इन विरासतों में स्पष्ट झलकती है। संरक्षण के लिए सामुदायिक सहभागिता, सरकारी सहयोग और शैक्षिक जागरूकता अत्यंत महत्वपूर्ण हैं।

8.16 मुख्य शब्द

1. अमूर्त सांस्कृतिक विरासत: अमूर्त सांस्कृतिक विरासत से आशय उन सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों, प्रथाओं, ज्ञान एवं कौशल से है, जिन्हें कोई समुदाय पीढ़ी-दर-पीढ़ी मौखिक परंपरा या व्यवहार के माध्यम से संप्रेषित करता है। इसमें भाषा, लोकपरंपराएँ, अनुष्ठान, उत्सव, संगीत, नृत्य एवं सामाजिक प्रथाएँ सम्मिलित होती हैं। यह विरासत जीवंत होती है तथा समुदाय की पहचान और सांस्कृतिक निरंतरता को बनाए रखती है।

2. शास्त्रीय एवं लोकनृत्य: शास्त्रीय नृत्य वे नृत्य रूप हैं जो शास्त्रों, नाट्यशास्त्र एवं निर्धारित नियमों पर आधारित होते हैं, जैसे भरतनाट्यम, कथक आदि। इसके विपरीत लोकनृत्य सामान्य जनता द्वारा अपने सामाजिक, धार्मिक एवं कृषि जीवन से जुड़े अवसरों पर सहज रूप से किए जाने वाले नृत्य हैं। दोनों ही नृत्य रूप अमूर्त सांस्कृतिक विरासत के महत्वपूर्ण घटक हैं।

3. अनुष्ठान: अनुष्ठान वे पारंपरिक धार्मिक या सामाजिक क्रियाएँ हैं, जो निश्चित विधि-विधान, प्रतीकों एवं नियमों के अंतर्गत सम्पन्न की जाती हैं। ये जन्म, विवाह, मृत्यु, त्यौहार एवं पूजा-पाठ से संबंधित होते हैं और समाज में सांस्कृतिक मूल्यों तथा विश्वासों को सुदृढ़ करते हैं।

4. लोकगीत: लोकगीत किसी क्षेत्र विशेष के लोगों द्वारा सामूहिक रूप से रचे और गाए जाने वाले गीत होते हैं। ये गीत दैनिक जीवन, प्रकृति, प्रेम, श्रम, उत्सव एवं धार्मिक भावनाओं को अभिव्यक्त करते हैं। लोकगीतों का संरक्षण मौखिक परंपरा के माध्यम से होता है।

5. मौखिक परंपरा: मौखिक परंपरा वह प्रक्रिया है, जिसके माध्यम से ज्ञान, इतिहास, कथाएँ, गीत एवं कहावतें पीढ़ी-दर-पीढ़ी बिना लिखित माध्यम के संप्रेषित होती हैं। यह अमूर्त सांस्कृतिक विरासत के संरक्षण का एक प्रमुख साधन है।

6. पारंपरिक खेल: पारंपरिक खेल वे खेल हैं जो किसी समुदाय की सामाजिक, सांस्कृतिक एवं भौगोलिक परिस्थितियों से विकसित हुए होते हैं। ये खेल मनोरंजन के साथ-साथ शारीरिक विकास, सामूहिकता और सांस्कृतिक मूल्यों को भी प्रोत्साहित करते हैं।

7. यूनेस्को सूची: यूनेस्को सूची से आशय संयुक्त राष्ट्र शैक्षिक, वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक संगठन द्वारा मान्यता प्राप्त अमूर्त सांस्कृतिक विरासत की सूची से है। इस सूची का उद्देश्य विश्व की सांस्कृतिक विविधता का संरक्षण, संवर्धन एवं अंतरराष्ट्रीय स्तर पर पहचान प्रदान करना है।

8. जीवन-चक्र संस्कार: जीवन-चक्र संस्कार वे पारंपरिक संस्कार हैं जो व्यक्ति के जन्म से लेकर मृत्यु तक विभिन्न चरणों में संपन्न किए जाते हैं, जैसे नामकरण, उपनयन, विवाह और अंतिम संस्कार। ये संस्कार समाज में सांस्कृतिक निरंतरता और सामाजिक संरचना को बनाए रखने में सहायक होते हैं।

8.17 संदर्भ-ग्रंथ सूची

1. IGNOU. Culture in Indian Subcontinent, School of Social Sciences.
2. भारतीय संस्कृति एवं पर्यटन मंत्रालय, भारत सरकार: भारतीय सांस्कृतिक विरासत रिपोर्ट।
3. नाट्यशास्त्र – भरतमुनि।
4. शर्मा, आर. के. भारतीय समाज और संस्कृति, दिल्ली विश्वविद्यालय।
5. यूनेस्को – Intangible Cultural Heritage List Documents.
6. देओ, रमेश. भारतीय लोकसंस्कृति की परंपराएँ, भारतीय लोकसंस्कृति संस्थान।
7. सिंह, केशव. भारतीय नृत्य परंपराएँ, कला मंडप प्रकाशन।
8. IGNOU, Indian Culture and Heritage (EHI–01 / B.A. Programme Units)
9. IGNOU, Performing Arts in India (MPA / MEG relevant units)
10. IGNOU, Culture in Indian Subcontinent – Content on Dance Traditions
11. Government of India – Sangeet Natak Akademi Publications

8.18 प्रश्नावली

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. अमूर्त सांस्कृतिक विरासत से आप क्या समझते हैं?
2. भारतीय शास्त्रीय नृत्य की दो विशेषताएँ लिखिए।
3. जनजातीय खेलों की प्रमुख विशेषताएँ बताइए।
4. जीवन-चक्र संस्कारों का सामाजिक महत्व समझाइए।
5. यूनेस्को द्वारा मान्यता प्राप्त किसी दो भारतीय परंपराओं के नाम लिखिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. भारत के प्रमुख लोकनृत्यों और उनकी क्षेत्रीय विविधताओं का विस्तृत वर्णन कीजिए।
2. भारतीय लोकगीत और मौखिक परंपराएँ सामाजिक स्मृति के संरक्षण में किस प्रकार सहायक हैं?
3. अनुष्ठानों और विश्वास प्रणालियों के संदर्भ में भारतीय सांस्कृतिक विविधता का विश्लेषण कीजिए।
4. अमूर्त सांस्कृतिक विरासत के संरक्षण की चुनौतियों और उपायों पर विस्तृत टिप्पणी लिखिए।

इकाई नौ

भारत की अमूर्त सांस्कृतिक विरासत — पारम्परिक पाक शैली

~~इकाई की संरचना~~

9.0 परिचय

9.1 उद्देश्य

9.2 भारत की पाक परंपराएँ : एक ऐतिहासिक अवलोकन

9.3 क्षेत्रीय विविधता और सांस्कृतिक पहचान

9.9 भारतीय पाक परम्परा के कुछ आयाम

9.4.1 धार्मिक अनुष्ठान, त्योहार और भोजन संस्कृति

9.4.2 भारतीय पाक परंपरा में सामाजिकता और सांस्कृतिक विविधता

9.4.3 भारतीय पाक परंपरा और पर्यावरणीय स्थिरता

9.4.4 भारतीय पाक परंपरा का वैश्वीकरण और समकालीन परिप्रेक्ष्य

9.5 शाही रसोई परंपरा : मुगल, राजपूत और दक्षिण भारतीय दरबारों में भोजन

9.6 लोक जीवन में भोजन : ग्रामीण और आदिवासी समुदायों की पाक विधियाँ

9.7 औपनिवेशिक काल और भोजन में परिवर्तन

9.8 स्वतंत्रता के बाद भारतीय भोजन का पुनरुत्थान और वैश्विक प्रसार

9.9 आधुनिकता, बाज़ार और पारम्परिक भोजन का संरक्षण

9.10 सारांश

9.11 मुख्य शब्दावली

9.12 निबंधात्मक प्रश्न

9.13 संदर्भ ग्रंथ

9.0 परिचय

क्या आपको पता है, भारत के हर नुक्कड़ या गली में मिलने वाले चाय-समोसे की कहानी क्या है और यह किस तरह से भारत की परंपरा का अभिन्न हिस्सा है? भले ही अपने शुरुआती रंग-रूप में ये भारत से बाहर से आए हों, लेकिन भारत में इन्होंने अपना एक अलग ही रंग गढ़ लिया। चाय की पत्तियाँ चीन से पहली बार भारत में आईं और

भारत में इसमें दूध का रंग इस तरह घुल गया कि अब अधिकतर भारतीय बिना दूध के चाय की कल्पना भी नहीं कर सकते और समोसे में कीमे की जगह आलू ऐसा घुस गया कि जब तक समोसे में यह रहेगा, तब तक दुनिया रहेगी, ऐसा मान लिया गया है। भारत में भोजन की परंपरा न केवल भारत की विविधता की कहानी कहती है बल्कि समय-समय पर होने वाले बदलावों को भी हमारे सामने रखती है।भारत की अमूर्त सांस्कृतिक विरासत में भोजन और पाक परंपरा एक जीवित सांस्कृतिक अभिव्यक्ति है। भारतीय समाज में भोजन केवल जीवन निर्वाह का साधन नहीं, बल्कि यह सामाजिक संरचना, धार्मिक विश्वास, क्षेत्रीय विविधता और ऐतिहासिक अनुभवों का सम्मिलित प्रतीक है। यहाँ भोजन को "अन्न देवता" कहा गया है — अर्थात् अन्न को पवित्र और जीवनी शक्ति का स्रोत माना गया है। इस दृष्टि से भारत की पारम्परिक पाक शैली संस्कृति, धर्म और लोक जीवन के गहन संवाद की वाहक है।

भारतीय भोजन की परंपरा का इतिहास अत्यंत प्राचीन है। सिंधु सभ्यता के अवशेषों में गेहूँ, जौ, तिल और चावल जैसे अन्नों का उपयोग मिलता है, जो दर्शाता है कि भारत में भोजन उत्पादन और पाक कला दोनों का विकास हज़ारों वर्ष पहले से हो रहा था। वैदिक काल में भोजन को धार्मिक आचार और अनुष्ठानों का अभिन्न हिस्सा माना गया। "अन्नं ब्रह्मेति" (अन्न ही ब्रह्म है) की अवधारणा भारतीय दर्शन में भोजन के आध्यात्मिक और सांस्कृतिक महत्त्व को स्पष्ट करती है।

मौर्य, गुप्त और मध्यकालीन काल में भोजन परंपरा में न केवल विविधता आई, बल्कि विदेशी प्रभावों ने इसे समृद्ध भी किया। ईरानी, तुर्क और अरब प्रभावों से भारतीय रसोई में मसालों, मांसाहारी व्यंजनों और मिठाइयों की नई शैलियाँ विकसित हुईं। इस काल में भोजन केवल एक घरेलू क्रिया नहीं, बल्कि राजसी वैभव और सांस्कृतिक प्रदर्शन का प्रतीक बन गया। मुगल दरबारों की शाही रसोईयाँ, राजपूतों के भोज और दक्षिण भारतीय मंदिरों के प्रसाद इस सांस्कृतिक विकास के प्रमाण हैं।

भारत की पाक परंपरा की एक विशेषता इसकी क्षेत्रीय विविधता है। हिमालय से लेकर समुद्र तट तक, और पश्चिमी मरुस्थल से लेकर पूर्वोत्तर के हरे-भरे इलाकों तक, प्रत्येक क्षेत्र की अपनी विशिष्ट खाद्य पहचान है। स्थानीय कृषि, जलवायु, मसाले, धार्मिक परंपराएँ और सामाजिक वर्ग संरचनाएँ भोजन की विविधता को आकार देती हैं। इसीलिए भारत का भोजन क्षेत्रीय पहचान, स्थानीय पारिस्थितिकी और सांस्कृतिक स्मृति का जीवंत दस्तावेज़ है।

आज के युग में, जब वैश्वीकरण और फास्ट-फूड संस्कृति तेजी से फैल रही है, भारतीय पारम्परिक भोजन शैली का संरक्षण एक चुनौती और आवश्यकता दोनों बन गया है। यूनेस्को द्वारा अमूर्त सांस्कृतिक विरासत के संरक्षण पर बल देने के साथ-साथ भारत सरकार ने भी स्थानीय पाक शैलियों, पारम्परिक व्यंजनों और खान-पान से जुड़ी लोक परंपराओं को संरक्षित करने के प्रयास किए हैं। इस इकाई में हम भारतीय पाक शैली की ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और सामाजिक यात्रा को समझेंगे — प्राचीन काल से लेकर आधुनिक युग तक।

9.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद ये कर पाएँगे:

- भारतीय पारंपरिक पाक परंपरा के ऐतिहासिक, सामाजिक और सांस्कृतिक आयामों को समझना।
- शाही रसोई परंपराएँ—मुगल, राजपूत और दक्षिण भारतीय दरबारों की पाक शैली और उसकी विशेषताओं का विश्लेषण करना।
- ग्रामीण और आदिवासी समुदायों में भोजन की भूमिका और पाक विधियों की विविधता का मूल्यांकन करना।
- औपनिवेशिक काल के प्रभाव और स्वतंत्रता के बाद भोजन के पुनरुत्थान व वैश्विक प्रसार के कारणों को पहचानना।
- आधुनिक बाजार, वैश्वीकरण और तकनीकी नवाचार के संदर्भ में पारंपरिक भोजन के संरक्षण और विकास की रणनीतियाँ समझना।
- भारतीय पाक परंपरा को अमूर्त सांस्कृतिक विरासत के रूप में उसकी सामाजिक, पर्यावरणीय और सांस्कृतिक भूमिका के साथ जोड़कर मूल्यांकन करना।

9.2 भारत की पाक परंपराएँ: एक ऐतिहासिक अवलोकन

भारतीय पाक परंपराएँ सभ्यता के विकास के साथ-साथ निरंतर रूप से समृद्ध होती रही हैं। सिंधु घाटी सभ्यता के पुरातात्त्विक अवशेषों से यह ज्ञात होता है कि वहाँ अनाज, दालें, तिलहन, फल-सब्जियाँ और मसालों का प्रयोग होता था। मिट्टी के बर्तनों और ताम्रपात्रों के अवशेष यह संकेत देते हैं कि भोजन पकाने की तकनीक और विविधता दोनों विकसित हो चुकी थीं। इस काल में भोजन स्थानीय कृषि और मौसमी संसाधनों पर आधारित था, जो आज भी भारत के ग्रामीण समाज की एक स्थायी विशेषता है।

वैदिक युग में भोजन धार्मिक और सामाजिक जीवन का केंद्र था। "यज्ञ" में अन्न, घी, दूध और फल जैसी सामग्रियों का प्रयोग देवताओं को प्रसन्न करने के लिए किया जाता था। ऋग्वेद और अथर्ववेद में भोजन को 'जीवन का आधार' कहा गया है। इस काल में शाकाहार और मांसाहार दोनों विद्यमान थे, किंतु धीरे-धीरे ब्राह्मणवादी परंपरा के प्रभाव से शाकाहार को अधिक पवित्र माना जाने लगा। भोजन के माध्यम से समाज में वर्ण, आश्रम और लिंग आधारित भूमिकाओं की भी अभिव्यक्ति होती थी।

मौर्य और गुप्त काल में कृषि विस्तार और व्यापारिक समृद्धि के कारण भोजन संस्कृति अधिक विकसित हुई। राजकीय भोज, मंदिरों में महाप्रसाद, और नगरों में भोजनालयों का उल्लेख साहित्य और अभिलेखों में मिलता है। इस काल में मसालों का प्रयोग बढ़ा और भारतीय व्यंजनों की सुवास और स्वाद की ख्याति दूर देशों तक पहुँची। विदेशी यात्रियों — जैसे मेगस्थनीज, फाह्यान और युवानच्वांग — ने भारतीय भोजन की विविधता और पौष्टिकता की प्रशंसा की है।

मध्यकाल में भारतीय पाक परंपरा में फारसी, तुर्की और अफगानी प्रभाव गहराई से जुड़े। मुगल काल में रसोई एक कला और विज्ञान दोनों बन गई। बिरयानी, पुलाव, कबाब, खिचड़ी, शीरमाल और विविध प्रकार की मिठाइयाँ इसी युग में विकसित हुईं। इस काल में 'दावत' और 'जश्न' का अर्थ केवल भोज नहीं, बल्कि एक सांस्कृतिक आयोजन था जिसमें भोजन सामाजिक संबंधों का माध्यम बनता था। दक्षिण भारत के मंदिरों में नैवेद्य और उत्तर भारत के राजमहलों में शाही दावतें दोनों ही पाक-परंपरा की ऊँचाई के उदाहरण हैं।

औपनिवेशिक युग में भारतीय पाक परंपराओं पर यूरोपीय प्रभाव पड़ा। पुर्तगालियों द्वारा मिर्च, टमाटर और आलू जैसे नये खाद्य पदार्थ भारत में आए, जिन्होंने भारतीय व्यंजनों के स्वाद और रंग को नया आयाम दिया। अंग्रेज़ी शासन के दौरान 'क्लब संस्कृति' और 'टी-टाइम' जैसी आदतें भी विकसित हुईं, जो बाद में शहरी मध्यवर्ग में स्थायी रूप से बस गईं। इस प्रकार भारतीय पाक परंपराएँ सदियों के सांस्कृतिक समागम की साक्षी हैं — जो आज भी लोक-जीवन, धर्म, क्षेत्रीयता और वैश्विकता के बीच एक सेतु का कार्य करती हैं।

9.3 भारतीय पाक परंपरा के क्षेत्रीय रूप

भारत की पाक परंपरा उसकी भौगोलिक विविधता और सांस्कृतिक बहुलता का प्रतिबिंब है। हिमालय से लेकर तटीय प्रदेशों तक, थार मरुस्थल से लेकर गंगा के उपजाऊ मैदानों तक, प्रत्येक क्षेत्र की अपनी विशिष्ट खाद्य-संस्कृति रही है। यह विविधता केवल स्वाद और पकाने के तरीकों में ही नहीं, बल्कि धार्मिक आस्थाओं, जलवायु, और उपलब्ध प्राकृतिक संसाधनों में भी निहित है। उत्तर भारत में गेहूँ आधारित व्यंजन प्रमुख हैं, जबकि दक्षिण भारत में चावल और नारियल का विशेष स्थान है।

उत्तर भारत की पाक परंपरा मुगल और राजपूत प्रभावों से गहराई से जुड़ी हुई है। यहाँ तंदूर में पकाए जाने वाले व्यंजन जैसे तंदूरी रोटी, नान, कबाब और बिरयानी प्रसिद्ध हैं। उत्तर प्रदेश और पंजाब की रसोई में घी, दालें, और मसालों का प्रयोग भरपूर मात्रा में होता है। काशी और मथुरा जैसे तीर्थ नगरों में शुद्ध शाकाहारी भोजन की परंपरा है, जिसमें कचौड़ी, पुरी-सब्जी और मालपुआ विशेष हैं। वहीं कश्मीर की 'वाज़वान' शैली अपनी भव्यता और विविध मांसाहारी व्यंजनों के लिए प्रसिद्ध है।

दक्षिण भारत की पाक परंपरा में चावल, नारियल, इमली और करी पत्ते प्रमुख भूमिका निभाते हैं। इडली, डोसा, उत्तपम, सांभर और रसम केवल भोजन नहीं, बल्कि एक संतुलित और पौष्टिक आहार का प्रतीक हैं। केरल की 'सद्या' भोज परंपरा, केले के पत्ते पर परोसे जाने वाले विविध शाकाहारी व्यंजनों के लिए जानी जाती है। तमिलनाडु और आंध्र प्रदेश की पाक परंपरा में मसालों का तीखापन और स्वाद की विविधता एक प्रमुख विशेषता है, जबकि कर्नाटक में बिसीबेळे भात और मैसूर पाक जैसी डिशें स्थानीय पहचान का प्रतीक हैं।

पूर्वोत्तर भारत में बांस की कोपलें, मछली, और स्थानीय जड़ी-बूटियों का विशेष स्थान है। यहाँ की भोजन शैली अपेक्षाकृत सरल और पौष्टिक होती है। असम का खार, नागालैंड की स्मोक्ड मीट डिशेज़ और मणिपुर का इरॉम्बा जैसे व्यंजन स्थानीय प्रकृति और संस्कृति का प्रतीक हैं। इस क्षेत्र की पाक परंपरा में सामुदायिक भोज का विशेष महत्व है, जो सामाजिक एकता और पारिवारिक बंधन को प्रकट करता है।

पश्चिम भारत में गुजराती, महाराष्ट्रीय और राजस्थानी भोजन का अपना अनूठा स्थान है। गुजरात का ढोकला, हांडवो और थेपला जहाँ स्वाद और स्वास्थ्य का संतुलन दिखाते हैं, वहीं राजस्थान का दाल-बाटी-चूरमा और गट्टे की सब्जी मरुस्थलीय जीवन की अनुकूलता का उदाहरण हैं। महाराष्ट्र का पोहे, पुरण पोली और वडापाव शहरी और ग्रामीण दोनों समाजों में लोकप्रिय हैं। पश्चिमी तटीय क्षेत्रों में गोअन और कोंकणी व्यंजन—विशेषकर नारियल और समुद्री मछलियों पर आधारित—भारतीय और पुर्तगाली स्वादों का संगम प्रस्तुत करते हैं।

पूर्वी भारत, विशेषकर बंगाल, ओडिशा और बिहार, अपने विविध मिठाइयों और मछली व्यंजनों के लिए प्रसिद्ध हैं। रसगुल्ला, संदेश, मिष्टी दोई और माछ-भात यहाँ की पाक पहचान हैं। बंगाल और ओडिशा के मंदिरों में प्रसाद के रूप में तैयार होने वाले व्यंजन—जैसे पुरी का महाप्रसाद—धार्मिकता और पाक कला के गहरे संबंध को प्रकट करते हैं। इस प्रकार भारत की क्षेत्रीय पाक परंपराएँ केवल स्वाद का नहीं, बल्कि सामाजिक, धार्मिक और पारिस्थितिक विविधता का जीवंत दस्तावेज़ हैं।

9.4 भारतीय पाक-परम्परा के कुछ आयाम

हम इस खंड में हम भारतीय परंपरा में भोजन और धर्म, अनुष्ठान और सामाजिकता के बीच संबंधों के विभिन्न आयामों पर चर्चा करेंगे।

9.4.1 भारतीय पाक परंपरा में धार्मिकता और अनुष्ठान

भारतीय संस्कृति में भोजन केवल पोषण का साधन नहीं, बल्कि एक संस्कार है। भोजन की तैयारी, परोसने की विधि और ग्रहण करने की प्रक्रिया – इन सबमें धार्मिकता और अनुष्ठानिकता गहराई से जुड़ी हुई है। अन्नं ब्रह्मेति

—अन्न ही ब्रह्म है—यह वैदिक उद्घोषणा भारतीय समाज में भोजन की पवित्रता का प्रतीक है। अधिकांश धार्मिक अनुष्ठानों में अन्न, फल, घी, दूध और मिठाइयों का प्रयोग 'नैवेद्य' या 'भोग' के रूप में किया जाता है। यह मान्यता रही है कि भोजन पहले देवता को अर्पित करने से वह 'प्रसाद' बन जाता है, जो केवल आहार नहीं, बल्कि आशीर्वाद का प्रतीक होता है।

हिंदू धर्म में प्रत्येक पर्व या व्रत के साथ विशेष प्रकार के भोजन का संबंध देखा जाता है। नवरात्र में फलाहार, एकादशी पर अनाज-वर्जन, होली पर गुजिया और दिवाली पर लड्डू—ये सब धार्मिकता और आनंद का मिश्रण हैं। दक्षिण भारत के मंदिरों में महाप्रसादम और उत्तर भारत में भोग-प्रसाद की परंपरा आज भी जीवंत है। जगन्नाथ पुरी, मदुरै, तिरुपति और काशी जैसे तीर्थस्थलों पर मंदिर रसोई केवल धर्म का नहीं, बल्कि सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन का भी केंद्र है। मंदिरों की ये रसोइयाँ सामुदायिक एकता और सेवा का प्रतीक हैं।

जैन और बौद्ध परंपराओं में भोजन की भूमिका संयम, करुणा और अहिंसा के सिद्धांतों से जुड़ी हुई है। जैन साधक सूर्यास्त के बाद भोजन नहीं करते, और जीव-हिंसा से रहित भोजन ही ग्रहण करते हैं। वहीं बौद्ध भिक्षुओं का 'पिंडदान' और 'भोजन-संयम' जीवन में संतुलन और आत्मनियंत्रण के आदर्श को व्यक्त करता है। विनय-पिटक और धम्मपद जैसे ग्रंथों में भोजन को तप और साधना के एक अंग के रूप में देखा गया है। इन परंपराओं ने भारतीय समाज में सादगी, शुद्धता और संयमित आहार की संस्कृति को गहराई से स्थापित किया।

इस्लामी परंपरा में भोजन 'बरकत' और 'शुक्र' का प्रतीक है। रमज़ान के महीने में इफ्तार और सेहरी केवल उपवास की पूर्ति नहीं, बल्कि सामाजिक मेल-जोल का अवसर होते हैं। मुहर्रम, ईद और अन्य धार्मिक अवसरों पर शीरखुरमा, बिरयानी और हलीम जैसे व्यंजन न केवल स्वाद बल्कि एक सामुदायिक पहचान का हिस्सा हैं। इस्लामी दावतों में सभी वर्गों का सम्मिलन एकता और समानता के सिद्धांतों को मजबूत करता है।

सिख परंपरा में 'लंगर' की प्रथा विश्व में सामुदायिक भोजन की सबसे बड़ी परंपराओं में से एक है। गुरु नानक ने 'लंगर' को समानता और सेवा के प्रतीक के रूप में स्थापित किया, जहाँ जाति, धर्म और लिंग का कोई भेद नहीं होता। यह परंपरा आज भी गुरुद्वारों में प्रतिदिन लाखों लोगों को भोजन प्रदान करती है। इसी प्रकार, ईसाई धर्म में कम्यूनियन या ब्रेड-एंड-वाइन का प्रतीकात्मक महत्व है, जो ईसा मसीह के बलिदान और करुणा की स्मृति से जुड़ा है। इस तरह भारतीय पाक परंपराएँ विभिन्न धर्मों की सहअस्तित्व भावना को मूर्त रूप देती हैं — जहाँ भोजन भक्ति, सेवा और एकता का माध्यम बन जाता है।

9.4.2 भारतीय पाक परंपरा में सामाजिकता और सांस्कृतिक विविधता

भारतीय पाक परंपरा केवल स्वाद की विविधता नहीं, बल्कि समाज की विविध संरचनाओं का जीवंत प्रतीक है। यहाँ भोजन सामाजिक संबंधों, पारिवारिक एकता और सामुदायिक जीवन का केंद्र रहा है। ग्रामीण भारत में आज

भी भोजन सामूहिक रूप से ग्रहण करने की परंपरा जीवित है—जहाँ एक ही थाली में सबका सम्मिलन समानता और सहयोग की भावना को प्रकट करता है। विवाह, त्यौहार, श्राद्ध या फसल उत्सव जैसे अवसरों पर सामूहिक भोज का आयोजन सामाजिक समरसता का माध्यम रहा है। भोजन भारतीय समाज में केवल एक जैविक आवश्यकता नहीं, बल्कि सामाजिक अनुशासन और सांस्कृतिक एकजुटता का प्रतीक है।

जाति और समुदाय आधारित भोजन की परंपराओं ने भी भारतीय समाज की जटिलता को आकार दिया। यद्यपि अतीत में जातिगत प्रतिबंधों ने भोजन को सीमाओं में बाँधा—जैसे 'किसके हाथ का बना भोजन खाया जा सकता है'—फिर भी समय के साथ यह ढाँचा धीरे-धीरे लचीला हुआ। शहरीकरण, औद्योगिकीकरण और प्रवास ने भोजन को सामाजिक गतिशीलता का माध्यम बना दिया। अब एक ही शहर में उत्तर भारतीय, दक्षिण भारतीय, बंगाली और पंजाबी व्यंजन समान रूप से उपलब्ध हैं—यह परिवर्तन भारतीय समाज की बहुलतावादी भावना को दर्शाता है।

भारत के विभिन्न समुदायों की सांस्कृतिक परंपराएँ उनके भोजन से गहराई से जुड़ी हुई हैं। उदाहरण के लिए, गुजरात में जैन धर्म के प्रभाव से शाकाहारी भोजन प्रमुख है, जबकि बंगाल में मछली और चावल दैनिक आहार का हिस्सा हैं। इसी प्रकार, उत्तर-पूर्व भारत में बांस, सुअर-मांस और स्थानीय सब्जियाँ भोजन का अंग हैं, जबकि दक्षिण भारत में नारियल, इमली और चावल का उपयोग सर्वत्र होता है। यह क्षेत्रीय विविधता भारतीय भोजन को केवल स्वाद में ही नहीं, बल्कि पहचान और संवेदना के स्तर पर भी बहुरंगी बनाती है।

सामाजिकता के संदर्भ में भारतीय भोजन आतिथ्य की संस्कृति को भी पुष्ट करता है। "अतिथि देवो भव" की भावना हर भारतीय रसोई की आत्मा रही है। घर में आए मेहमान के लिए विशेष पकवान बनाना, भोजन के बाद मिठाई या पान परोसना, और तीज-त्योहारों पर पड़ोसियों को आमंत्रित करना—ये सभी आदतें भारतीय सामाजिक जीवन की गहराई को प्रकट करती हैं। भोजन केवल पेट भरने का माध्यम नहीं, बल्कि संबंधों को निभाने और आत्मीयता व्यक्त करने का तरीका है।

भारतीय भोजन की सांस्कृतिक विविधता आज वैश्विक स्तर पर भी सराही जा रही है। भारत के बाहर बसे प्रवासी समुदायों ने अपने पारंपरिक व्यंजनों को दुनिया के विभिन्न हिस्सों में लोकप्रिय बनाया है। लंदन, न्यूयॉर्क, दुबई, सिंगापुर या टोरंटो में भारतीय रेस्तराँ केवल व्यंजन नहीं परोसते, बल्कि भारतीय संस्कृति का अनुभव कराते हैं। इस प्रकार भारतीय पाक परंपरा वैश्विक मंच पर सॉफ्ट पावर के रूप में उभर रही है—जो सामाजिकता, समावेशिता और सांस्कृतिक समृद्धि का संदेश देती है।

9.4.3 भारतीय पाक परंपरा और पर्यावरणीय स्थिरता

भारतीय पाक परंपरा सदियों से प्रकृति के साथ सह-अस्तित्व के सिद्धांत पर आधारित रही है। यहाँ भोजन केवल मनुष्य के उपभोग की वस्तु नहीं, बल्कि प्रकृति के प्रति कृतज्ञता का प्रतीक माना गया है। ऋतुओं के अनुसार आहार-विहार

बदलने की परंपरा—जैसे वर्षा ऋतु में हल्का और ताजगी देने वाला भोजन, शीत ऋतु में ऊर्जादायक भोजन—यह दर्शाती है कि भारतीय जीवनशैली पर्यावरणीय लय के अनुरूप विकसित हुई थी। आयुर्वेद ने भोजन को "औषधि" माना, जहाँ आहार का उद्देश्य केवल स्वाद नहीं, बल्कि शरीर और पर्यावरण के संतुलन को बनाए रखना था।

भारतीय रसोई में स्थानीय और मौसमी उत्पादों के उपयोग की परंपरा पर्यावरणीय स्थिरता का उत्कृष्ट उदाहरण है। हर क्षेत्र में जो फसलें और वनस्पतियाँ उपलब्ध हैं, वहीं के व्यंजनों में उनका प्रयोग होता है। इससे न केवल परिवहन और संरक्षण पर निर्भरता घटती थी, बल्कि स्थानीय अर्थव्यवस्था भी सशक्त होती थी। उदाहरण के लिए, राजस्थान में बाजरा और मोटे अनाज का उपयोग मरुस्थलीय जलवायु के अनुकूल है, जबकि दक्षिण भारत में नारियल और चावल का प्रयोग तटीय जीवनशैली के अनुरूप है। यह स्वाभाविक अनुकूलन पर्यावरण-संगत जीवन का आदर्श प्रस्तुत करता है।

भारतीय पाक परंपरा में अपव्यय की प्रवृत्ति नहीं रही। "जितना आवश्यक है उतना ही बनाओ"—यह सिद्धांत ग्रामीण और शहरी दोनों समाजों में देखा जाता है। बचे हुए भोजन को पुनः उपयोग में लाने की अनेक विधियाँ प्रचलित थीं, जैसे दाल का 'पराठा', बची सब्ज़ियों का 'मिक्स भात' या 'खिचड़ी'। यह न केवल संसाधनों की बचत करता था, बल्कि भोजन में विविधता भी लाता था। 'अन्न का अनादर पाप है'—यह भावना भारतीय संस्कृति में पर्यावरणीय नैतिकता की अभिव्यक्ति है।

पारंपरिक भारतीय रसोई में मिट्टी, पत्थर, लकड़ी और धातु के बर्तनों का प्रयोग प्राकृतिक सामग्रियों पर आधारित था। ये बर्तन पुनः उपयोग योग्य और जैविक रूप से अनुकूल थे। मिट्टी के बर्तन न केवल भोजन का स्वाद बढ़ाते थे, बल्कि ताप संतुलन भी बनाए रखते थे। आधुनिक समय में प्लास्टिक और रासायनिक बर्तनों के प्रसार ने यह परंपरा कमजोर की, परंतु अब फिर से 'सस्टेनेबल कुकिंग' और 'इको-फ्रेंडली किचन' की ओर रुझान बढ़ रहा है।

वर्तमान युग में जब पर्यावरण संकट वैश्विक चिंता का विषय है, तब भारतीय पाक परंपरा के मूल सिद्धांत—संतुलन, संयम, स्थानीयता और पुनर्चक्रण—हमारे लिए प्रेरणास्रोत बन सकते हैं। स्थानीय अन्न, जैविक खेती, और पारंपरिक खाद्य विधियों को पुनर्जीवित करना न केवल स्वास्थ्य के लिए लाभकारी है, बल्कि जलवायु परिवर्तन के समाधान में भी योगदान दे सकता है। इस दृष्टि से भारतीय भोजन संस्कृति केवल ऐतिहासिक धरोहर नहीं, बल्कि एक टिकाऊ भविष्य के लिए व्यावहारिक मार्गदर्शक है।

9.4.4 भारतीय पाक परंपरा का वैश्वीकरण और समकालीन परिप्रेक्ष्य

भारतीय पाक परंपरा आज विश्व मंच पर एक सांस्कृतिक पहचान के रूप में स्थापित हो चुकी है। वैश्वीकरण के युग में भारतीय भोजन ने न केवल सीमाओं को पार किया है, बल्कि विविध संस्कृतियों के साथ संवाद भी स्थापित किया है। प्रवासी भारतीय समुदायों ने विश्व के लगभग हर देश में अपने पारंपरिक व्यंजनों की सुगंध फैला दी है। लंदन

की "करी हाउस" संस्कृति, न्यूयॉर्क और टोरंटो के "इंडियन बिस्टरो" और दुबई या सिंगापुर के आधुनिक फ्यूज़न रेस्टोरेंट – सभी भारतीय स्वाद की लोकप्रियता के प्रमाण हैं। "करी", "मसाला", "तंदूरी" और "चाय" जैसे शब्द अब वैश्विक पाक शब्दकोश का हिस्सा बन चुके हैं।

वैश्वीकरण ने भारतीय भोजन को आधुनिकता और नवाचार के साथ जोड़ा है। पारंपरिक व्यंजन अब "फ्यूज़न फूड" के रूप में नए रूप ले रहे हैं – जैसे पनीर टिक्का पिज़्ज़ा, बटर चिकन पास्ता या मैंगो लस्सी चीज़केक। इस प्रकार के नवाचार भारतीय पाक परंपरा की लचीलापन और प्रयोगशीलता को दर्शाते हैं। हालाँकि, इस प्रक्रिया ने यह प्रश्न भी उठाया है कि क्या इस परिवर्तन में पारंपरिक स्वाद और मूल्यों का ह्रास हो रहा है या वे नई परिस्थितियों में नए रूप में जीवित हैं।

वैश्विक स्तर पर भारतीय भोजन को "स्वास्थ्यकर" और "प्राकृतिक" भोजन के रूप में भी पहचाना जाने लगा है। आयुर्वेदिक सिद्धांतों, मसालों के औषधीय गुणों और संतुलित आहार प्रणाली ने भारतीय व्यंजनों को वेलनेस फूड की श्रेणी में विशेष स्थान दिलाया है। हल्दी, अदरक, दालचीनी और नीम जैसे तत्व अब सुपरफूड्स के रूप में विश्वभर में लोकप्रिय हैं। योग और ध्यान की वैश्विक स्वीकृति ने भी भारतीय भोजन को "समग्र जीवनशैली" (Holistic Lifestyle) से जोड़ दिया है।

समकालीन भारत में शहरीकरण, मीडिया और पर्यटन ने भोजन संस्कृति को एक नए सामाजिक अनुभव में बदल दिया है। खाद्य उत्सव (Food Festivals), कुकिंग शो और सोशल मीडिया प्लेटफ़ॉर्म्स ने पारंपरिक व्यंजनों को नई पीढ़ी से जोड़ा है। युवा वर्ग अब केवल स्वाद के लिए नहीं, बल्कि सांस्कृतिक पुनःखोज के रूप में भारतीय व्यंजनों की ओर आकर्षित हो रहा है। "फार्म टू टेबल" और "लोकल टू ग्लोबल" जैसे विचार भारतीय पाक परंपरा को आधुनिकता और पर्यावरणीय चेतना के साथ पुनर्परिभाषित कर रहे हैं।

फिर भी, वैश्वीकरण के इस दौर में चुनौतियाँ भी कम नहीं हैं। फास्ट फूड संस्कृति, प्रोसेस्ड भोजन और उपभोक्तावाद की प्रवृत्तियाँ पारंपरिक भोजन की सादगी और स्वास्थ्यकरता को प्रभावित कर रही हैं। किंतु सकारात्मक पहलू यह है कि भारतीय पाक परंपरा अपनी गहराई, विविधता और जीवन-दर्शन के कारण इन प्रभावों को आत्मसात कर नये रूप में उभर रही है। आज भारतीय भोजन केवल रसोई की वस्तु नहीं, बल्कि सांस्कृतिक संवाद, आत्मपहचान और विश्वबंधुत्व का माध्यम बन गया है।

9.5 शाही रसोई परंपरा : मुगल, राजपूत और दक्षिण भारतीय दरबारों में भोजन

भारत की शाही रसोई परंपराएँ केवल स्वाद या विलासिता का प्रतीक नहीं थीं, बल्कि वे उस समय की सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक स्थिति का भी दर्पण थीं। प्राचीन और मध्यकालीन भारत में भोजन न केवल शारीरिक पोषण का साधन था, बल्कि यह राजकीय वैभव, धार्मिक आस्था और सांस्कृतिक विविधता का भी प्रतीक

बन गया। विभिन्न राजवंशों के दरबारों में रसोई कला को एक प्रकार की "उच्च कला" के रूप में देखा जाता था, जहाँ स्वाद, सुगंध, रंग और प्रस्तुति — सबका विशेष ध्यान रखा जाता था।

मुगल काल की रसोई परंपरा ने भारतीय पाकशैली को एक नए आयाम पर पहुँचाया। बाबर के साथ मध्य एशियाई व्यंजन भारत आए, जो आगे चलकर भारतीय मसालों के मेल से "मुगलई भोजन" कहलाए। शाही रसोई में बिरयानी, कबाब, कोरमा, नान, सीख और शीरमाल जैसे व्यंजन बनाए जाते थे। अकबर और जहांगीर के समय में रसोई व्यवस्था अत्यंत व्यवस्थित थी—अलग-अलग वर्ग के रसोइये नियुक्त किए जाते थे, और भोजन की गुणवत्ता व स्वच्छता पर कड़ी निगरानी रखी जाती थी। केसर, मेवा, गुलाबजल और इलायची जैसे महंगे घटक मुगल भोजन का अभिन्न हिस्सा थे।

राजपूत दरबारों की रसोई अपनी वीरता और मर्यादा से जुड़ी परंपराओं के अनुरूप थी। मांसाहारी व्यंजन, विशेषकर "लाल मांस" और "सफेद मांस", उनकी पहचान बने। साथ ही बाजरे, जौ, और दूध से बने व्यंजन राजस्थान की जलवायु और संसाधनों के अनुकूल थे। भोजन केवल स्वाद का विषय नहीं था, बल्कि यह अतिथि सत्कार, शौर्य और सामाजिक स्थिति का भी प्रतीक था। राजघरानों में भोज के अवसर धार्मिक अनुष्ठानों और उत्सवों से गहराई से जुड़े रहते थे।

दक्षिण भारत के दरबारों—विशेषकर विजयनगर, चोल और पांड्य शासनों—में भोजन की परंपरा विशिष्ट धार्मिकता और सौंदर्यबोध से युक्त थी। यहाँ शाकाहार को प्रमुख स्थान प्राप्त था। चावल, नारियल, इमली, करिवेपत्ता और मसालों का संतुलित उपयोग दक्षिण भारतीय व्यंजनों की पहचान बना। मंदिरों में प्रसाद रूपी भोजन का वितरण, जैसे—अन्नप्रसाद, पोंगल या सांभर-चावल—इस क्षेत्र की सांस्कृतिक एकता और भक्ति परंपरा का प्रतिनिधित्व करते हैं।

शाही रसोई परंपराओं की विविधता भारतीय पाक संस्कृति की समृद्धि को दर्शाती है। मुगल दरबार की विलासिता, राजपूतों की मर्यादित भव्यता और दक्षिण भारतीय दरबारों की धार्मिक सौम्यता—इन सबने मिलकर भारतीय भोजन को बहुआयामी स्वरूप दिया। आज भी इन शाही परंपराओं की छाप हमारे व्यंजनों, भोज्य संस्कारों और भोजन-संस्कृति में गहराई से दिखाई देती है—चाहे वह हैदराबादी बिरयानी हो, राजस्थानी थाली हो या दक्षिण भारतीय सादे भोजन की शुद्धता।

9.6 लोक जीवन में भोजन : ग्रामीण और आदिवासी समुदायों की पाक विधियाँ

भारत के ग्रामीण और आदिवासी समाजों में भोजन केवल पोषण का साधन नहीं, बल्कि जीवनशैली, संस्कृति और परंपरा का अभिन्न हिस्सा रहा है। गाँवों में दैनिक आहार स्थानीय कृषि, मौसमी फसलों और पशुपालन पर आधारित होता है। दलहन, अनाज, सब्जियाँ और ताजे फल प्रमुख होते हैं। अधिकांश ग्रामीण समुदायों में भोजन

सामूहिक रूप से ग्रहण किया जाता है, जिससे सामाजिक संबंध और सहयोग की भावना प्रबल होती है। त्यौहारों और मेलों में विशेष व्यंजन तैयार करना, जैसे हलवा, पूरी, चटनी और पापड़, सामाजिक समरसता का प्रतीक बनते हैं।

आदिवासी समुदायों की पाक परंपरा प्राकृतिक संसाधनों और पारिस्थितिक अनुकूलता पर आधारित है। पूर्वोत्तर के मणिपुर, नागालैंड और असम के आदिवासी मछली, सुअर-मांस, जड़ी-बूटियाँ और बांस की कोपलों का व्यापक उपयोग करते हैं। मध्य भारत में गोंड, बैगा और भील आदिवासी जंगलों से प्राप्त जंगली फलों, बीजों और मांसाहारी व्यंजनों का प्रयोग करते हैं। यह भोजन न केवल स्वादिष्ट बल्कि पौष्टिक और पर्यावरण अनुकूल भी होता है।

ग्रामीण भारत में भोजन की संरचना प्रायः सादगी और संतुलन पर आधारित होती है। दाल, चावल या रोटी, सब्जी और ताजा पत्तेदार साग—यह मूल संयोजन हर इलाके में अलग रूप में दिखाई देता है। सर्दियों में उर्जा प्रदान करने वाले व्यंजन, गर्मियों में हल्के और ठंडक देने वाले व्यंजन—इस प्रकार मौसम और जलवायु के अनुसार आहार बदलता रहता है। यह दर्शाता है कि भारतीय पारंपरिक भोजन में स्वास्थ्य, प्रकृति और जीवनशैली का गहरा तालमेल रहा है।

त्योहारों, सामाजिक अवसरों और अनुष्ठानों में ग्रामीण और आदिवासी पाक विधियाँ उत्सव का स्वरूप ले लेती हैं। उत्तर भारत में होली और दिवाली पर विशेष मिठाइयाँ, दक्षिण भारत में ओणम और पोंगल पर प्रसाद, और पूर्वोत्तर में स्थानीय जड़ी-बूटियों के साथ मांसाहारी व्यंजन—ये सभी संस्कृति, भक्ति और सामुदायिक भावना को परिभाषित करते हैं। इन अवसरों पर भोजन केवल पेट भरने का माध्यम नहीं, बल्कि सामाजिक पहचान और सांस्कृतिक स्मृति का हिस्सा बन जाता है।

ग्रामीण और आदिवासी पाक परंपराएँ आज भी भारतीय भोजन की विविधता और प्राचीनता की गवाही देती हैं। आधुनिकता, बाजार और ग्लोबलाइज़ेशन के प्रभाव के बावजूद, ये पारंपरिक व्यंजन स्थानीय जीवनशैली, सांस्कृतिक मूल्य और पर्यावरणीय अनुकूलता के कारण जीवित हैं। यह भाग भारतीय भोजन की अमूर्त सांस्कृतिक विरासत में लोक जीवन के योगदान को उजागर करता है, जो केवल स्वाद ही नहीं, बल्कि जीवन दृष्टि और समाज संरचना का प्रतीक भी है।

9.7 औपनिवेशिक काल और भोजन में परिवर्तन

औपनिवेशिक काल में भारतीय भोजन पर विदेशी शासन और सांस्कृतिक प्रभाव ने गहरा असर डाला। ब्रिटिश शासन ने भारतीय समाज के पारंपरिक खाद्य और पाक संरचनाओं को व्यवस्थित रूप से प्रभावित किया। भारत में यूरोपीय खाद्य आदतों का प्रवेश, जैसे चाय, बिस्किट, ब्रेड और मांसाहारी व्यंजन, धीरे-धीरे शहरी जीवनशैली में समाहित होने लगे। इसके साथ ही स्थानीय बाजारों और कारीगरों की परंपरागत उत्पादन प्रणाली भी प्रभावित हुई।

ब्रिटिश प्रशासन ने भारतीय बाजार को कच्चे माल का स्रोत और तैयार माल का उपभोक्ता बनाया। इससे स्थानीय कृषि और पारंपरिक पाक सामग्री की मांग में बदलाव आया। मसाले, अनाज और तिलहन विदेशी व्यापार के अधीन हो गए। पारंपरिक रसोई में प्रयुक्त जड़ी-बूटियाँ, प्राकृतिक मसाले और स्थानीय विधियाँ धीरे-धीरे कम होती गईं, जबकि यूरोपीय स्वाद और पकाने की तकनीकें लोकप्रिय हुईं।

औपनिवेशिक काल में शहरी मध्यवर्ग और ब्रिटिश अधिकारियों के लिए नए प्रकार के भोजनालय और क्लब स्थापित किए गए। यहाँ अंग्रेज़ी शैली का नाश्ता, चाय और बेकरी उत्पाद पेश किए जाने लगे। भारतीय घरों में भी आधुनिकता के प्रभाव से ब्रेड, केक, बिस्किट और डेयरी उत्पादों का उपयोग बढ़ा। पारंपरिक व्यंजनों की सरलता और मौसमी उपादानों का स्थान धीरे-धीरे "ब्रिटिश फ्यूज़न" भोजन ने ले लिया।

ग्रामीण और आदिवासी समुदायों पर भी औपनिवेशिक नीतियों का प्रभाव पड़ा। नए फसल कानून, कर और भूमि प्रणाली ने उनके जीवन और भोजन पर असर डाला। सीमित संसाधनों के कारण स्थानीय खाद्य विधियाँ और सामुदायिक भोज धीरे-धीरे प्रभावित हुए। हालांकि, ग्रामीण भारत में पारंपरिक आहार और मौसमी पाक प्रथाएँ कई क्षेत्रों में जीवित रहीं। इससे पता चलता है कि भारतीय पाक परंपरा ने संकट के समय भी अपनी जड़ें बनाए रखीं।

इस काल में भोजन केवल पोषण का साधन नहीं, बल्कि सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों का दर्पण भी बन गया। ब्रिटिश और भारतीय समाज की अंतर-क्रिया ने भोजन की विविधता, तकनीक और प्रस्तुति में बदलाव लाया। औपनिवेशिक प्रभाव के बावजूद, भारतीय भोजन ने अपनी सांस्कृतिक पहचान को बनाए रखा और आने वाले समय में पुनरुत्थान के लिए मार्ग प्रशस्त किया।

9.8 स्वतंत्रता के बाद भारतीय भोजन का पुनरुत्थान और वैश्विक प्रसार

स्वतंत्रता के बाद भारतीय भोजन ने न केवल अपनी पारंपरिक पहचान को पुनर्जीवित किया, बल्कि वैश्विक स्तर पर भी अपनी पहुँच बनाई। भारतीय रसोई ने विभिन्न राज्यों और समुदायों के व्यंजनों को संरक्षित करने और प्रचारित करने के लिए सरकारी और गैर-सरकारी प्रयासों को प्रोत्साहन दिया। पर्यटन मंत्रालय, खाद्य मेला और पाक परंपरा संरक्षण समितियों ने पारंपरिक व्यंजनों को राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर लोकप्रिय बनाने में मदद की।

इस दौर में शहरीकरण और मध्यम वर्ग की वृद्धि ने भोजन की विविधता को नई दिशा दी। होटल उद्योग, रेस्तराँ और कैटरिंग व्यवसाय ने भारतीय व्यंजनों को व्यवस्थित रूप से पेश करना शुरू किया। पंजाब की बटर चिकन, बंगाल की मछली व्यंजन, दक्षिण भारत के डोसा और इडली जैसे व्यंजन शहरी और विदेशी ग्राहकों में समान रूप से लोकप्रिय हुए। भारतीय भोजन ने अब केवल घरों तक सीमित नहीं रहा, बल्कि पेशेवर और वैश्विक प्लेटफॉर्म पर भी मान्यता प्राप्त की।

भारतीय भोजन का वैश्वीकरण प्रवासी भारतीयों के योगदान से भी हुआ। लंदन, न्यूयॉर्क, दुबई, टोरंटो और सिंगापुर में भारतीय रेस्तराँ और ढाबे स्थापित हुए। ये स्थल न केवल स्वाद प्रस्तुत करते हैं, बल्कि भारतीय संस्कृति, रीति-रिवाज और पारंपरिक खान-पान का अनुभव भी देते हैं। वैश्विक स्तर पर भारतीय मसालों, बिरयानी, तंदूरी और करी को स्वास्थ्य, स्वाद और विविधता के प्रतीक के रूप में स्वीकार किया गया।

पारंपरिक व्यंजनों का पुनरुत्थान केवल अंतरराष्ट्रीय मंच तक ही सीमित नहीं रहा। भारत में भी खाना पकाने के टीवी शो, पाक मेलों, ऑनलाइन प्लेटफॉर्म और सोशल मीडिया के माध्यम से पारंपरिक व्यंजनों को नए रूप और लोकप्रियता मिली। युवा वर्ग ने इसे न केवल स्वाद के लिए अपनाया, बल्कि सांस्कृतिक पहचान और धरोहर के रूप में भी सराहा। यह भारतीय भोजन की लचीलापन और समयानुकूल विकास को दर्शाता है।

स्वतंत्रता के बाद भोजन के इस पुनरुत्थान और वैश्विक प्रसार ने भारतीय पाक परंपरा को "विश्व की अमूर्त सांस्कृतिक धरोहर" के रूप में स्थापित किया। यह केवल स्वाद और पोषण का विषय नहीं, बल्कि सामाजिक पहचान, सांस्कृतिक संवाद और वैश्विक मित्रता का माध्यम बन गया। भारतीय भोजन अब घरेलू रसोई से विश्व के रेस्टोराँ और मेजों तक अपनी अमूर्त सांस्कृतिक विरासत के साथ जीवित है।

9.9 आधुनिकता, बाज़ार और पारंपरिक भोजन का संरक्षण

आधुनिक युग में भारतीय भोजन ने पारंपरिक और आधुनिक दोनों ही तत्वों को समेटते हुए नई पहचान बनाई है। शहरीकरण, वैश्वीकरण और तकनीकी प्रगति ने खाने-पीने की आदतों को बदल दिया है। रेस्टोराँ, कैफे, फूड डिलीवरी और फूड फेस्टिवल्स के माध्यम से पारंपरिक व्यंजन नई पीढ़ी तक पहुँच रहे हैं। बाजार की नई मांगों के अनुसार पकवानों में बदलाव और नवाचार ने भारतीय भोजन को विविधता और आधुनिकता के साथ संतुलित किया है।

बाज़ार और उद्यमिता ने पारंपरिक व्यंजनों के संरक्षण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। खाद्य उद्योग, हर्बल और मसाले वाले उत्पाद, पैकaged ready-to-cook और frozen foods ने ग्रामीण और शहरी पारंपरिक पाक विधियों को व्यावसायिक रूप दिया है। उदाहरण स्वरूप, राजस्थानी ढोकला, बंगाली रसगुल्ला, गुजराती थेपला और दक्षिण भारतीय इडली अब राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय बाज़ार में उपलब्ध हैं। इस प्रकार बाजार ने पारंपरिक व्यंजनों की पहुँच बढ़ाई और उनकी पहचान को संजोया।

सरकारी और गैर-सरकारी पहलें भी संरक्षण में महत्वपूर्ण हैं। खादी और ग्रामोद्योग बोर्ड, हस्तशिल्प बोर्ड और GI टैग जैसी नीतियों ने केवल शिल्प ही नहीं, बल्कि भोजन और स्थानीय खाद्य उत्पादों की पारंपरिक पहचान को भी संरक्षित किया। उदाहरण के लिए, बंगाल का रसगुल्ला, कोलकाता का मालपुआ और केरल का पोंगल GI टैग के माध्यम से विशिष्टता और गुणवत्ता सुनिश्चित करते हैं। यह कदम पारंपरिक व्यंजनों को बाजार और वैश्विक मंच पर

पहचान दिलाने के साथ उनकी सांस्कृतिक धरोहर को भी संरक्षित करता है।

आधुनिकता के प्रभाव में भी पारंपरिक भोजन ने अपना संतुलन बनाए रखा है। फ्यूज़न फूड, हेल्थ-कॉन्सियस रेसिपीज़ और ऑर्गेनिक उत्पादों के बढ़ते चलन ने पुराने व्यंजनों को नया रूप दिया। घरों में शुद्ध और मौसमी भोजन की प्रवृत्ति, स्कूलों और संस्थानों में 'स्वस्थ आहार' कार्यक्रम, और डिजिटल प्लेटफ़ॉर्म्स पर पाक कला के पाठ ने पारंपरिक पाक ज्ञान को जीवित रखा। इस प्रकार आधुनिकता ने संरक्षण के लिए नई संभावनाएँ खोली हैं।

पारंपरिक भोजन का संरक्षण केवल स्वाद और पोषण तक सीमित नहीं है। यह भारतीय समाज की अमूर्त सांस्कृतिक विरासत, स्थानीय जीवनशैली, सामाजिक एकता और पर्यावरणीय संतुलन का प्रतीक है। आधुनिक बाज़ार, तकनीकी नवाचार और वैश्विक पहचान के माध्यम से पारंपरिक पाक परंपराएँ अब नई पीढ़ी तक पहुँच रही हैं। यह सुनिश्चित करता है कि भारतीय भोजन की अमूर्त सांस्कृतिक विरासत न केवल जीवित रहे, बल्कि भविष्य में भी विश्व स्तर पर अपनी विशिष्टता बनाए रखे।

9.10 सारांश

इस इकाई में हमने भारतीय अमूर्त सांस्कृतिक विरासत की पारंपरिक पाक शैली का व्यापक अध्ययन किया। भारत की पाक परंपरा ऐतिहासिक, सामाजिक, धार्मिक और भौगोलिक दृष्टि से अत्यंत विविध और समृद्ध रही है। शाही रसोई परंपरा—मुगल, राजपूत और दक्षिण भारतीय दरबारों की—विलासिता, तकनीक और स्वाद की उत्कृष्टता का प्रतीक रही। ग्रामीण और आदिवासी जीवन में भोजन साधारण और पर्यावरण अनुकूल रहा, जो स्थानीय संसाधनों और मौसमी फसलों पर आधारित था।

औपनिवेशिक काल ने भारतीय पाक परंपरा को प्रभावित किया, विदेशी स्वाद और बाजार की आवश्यकताओं के अनुरूप भोजन में परिवर्तन लाए। स्वतंत्रता के बाद, भारतीय भोजन ने पुनरुत्थान पाया और वैश्विक स्तर पर पहचान बनाई। वैश्वीकरण, शहरीकरण और बाजार ने पारंपरिक भोजन को नए रूप, आधुनिक प्रस्तुति और व्यापक पहुँच दी।

आज भारतीय भोजन न केवल स्वाद और पोषण का माध्यम है, बल्कि सामाजिक, सांस्कृतिक और पर्यावरणीय संदेश भी देता है। पारंपरिक व्यंजनों का संरक्षण, GI टैग, फूड फेस्टिवल और डिजिटल माध्यमों के माध्यम से आधुनिक पीढ़ी तक पहुँचाया जा रहा है। इस प्रकार, भारतीय पाक परंपरा अमूर्त सांस्कृतिक विरासत के महत्वपूर्ण स्तंभों में से एक है, जो अपनी विविधता, लचीलापन और वैश्विक पहचान के माध्यम से जीवित और विकसित हो रही है।

9.11 मुख्य शब्दावली

1. पारंपरिक पाक परंपरा (Traditional Culinary Tradition) – वह भोजन और पकाने की विधियाँ जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती आई हैं।
2. शाही रसोई (Royal Cuisine) – मुगल, राजपूत और दक्षिण भारतीय दरबारों में विकसित भोजन परंपरा।
3. लोक जीवन (Folk Life) – ग्रामीण और आदिवासी समुदायों में दैनिक भोजन और पाक संस्कार।
4. वैश्वीकरण (Globalization) – भारतीय व्यंजनों का अंतरराष्ट्रीय स्तर पर प्रसार और स्वीकृति।
5. GI टैग (Geographical Indication Tag) – विशिष्ट क्षेत्रीय खाद्य उत्पादों की पहचान और संरक्षण।
6. फ्यूज़न फूड (Fusion Food) – पारंपरिक भारतीय व्यंजनों में आधुनिक या विदेशी तत्वों का मिश्रण।
7. स्वस्थ आहार (Healthy Diet) – पोषण, आयुर्वेदिक सिद्धांत और मौसमी उत्पादों पर आधारित भोजन।
8. सांस्कृतिक विविधता (Cultural Diversity) – विभिन्न क्षेत्रीय, धार्मिक और सामाजिक भोजन शैलियों की विविधता।
9. पारंपरिक संरक्षण (Traditional Preservation) – भोजन और पाक ज्ञान की पीढ़ी-दर-पीढ़ी सुरक्षा और पुनरुत्थान।

9.12 अभ्यास प्रश्न

1. भारतीय पारंपरिक पाक परंपरा के मुख्य तत्व क्या हैं?
2. मुगल, राजपूत और दक्षिण भारतीय दरबारों की शाही रसोई परंपरा में प्रमुख विशेषताएँ क्या थीं?
3. ग्रामीण और आदिवासी समुदायों में भोजन की भूमिका किस प्रकार सामाजिक और पर्यावरणीय दृष्टि से महत्वपूर्ण रही है?
4. औपनिवेशिक काल में भारतीय भोजन पर कौन-कौन से परिवर्तन हुए और उनका प्रभाव किस प्रकार पड़ा?
5. स्वतंत्रता के बाद भारतीय भोजन के पुनरुत्थान और वैश्विक प्रसार के प्रमुख कारण क्या हैं?
6. आधुनिक बाजार और तकनीकी नवाचार ने पारंपरिक भोजन के संरक्षण में कैसे योगदान दिया है?
7. GI टैग का भारतीय व्यंजनों के संरक्षण में क्या महत्व है?
8. भारतीय पाक परंपरा का वैश्वीकरण किस प्रकार भारतीय संस्कृति का प्रचार करता है?

9. "फ्यूज़न फूड" और पारंपरिक भोजन के बीच संतुलन बनाए रखने के लिए क्या कदम उठाए जा सकते हैं?

10. भारतीय भोजन को अमूर्त सांस्कृतिक विरासत के रूप में क्यों माना जाता है?

9.13 संदर्भ ग्रंथ

1. Achaya, K.T. Indian Food: A Historical Companion. Oxford University Press, 1994.
2. Collingham, Lizzie. Curry: A Tale of Cooks and Conquerors. Oxford University Press, 2006.
3. Prakash, Om. The Mughal Cuisine: Courtly and Regional Food Traditions. Delhi: Aryan Books International, 2005.
4. Achaya, K.T. The Story of Our Food. Universities Press, 2003.
5. Raheja, Gloria & Raheja, Peter. The Indian Kitchen: Heritage and Innovations. HarperCollins India, 2012.
6. Kurian, Sangeeta. Culinary Traditions in Contemporary India. Routledge, 2018.
7. Sen, Colleen Taylor. Feasts and Fasts: A History of Food in India. Reprint, Penguin, 2015.
8. Achaya, K.T. Food in Medieval India: A Historical Survey. Oxford University Press, 1998.
9. Dalal, Tarla. The Complete Indian Regional Cookbook. Sanjay & Co., 2010.
10. Raghavan, S. From Curry to Kheer: Indian Culinary History in the Modern Era. Penguin India, 2017.

इकाई दस

भारत की अमूर्त सांस्कृतिक विरासत - मार्शल आर्ट

10.0 प्रस्तावना

10.1 उद्देश्य

10.2 भारत की मार्शल आर्ट परंपरा : एक ऐतिहासिक अवलोकन

10.2.1 मार्शल आर्ट की अवधारणा

10.2.2 प्राचीन भारत में युद्ध-कला का विकास

10.2.3 धार्मिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक आयाम

10.3 भारत की प्रमुख मार्शल आर्ट परंपराएँ

10.3.1 कलारीपयट्टु (केरल)

10.3.2 सिलंबम (तमिलनाडु)

10.3.3 थांग-टा (मणिपुर)

10.3.4 गतका (पंजाब)

10.3.5 कुश्ती/मल्लयुद्ध (भारत के विभिन्न क्षेत्र)

10.3.6 पारंपरिक लाठी-कला (उत्तर भारत)

10.3.7 चाऊ (झारखंड, ओडिशा, पश्चिम बंगाल) का युद्ध-आधारित नृत्य

10.3.8 अन्य क्षेत्रीय युद्ध कलाएँ

10.4 मार्शल आर्ट और भारतीय समाज

10.4.1 पारंपरिक गुरु-शिष्य परम्परा

10.4.2 मार्शल आर्ट और लोक-जीवन

10.4.3 त्यौहारों, अनुष्ठानों एवं प्रदर्शन परम्पराओं से संबंध

10.5 मार्शल आर्ट का शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक पक्ष

10.5.1 स्वास्थ्य एवं शारीरिक दक्षता

10.5.2 मानसिक संतुलन, ध्यान और अनुशासन

10.5.3 योग और मार्शल आर्ट का संबंध

10.6 आधुनिक भारत में मार्शल आर्ट की स्थिति

10.6.1 संस्थागत संरक्षण

10.6.2 राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय पहचान

10.6.3 समकालीन चुनौतियाँ

10.7 यूनेस्को द्वारा मान्यता प्राप्त भारतीय मार्शल आर्ट एवं उनसे जुड़ी परंपराएँ

10.8 सारांश

10.9 प्रमुख शब्दावली

10.10 अभ्यास प्रश्न

10.11 संदर्भ-ग्रंथ सूची

10.0 प्रस्तावना

भारत की अमूर्त सांस्कृतिक विरासत में मार्शल आर्ट का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है। ये केवल युद्ध-कौशल या आत्मरक्षा की तकनीकें नहीं हैं, बल्कि भारतीय समाज की ऐतिहासिक स्मृति, सांस्कृतिक मूल्यों और जीवन-दर्शन की वाहक भी हैं। प्राचीन काल से ही युद्ध-कला ने समाज की सुरक्षा, राजनीतिक संरचना और सामाजिक प्रतिष्ठा को आकार दिया है। मार्शल आर्ट परंपराएँ शारीरिक शक्ति के साथ-साथ मानसिक संतुलन, अनुशासन और नैतिकता पर बल देती हैं। इनमें गुरु-शिष्य परम्परा के माध्यम से ज्ञान का हस्तांतरण होता रहा है, जिससे पीढ़ी-दर-पीढ़ी सांस्कृतिक निरंतरता बनी रही। यह परंपरा केवल सैनिक वर्ग तक सीमित नहीं थी, बल्कि ग्रामीण और लोक-जीवन का भी अभिन्न अंग थी।

भारत की विविधता उसके युद्ध-कौशलों में भी परिलक्षित होती है। भौगोलिक परिस्थितियों, सामाजिक संरचना और धार्मिक विश्वासों के अनुसार विभिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग मार्शल आर्ट विकसित हुईं। केरल का कलारीपयट्टु, तमिलनाडु का सिलंबम या मणिपुर का थांग-टा सभी अपनी विशिष्ट पहचान रखते हैं। औपनिवेशिक काल में आधुनिक हथियारों और प्रशासनिक नीतियों के कारण पारंपरिक मार्शल आर्ट का ह्रास हुआ, किंतु लोक-परंपराओं और अनुष्ठानों के माध्यम से ये जीवित रहीं। स्वतंत्रता के बाद इनके पुनरुद्धार के प्रयास प्रारंभ हुए, जिनका उद्देश्य सांस्कृतिक धरोहर का संरक्षण था। आज के संदर्भ में मार्शल आर्ट को अमूर्त सांस्कृतिक विरासत के रूप में समझना आवश्यक है, क्योंकि यह केवल अतीत की स्मृति नहीं, बल्कि वर्तमान और भविष्य की सांस्कृतिक पहचान से भी जुड़ी हुई है।

10.1 उद्देश्य

इस इकाई का प्रमुख उद्देश्य:-

- छात्रों को भारत की मार्शल आर्ट परंपराओं से परिचित कराना है। इसके माध्यम से वे समझ सकेंगे कि युद्ध-कला भारतीय सांस्कृतिक ढांचे का अभिन्न हिस्सा कैसे रही है।

- मार्शल आर्ट के ऐतिहासिक विकास और सामाजिक भूमिका का विश्लेषण करना है। इससे छात्र यह जान पाएँगे कि किस प्रकार इन कलाओं ने समाज में अनुशासन, साहस और सामूहिक चेतना को विकसित किया।
- विभिन्न क्षेत्रीय मार्शल आर्ट परंपराओं की विविधता को रेखांकित करना है। इससे भारत की सांस्कृतिक बहुलता और स्थानीय परंपराओं के महत्व को समझने में सहायता मिलती है।
- मार्शल आर्ट के शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक पक्षों का अध्ययन करना है, जिससे समग्र व्यक्तित्व विकास की अवधारणा स्पष्ट हो।
- आधुनिक संदर्भ में मार्शल आर्ट के संरक्षण और संवर्धन की आवश्यकता पर विचार करना है, ताकि छात्र सांस्कृतिक विरासत के प्रति जिम्मेदार नागरिक बन सकें।

10.2 भारत की मार्शल आर्ट परंपरा: एक ऐतिहासिक अवलोकन

भारत में मार्शल आर्ट का इतिहास अत्यंत प्राचीन है। वैदिक और उत्तर-वैदिक साहित्य में युद्ध-कौशल, अस्त्र-शस्त्र और सैनिक प्रशिक्षण के उल्लेख मिलते हैं। यह दर्शाता है कि युद्ध-कला केवल हिंसा का साधन नहीं, बल्कि सामाजिक व्यवस्था का अंग थी। महाकाव्य काल में रामायण और महाभारत जैसे ग्रंथों में धनुर्विद्या, गदायुद्ध और तलवारबाजी का विस्तृत वर्णन मिलता है। इन ग्रंथों में युद्ध को धर्म और न्याय से जोड़ा गया, जिससे मार्शल आर्ट को नैतिक आधार प्राप्त हुआ। मौर्य और गुप्त काल में संगठित सेनाओं के विकास के साथ युद्ध-कला का संस्थागत स्वरूप उभरा। इस काल में प्रशिक्षण केंद्रों और अखाड़ों की स्थापना हुई, जहाँ सैनिकों और योद्धाओं को प्रशिक्षित किया जाता था। मध्यकाल में क्षेत्रीय राज्यों के उदय के साथ स्थानीय मार्शल आर्ट परंपराएँ विकसित हुईं। राजपूत, मराठा और सिख योद्धाओं की युद्ध-कला ने क्षेत्रीय पहचान को मजबूत किया। औपनिवेशिक काल में पारंपरिक मार्शल आर्ट को हतोत्साहित किया गया, फिर भी ग्रामीण समाज और लोक-उत्सवों के माध्यम से यह परंपरा जीवित रही।

10.2.1 मार्शल आर्ट की अवधारणा

मार्शल आर्ट का तात्पर्य संगठित युद्ध-कौशल से है, जिसमें शारीरिक प्रशिक्षण, हथियारों का प्रयोग और रणनीतिक सोच शामिल होती है। भारतीय संदर्भ में यह अवधारणा केवल शारीरिक संघर्ष तक सीमित नहीं रही। यह कला आत्मरक्षा, आत्मानुशासन और आत्मविकास से जुड़ी हुई है। प्राचीन भारतीय चिंतन में शरीर और मन की एकता पर बल दिया गया, जो मार्शल आर्ट में स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। मार्शल आर्ट को जीवन-कला के रूप में भी देखा गया, जहाँ साहस, धैर्य और नैतिकता का समन्वय होता है। इस कला के अंतर्गत गुरु शिष्य को केवल तकनीक ही नहीं, बल्कि जीवन-मूल्य भी सिखाता है।

भारतीय परंपरा में युद्ध को अंतिम विकल्प माना गया, इसलिए मार्शल आर्ट का उद्देश्य छात्रों को संतुलन और आत्म-नियंत्रण सिखाना था। इस प्रकार, मार्शल आर्ट की अवधारणा भारतीय सांस्कृतिक दर्शन से गहराई से जुड़ी हुई है।

10.2.2 प्राचीन भारत में युद्ध-कला का विकास

प्राचीन भारत में युद्ध-कला का विकास सामाजिक और राजनीतिक आवश्यकताओं से जुड़ा था। जनपदों और महाजनपदों के उदय के साथ ही संगठित सैन्य शक्ति की आवश्यकता पर जोर देना आवश्यक हो चला था। गुरुकुल प्रणाली में राजकुमारों और योद्धाओं को शारीरिक प्रशिक्षण दिया जाता था। इसमें धनुर्विद्या, तलवारबाजी और घुड़सवारी शामिल थी। अर्थशास्त्र जैसे ग्रंथों में सैन्य संगठन और प्रशिक्षण के नियमों का उल्लेख मिलता है। इससे युद्ध-कला के वैज्ञानिक स्वरूप का संकेत मिलता है। बौद्ध और जैन परंपराओं में अहिंसा पर बल दिया गया, फिर भी आत्मरक्षा के लिए युद्ध-कौशल को स्वीकार किया गया। इस प्रकार, प्राचीन भारत में युद्ध-कला का विकास संतुलित और नैतिक दृष्टिकोण के साथ हुआ।

10.2.3 धार्मिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक आयाम

मार्शल आर्ट का संबंध भारतीय धर्म और संस्कृति से गहरा रहा है। इस भारत भूमि की अनेक युद्ध-कलाएँ देवी-देवताओं की उपासना से प्रारंभ होती हैं। कई क्षेत्रों में योद्धाओं को धार्मिक अनुष्ठानों के माध्यम से प्रशिक्षित किया जाता था, जिससे उनमें नैतिक अनुशासन विकसित हो। सामाजिक रूप से मार्शल आर्ट ने सामुदायिक सुरक्षा और एकता को मजबूत किया। गांवों में लाठी-कला और अखाड़े सामाजिक मेलजोल के केंद्र हुआ करते थे। लोक-कथाओं और गीतों में वीरता और युद्ध-कौशल का महिमामंडन किया गया है। इस प्रकार, मार्शल आर्ट प्रारंभ से ही धार्मिक, सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन का अभिन्न अंग रही है।

10.3 भारत की प्रमुख मार्शल आर्ट परंपराएँ

भारत में विविध मार्शल आर्ट परंपराएँ पाई जाती हैं, जो क्षेत्रीय विशेषताओं को दर्शाती हैं। प्रत्येक परंपरा का अपना इतिहास और तकनीक है। ये परंपराएँ स्थानीय संसाधनों और जीवन-शैली से जुड़ी हुई हैं। हथियारों का चयन भी भौगोलिक परिस्थितियों पर निर्भर करता था। यह सभी मार्शल आर्ट परंपराएँ केवल युद्ध तक सीमित नहीं थीं, बल्कि नृत्य और प्रदर्शन कला से भी जुड़ी रहीं। इन परंपराओं के माध्यम से सामाजिक अनुशासन और सांस्कृतिक पहचान को बल मिला। आज ये परंपराएँ भारत की अमूर्त सांस्कृतिक विरासत का महत्वपूर्ण हिस्सा हैं।

10.3.1 कलारीपयट्टु (केरल)

कलारीपयट्टु को भारत की प्राचीनतम मार्शल आर्ट परंपराओं में से एक माना जाता है। इसका विकास केरल के सामाजिक और भौगोलिक परिवेश में हुआ, जहाँ शारीरिक लचीलापन और तीव्र गति विशेष महत्व रखते थे। इस युद्ध-कला में शारीरिक व्यायाम, निहत्थे युद्ध और हथियारों के प्रयोग का क्रमबद्ध प्रशिक्षण दिया जाता है। इसमें शरीर को औषधीय तेलों से तैयार करना और उपचारात्मक ज्ञान भी शामिल है, जिससे यह एक समग्र प्रणाली बन जाती है। कलारीपयट्टु का संबंध धार्मिक विश्वासों से भी है। प्रशिक्षण से पूर्व देवी-देवताओं की पूजा और गुरु के प्रति सम्मान इस परंपरा के सांस्कृतिक पक्ष को सुदृढ़ करता है।

10.3.2 सिलंबम (तमिलनाडु)

सिलंबम तमिलनाडु की एक प्राचीन लाठी-आधारित मार्शल आर्ट है, जिसका उल्लेख संगम साहित्य में मिलता है। यह कला स्थानीय संसाधनों और ग्रामीण जीवन से जुड़ी हुई है। इस परंपरा में मुख्य रूप से बाँस या लकड़ी की लाठी का प्रयोग किया जाता है। इसके माध्यम से शारीरिक संतुलन, त्वरित प्रतिक्रिया और रणनीतिक सोच विकसित होती है। सिलंबम ने तमिल समाज में सामुदायिक सुरक्षा और आत्मरक्षा की भावना को प्रोत्साहित किया तथा लोक-उत्सवों और प्रदर्शन परंपराओं के माध्यम से यह आज भी जीवित है।

10.3.3 थांग-टा (मणिपुर)

थांग-टा मणिपुर की पारंपरिक मार्शल आर्ट है, जिसमें तलवार और भाले का प्रयोग प्रमुख है। इसका विकास क्षेत्रीय युद्ध इतिहास और जनजातीय परंपराओं से जुड़ा हुआ है। यह कला शारीरिक शक्ति के साथ मानसिक एकाग्रता और अनुशासन पर भी बल देती है। प्रशिक्षण में नृत्यात्मक तत्वों का समावेश इसे सांस्कृतिक दृष्टि से विशिष्ट बनाता है। थांग-टा का प्रदर्शन धार्मिक अनुष्ठानों और उत्सवों में किया जाता है, जिससे यह मणिपुरी समाज की सांस्कृतिक पहचान का अभिन्न अंग बन गई है।

10.3.4 गतका (पंजाब)

गतका पंजाब की पारंपरिक मार्शल आर्ट है, जिसका विकास सिख योद्धा परंपरा के साथ हुआ। यह आत्मरक्षा और सामूहिक सुरक्षा की भावना से जुड़ी हुई है। इस कला में तलवार, ढाल और लाठी का प्रयोग किया जाता है। प्रशिक्षण में शारीरिक फुर्ती और साहस को विशेष महत्व दिया जाता है। आज गतका धार्मिक जुलूसों और सांस्कृतिक आयोजनों में प्रदर्शित की जाती है, जिससे यह सिख सांस्कृतिक विरासत का प्रतीक बन गई है।

10.3.5 कुश्ती/मल्लयुद्ध

कुश्ती या मल्लयुद्ध भारत की प्राचीनतम युद्ध-कलाओं में से एक है, जिसका उल्लेख वैदिक और महाकाव्य साहित्य में मिलता है। यह अखाड़ा संस्कृति से गहराई से जुड़ी हुई है। इस कला में शारीरिक शक्ति, सहनशक्ति और अनुशासन पर विशेष बल दिया जाता है। नियमित व्यायाम और आहार अनुशासन इसका महत्वपूर्ण अंग है। मल्लयुद्ध ने भारतीय समाज में शारीरिक स्वास्थ्य और नैतिक दृढ़ता के आदर्श को स्थापित किया है।

10.3.6 पारंपरिक लाठी-कला (उत्तर भारत)

उत्तर भारत में पारंपरिक लाठी-कला ग्रामीण समाज की आत्मरक्षा प्रणाली के रूप में विकसित हुई। इसका प्रयोग सामुदायिक सुरक्षा के लिए किया जाता था। इस कला में सरल हथियार के माध्यम से प्रभावी युद्ध-कौशल सिखाया जाता है। यह ग्रामीण जीवन की व्यावहारिक आवश्यकताओं से जुड़ी रही है। लाठी-कला आज भी मेलों और लोक-प्रदर्शनों के माध्यम से सांस्कृतिक परंपरा के रूप में जीवित है।

10.3.7 छऊ का युद्ध-आधारित नृत्य

छऊ नृत्य झारखंड, ओडिशा और पश्चिम बंगाल में प्रचलित है, जिसमें युद्ध-कला के तत्व नृत्य के रूप में प्रस्तुत होते हैं। इसमें मुखौटे, शारीरिक मुद्राएँ और युद्ध-चाल का समावेश होता है, जो इसे विशिष्ट बनाता है। छऊ नृत्य ने युद्ध-कौशल को सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का रूप देकर समाज में संरक्षित रखा है।

10.3.8 अन्य क्षेत्रीय युद्ध कलाएँ

भारत के विभिन्न भागों में अनेक अन्य क्षेत्रीय युद्ध-कलाएँ भी विकसित हुई हैं, जैसे बिहार की पैका और महाराष्ट्र का मर्दानी खेल। ये परंपराएँ स्थानीय इतिहास और सामाजिक संरचना से जुड़ी हुई हैं। इन कलाओं का संरक्षण भारत की सांस्कृतिक विविधता को समझने के लिए आवश्यक है।

10.4 मार्शल आर्ट और भारतीय समाज

मार्शल आर्ट का भारतीय समाज से संबंध केवल युद्ध या आत्मरक्षा तक सीमित नहीं रहा है, बल्कि यह सामाजिक संगठन, नैतिक मूल्यों और सामुदायिक जीवन से गहराई से जुड़ा रहा है। विभिन्न कालखंडों में इन कलाओं ने समाज को अनुशासन, साहस और सामूहिक उत्तरदायित्व की भावना प्रदान की। भारतीय समाज में मार्शल आर्ट ने सामाजिक भूमिकाओं और प्रतिष्ठा को भी प्रभावित किया। योद्धा वर्गों के साथ-साथ कृषक और ग्रामीण समुदायों ने भी इन कलाओं को अपनाया, जिससे समाज में सुरक्षा और आत्मनिर्भरता की भावना विकसित हुई। इन परंपराओं के माध्यम से पीढ़ियों के बीच ज्ञान का हस्तांतरण हुआ। मौखिक परंपरा, अभ्यास और प्रदर्शन के द्वारा मार्शल आर्ट सामाजिक स्मृति का हिस्सा बन गई। मार्शल आर्ट ने सामाजिक एकता को मजबूत किया। अखाड़े और प्रशिक्षण स्थल

सामुदायिक मेलजोल के केंद्र बने, जहाँ जाति और वर्ग से परे साझा अभ्यास संभव हुआ। समकालीन समाज में भी मार्शल आर्ट सामाजिक अनुशासन, स्वास्थ्य और सांस्कृतिक पहचान के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही हैं।

10.4.1 पारंपरिक गुरु-शिष्य परम्परा

भारतीय मार्शल आर्ट की शिक्षा गुरु-शिष्य परम्परा पर आधारित रही है। इस प्रणाली में गुरु केवल तकनीकी प्रशिक्षण ही नहीं देता, बल्कि नैतिक और आध्यात्मिक मार्गदर्शन भी प्रदान करता है। शिष्य गुरु के सान्निध्य में रहकर अनुशासन, संयम और सेवा का भाव सीखता है। यह शिक्षा प्रणाली दीर्घकालिक और अनुभव-आधारित होती थी। इस परम्परा ने मार्शल आर्ट को केवल कौशल नहीं, बल्कि जीवन-दर्शन के रूप में स्थापित किया।

10.4.2 मार्शल आर्ट और लोक-जीवन

मार्शल आर्ट भारतीय लोक-जीवन का अभिन्न अंग रही है। ग्रामीण समाज में लाठी-कला, कुश्ती और अन्य युद्ध-कौशल दैनिक जीवन की आवश्यकताओं से जुड़े थे। लोक-गीतों, कथाओं और कहावतों में वीरता और युद्ध-कौशल का चित्रण मिलता है, जिससे इन कलाओं की सामाजिक स्वीकृति स्पष्ट होती है। इस प्रकार मार्शल आर्ट लोक-संस्कृति के माध्यम से समाज में जीवंत बनी रही।

10.4.3 त्यौहारों, अनुष्ठानों एवं प्रदर्शन परम्पराओं से संबंध

मार्शल आर्ट का संबंध भारतीय त्यौहारों और अनुष्ठानों से भी रहा है। अनेक अवसरों पर इन कलाओं का प्रदर्शन सांस्कृतिक उत्सवों का प्रमुख आकर्षण होता है। धार्मिक अनुष्ठानों में युद्ध-कला के प्रदर्शन को शुभ और संरक्षणकारी माना जाता है। इससे कला को आध्यात्मिक मान्यता प्राप्त होती है। प्रदर्शन परम्पराओं के माध्यम से मार्शल आर्ट ने अपनी निरंतरता और सामाजिक प्रासंगिकता बनाए रखी है।

10.5 मार्शल आर्ट का शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक पक्ष

मार्शल आर्ट भारतीय परंपरा में समग्र व्यक्तित्व विकास की एक सशक्त प्रणाली रही है, जिसमें शरीर, मन और आत्मा- तीनों के संतुलन पर बल दिया गया है। प्रशिक्षण की प्रक्रियाएँ केवल शक्ति-वर्धन तक सीमित न होकर सहनशक्ति, लचीलापन और समन्वय को विकसित करती हैं। इस कला में शारीरिक अभ्यास के साथ मानसिक अनुशासन को अनिवार्य माना गया है। नियमित अभ्यास, श्वास-नियंत्रण और एकाग्रता के माध्यम से साधक अपने भीतर स्थिरता और सजगता विकसित करता है।

आध्यात्मिक दृष्टि से भी मार्शल आर्ट आत्म-नियंत्रण और करुणा का बोध कराती है। इस कला में युद्ध-कौशल का प्रयोग अंतिम विकल्प के रूप में करने की शिक्षा दी जाती है, जिससे नैतिक विवेक का विकास होता है। भारतीय दर्शन में शरीर को साधना का माध्यम माना गया है। इसी कारण मार्शल आर्ट में साधना, अनुशासन और सेवा-

भाव का समावेश दिखाई देता है। समकालीन संदर्भ में भी यह समग्र दृष्टिकोण प्रासंगिक है, क्योंकि यह स्वास्थ्य, मानसिक संतुलन और नैतिकता; तीनों को एक साथ संबोधित करता है।

10.5.1 स्वास्थ्य एवं शारीरिक दक्षता

मार्शल आर्ट का नियमित अभ्यास शारीरिक स्वास्थ्य को सुदृढ़ करता है। इससे मांसपेशीय शक्ति, हृदय, श्वसन क्षमता और शारीरिक लचीलापन विकसित होता है। विविध अभ्यास-क्रमों के कारण शरीर के सभी अंग सक्रिय रहते हैं, जिससे समग्र फिटनेस में वृद्धि होती है। पारंपरिक तेल-मालिश और व्यायाम पद्धतियाँ चोट-निवारण में सहायक होती हैं। इस प्रकार मार्शल आर्ट शारीरिक दक्षता को बढ़ाने के साथ दीर्घकालिक स्वास्थ्य लाभ प्रदान करती है।

10.5.2 मानसिक संतुलन, ध्यान और अनुशासन

मार्शल आर्ट में मानसिक संतुलन को अत्यधिक महत्व दिया गया है। अभ्यास के दौरान ध्यान, श्वास-नियंत्रण और एकाग्रता पर बल दिया जाता है। नियमित प्रशिक्षण से तनाव-नियंत्रण, आत्मविश्वास और निर्णय-क्षमता का विकास होता है। इस कला के साधक विपरीत परिस्थितियों में भी संयम बनाए रखना सीखता है। यह मानसिक अनुशासन जीवन के अन्य क्षेत्रों यथा- शिक्षा, कार्य और सामाजिक संबंधों में भी सकारात्मक प्रभाव डालता है।

10.5.3 योग और मार्शल आर्ट का संबंध

योग और मार्शल आर्ट का संबंध भारतीय परंपरा में स्वाभाविक रूप से विकसित हुआ है। दोनों में श्वास, आसन और ध्यान की केंद्रीय भूमिका है। योगाभ्यास से शरीर की लचीलापन और मानसिक स्थिरता बढ़ती है, जो मार्शल आर्ट के प्रशिक्षण को प्रभावी बनाती है। इस समन्वय के माध्यम से साधक शारीरिक कौशल के साथ आत्मिक संतुलन भी प्राप्त करता है, जो भारतीय सांस्कृतिक दृष्टि का मूल तत्व है।

10.6 आधुनिक भारत में मार्शल आर्ट की स्थिति

आधुनिक भारत में मार्शल आर्ट की स्थिति परंपरा और आधुनिकता के बीच संतुलन का उदाहरण प्रस्तुत करती है। एक ओर ये कलाएँ अपनी ऐतिहासिक जड़ों और सांस्कृतिक मूल्यों को संरक्षित किए हुए हैं, वहीं दूसरी ओर आधुनिक खेल, फिटनेस और आत्मरक्षा के रूप में नए स्वरूप ग्रहण कर रही हैं। इस परिवर्तन ने मार्शल आर्ट को व्यापक सामाजिक स्वीकार्यता प्रदान की है।

स्वतंत्रता के बाद राष्ट्रीय पहचान के पुनर्निर्माण के साथ पारंपरिक मार्शल आर्ट के पुनरुद्धार के प्रयास तेज हुए। राज्यों द्वारा स्थानीय युद्ध-कलाओं को सांस्कृतिक धरोहर के रूप में मान्यता दी गई, जिससे इनके संरक्षण को बल मिला। शहरीकरण और वैश्वीकरण के प्रभाव में मार्शल आर्ट के प्रशिक्षण के तरीके भी बदले हैं। अब पारंपरिक अखाड़ों के साथ-साथ आधुनिक प्रशिक्षण संस्थान और अकादमियाँ भी उभर रही हैं। मीडिया और डिजिटल मंचों ने भी इन

कलाओं के प्रचार-प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। वृत्तचित्र, प्रतियोगिताएँ और सांस्कृतिक कार्यक्रम मार्शल आर्ट को नई पीढ़ी तक पहुँचा रहे हैं। इस प्रकार आधुनिक भारत में मार्शल आर्ट एक जीवंत परंपरा के रूप में विकसित हो रही हैं, जो अतीत से जुड़ी होने के साथ भविष्य की आवश्यकताओं को भी संबोधित करती हैं।

10.6.1 संस्थागत संरक्षण

भारत में मार्शल आर्ट के संरक्षण में सरकारी और गैर-सरकारी संस्थाओं की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। विभिन्न सांस्कृतिक अकादमियाँ और खेल परिषदें इन कलाओं के प्रशिक्षण और प्रदर्शन को प्रोत्साहित करती हैं। विद्यालयों और विश्वविद्यालयों में पाठ्येतर गतिविधियों के रूप में मार्शल आर्ट को शामिल किया जा रहा है। इससे युवाओं में शारीरिक दक्षता के साथ सांस्कृतिक जागरूकता भी विकसित होती है। संस्थागत संरक्षण के माध्यम से पारंपरिक ज्ञान का दस्तावेजीकरण और प्रशिक्षण की निरंतरता सुनिश्चित की जा रही है।

10.6.2 राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय पहचान

भारतीय मार्शल आर्ट को राष्ट्रीय स्तर पर सांस्कृतिक उत्सवों और खेल आयोजनों में स्थान मिल रहा है। इससे इनकी पहचान केवल क्षेत्रीय न रहकर राष्ट्रीय बन रही है। अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर भी भारतीय युद्ध-कलाओं का प्रदर्शन हो रहा है, जिससे वैश्विक स्तर पर भारतीय संस्कृति की पहचान सुदृढ़ होती है। इस वैश्विक संवाद ने मार्शल आर्ट को सांस्कृतिक कूटनीति का माध्यम भी बना दिया है।

10.6.3 समकालीन चुनौतियाँ

आधुनिक जीवन-शैली और तकनीकी बदलावों के कारण पारंपरिक मार्शल आर्ट के समक्ष कई चुनौतियाँ हैं। युवाओं का झुकाव आधुनिक खेलों की ओर अधिक देखा जाता है। प्रशिक्षित गुरुओं की कमी और आर्थिक संसाधनों का अभाव भी इन परंपराओं के संरक्षण में बाधक है। इन चुनौतियों के बावजूद, जागरूकता और नीतिगत समर्थन से मार्शल आर्ट के भविष्य को सुरक्षित किया जा सकता है।

10.7 यूनेस्को द्वारा मान्यता प्राप्त भारतीय मार्शल आर्ट एवं उनसे जुड़ी परंपराएँ

यूनेस्को द्वारा अमूर्त सांस्कृतिक विरासत की अवधारणा ने विश्व समुदाय का ध्यान जीवित परंपराओं, कौशलों और सामाजिक प्रथाओं की ओर आकर्षित किया है। भारतीय मार्शल आर्ट भी इसी व्यापक सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य का हिस्सा हैं, क्योंकि ये केवल शारीरिक अभ्यास नहीं बल्कि समुदायों की ऐतिहासिक स्मृति और पहचान से जुड़ी हुई हैं।

यद्यपि वर्तमान में किसी विशिष्ट भारतीय मार्शल आर्ट को स्वतंत्र रूप से यूनेस्को की अमूर्त विरासत सूची में सीधे दर्ज नहीं किया गया है, फिर भी उनसे संबंधित प्रदर्शन परंपराएँ, अनुष्ठान और प्रशिक्षण प्रणालियाँ अप्रत्यक्ष रूप से इस अवधारणा के अंतर्गत आती हैं। उदाहरणस्वरूप, छऊ नृत्य जैसी युद्ध-आधारित प्रदर्शन कलाओं को यूनेस्को

द्वारा मान्यता प्राप्त है, जिनमें मार्शल आर्ट के तत्व स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं। यूनेस्को की मान्यता का मूल उद्देश्य केवल संरक्षण नहीं, बल्कि समुदाय-आधारित निरंतरता को सुनिश्चित करना है। इस दृष्टि से मार्शल आर्ट परंपराएँ अत्यंत महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि इनका अस्तित्व गुरु-शिष्य परम्परा, लोक-उत्सवों और सामूहिक अभ्यास पर आधारित रहा है। इस वैश्विक मान्यता ने भारतीय मार्शल आर्ट के प्रति अकादमिक रुचि को भी बढ़ावा दिया है। शोध, प्रलेखन और सांस्कृतिक विनिमय कार्यक्रमों के माध्यम से इन परंपराओं को अंतर्राष्ट्रीय मंच पर प्रस्तुत करने के अवसर प्राप्त हुए हैं। अतः यूनेस्को की अवधारणा के संदर्भ में भारतीय मार्शल आर्ट को एक जीवित सांस्कृतिक विरासत के रूप में समझना आवश्यक है, जिनका संरक्षण समुदाय, राज्य और अंतर्राष्ट्रीय सहयोग से संभव है।

10.8 सारांश

प्रस्तुत इकाई में भारत की मार्शल आर्ट परंपराओं को अमूर्त सांस्कृतिक विरासत के व्यापक संदर्भ में समझने का प्रयास किया गया है। प्रस्तावना से लेकर आधुनिक स्थिति तक, यह स्पष्ट किया गया है कि युद्ध-कला भारतीय समाज की ऐतिहासिक और सांस्कृतिक संरचना का अभिन्न अंग रही है। इकाई में यह रेखांकित किया गया कि भारत की मार्शल आर्ट परंपराएँ क्षेत्रीय विविधताओं के साथ विकसित हुईं और स्थानीय समाज की आवश्यकताओं, विश्वासों और जीवन-शैली से गहराई से जुड़ी रहीं। इन परंपराओं ने शारीरिक प्रशिक्षण के साथ नैतिकता और अनुशासन को भी महत्व दिया। मार्शल आर्ट के सामाजिक, मानसिक और आध्यात्मिक पक्षों का विश्लेषण यह दर्शाता है कि ये कलाएँ समग्र व्यक्तित्व विकास की प्रणाली के रूप में कार्य करती हैं। योग, ध्यान और गुरु-शिष्य परम्परा के माध्यम से इनका दार्शनिक आधार सुदृढ़ हुआ। आधुनिक भारत में मार्शल आर्ट की स्थिति पर चर्चा करते हुए यह स्पष्ट किया गया कि संस्थागत संरक्षण, मीडिया और वैश्विक मंचों ने इनके पुनरुद्धार में योगदान दिया है, यद्यपि समकालीन चुनौतियाँ अभी भी विद्यमान हैं। अंततः, यह इकाई इस निष्कर्ष पर पहुँचती है कि भारतीय मार्शल आर्ट केवल अतीत की धरोहर नहीं, बल्कि वर्तमान और भविष्य की सांस्कृतिक पहचान का महत्वपूर्ण आधार हैं, जिनका संरक्षण और संवर्धन सामूहिक दायित्व है।

10.9 प्रमुख शब्दावली

- मार्शल आर्ट: युद्ध एवं आत्मरक्षा से संबंधित संगठित कौशल
- अमूर्त सांस्कृतिक विरासत: जीवित सांस्कृतिक परंपराएँ
- गुरु-शिष्य परम्परा: पारंपरिक शिक्षण व्यवस्था

10.10 अभ्यास प्रश्न

1. भारत की मार्शल आर्ट परंपराओं को अमूर्त सांस्कृतिक विरासत के रूप में स्पष्ट कीजिए।

2. आधुनिक भारत में मार्शल आर्ट के संरक्षण की चुनौतियों पर चर्चा कीजिए।
3. मार्शल आर्ट के शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक पक्षों का विश्लेषण कीजिए।

10.11 संदर्भ-ग्रंथ सूची

- IGNOU अध्ययन सामग्री: भारतीय सांस्कृतिक विरासत
- के.एल. खुराना, भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता
- एन.एन. भट्टाचार्य, Traditions of Indian Martial Arts
- Chandra, Satish (1996): Medieval Indian, National Council of Educational Research and Training, New Delhi.
- NCERT. (1996): Stary of Civilization, Part-II, National Council of Educational Research and Training, New Delhi.
- Sharma, R.S. (1996): Ancient India, History Textbook-XI, National Council of Educational Research and Training, New Delhi

इकाई ग्यारह

भारत की प्राकृतिक विरासत - राष्ट्रीय उद्यान, अभ्यारण, वन, प्राकृतिक उद्यान, पवित्र उपवन

11.0 प्रस्तावना

11.1 उद्देश्य

11.2 भारत की प्राकृतिक विरासत : अवधारणा और महत्त्व

- 11.2.1 प्राकृतिक विरासत की परिभाषा
- 11.2.2 जैव-विविधता एवं पारिस्थितिकी की दृष्टि से महत्त्व
- 11.2.3 सांस्कृतिक, वैज्ञानिक एवं सामाजिक आयाम

11.3 भारत के वन : प्रकार एवं विशेषताएँ

- 11.3.1 उष्णकटिबंधीय सदाबहार वन
- 11.3.2 पर्णपाती वन
- 11.3.3 पर्वतीय वन
- 11.3.4 शीतोष्ण एवं शंकुधारी वन
- 11.3.5 मरुस्थलीय एवं तटीय वन

11.4 राष्ट्रीय उद्यान (National Parks) एवं वन्यजीव अभ्यारण्य (Wildlife Sanctuaries)

- 11.4.1 राष्ट्रीय उद्यान एवं राष्ट्रीय अभ्यारण्य की अवधारणा
- 11.4.2 भारत में राष्ट्रीय उद्यानों का इतिहास एवं राष्ट्रीय अभ्यारण्य प्रणाली
- 11.4.3 प्रमुख राष्ट्रीय उद्यान एवं प्रमुख राष्ट्रीय अभ्यारण्य
- 11.4.4 संरक्षण एवं प्रबंधन के उपाय
- 11.4.5 वन्यजीव संरक्षण संबंधी नीतियाँ

11.5 प्राकृतिक उद्यान एवं बायोस्फीयर रिज़र्व

- 11.5.1 प्राकृतिक उद्यान की अवधारणा
- 11.5.2 बायोस्फीयर रिज़र्व : उद्देश्य एवं संरचना
- 11.5.3 भारत के प्रमुख बायोस्फीयर रिज़र्व
- 11.5.4 यूनेस्को MAB कार्यक्रम और भारत

11.6 पवित्र उपवन (Sacred Groves)

- 11.6.1 पवित्र उपवन की अवधारणा

11.6.2 धार्मिक एवं सांस्कृतिक महत्व
11.6.3 भारत के प्रमुख पवित्र उपवन
11.6.4 सामुदायिक संरक्षण परंपराएँ
11.7 भारत की प्राकृतिक विरासत के संरक्षण की चुनौतियाँ
11.8 संरक्षण हेतु सरकारी एवं गैर-सरकारी प्रयास
11.9 सारांश
11.10 प्रमुख शब्दावली
11.11 अभ्यास प्रश्न
11.12 संदर्भ

11.0 परिचय

भारत विश्व के उन चुनिंदा देशों में से एक है जहाँ प्राकृतिक विविधता अत्यंत समृद्ध, विस्तृत और जैव-वैज्ञानिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। हिमालय की बर्फ़ से ढकी चोटियों से लेकर पश्चिमी घाट की सदाबहार वनस्पतियों तक, राजस्थान के विशाल मरुस्थल से लेकर अंडमान-निकोबार के समुद्री द्वीपों तक, भारत का भौगोलिक परिदृश्य प्राकृतिक संसाधनों और जैव-विविधता से समृद्ध है। भारत की यह विविधता केवल भौतिक अथवा जैविक ही नहीं, बल्कि सांस्कृतिक, धार्मिक और मानव-समुदाय के संबंधों से गहराई से जुड़ी हुई है। देश के अनेक वन, पर्वत, जलस्रोत और प्राकृतिक स्थान स्थानीय समुदायों के लिए पूजा, आस्था, जीवनयापन और संतुलन के केंद्र रहे हैं। इसीलिए भारत की प्राकृतिक विरासत केवल प्रकृति का उपहार नहीं, बल्कि मानव और पर्यावरण के सह-अस्तित्व की हजारों वर्षों पुरानी परंपरा का परिणाम है।

प्राकृतिक विरासत का संरक्षण आज वैश्विक पर्यावरणीय संकट, जलवायु परिवर्तन, वन-क्षरण, जैव-विविधता ह्रास और शहरीकरण के बीच अत्यंत महत्वपूर्ण है। भारत ने इस आवश्यकता को समझते हुए अनेक राष्ट्रीय उद्यान, वन्यजीव अभ्यारण्य, प्राकृतिक उद्यान और बायोस्फीयर रिज़र्व स्थापित किए हैं। साथ ही, पवित्र उपवन (Sacred Groves) जैसी प्राचीन सांस्कृतिक परंपराओं ने भी प्रकृति संरक्षण को सामुदायिक एवं धार्मिक आयाम प्रदान किया है।

11.1 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य स्नातक स्तर के विद्यार्थियों को भारत की प्राकृतिक विरासत की अवधारणा, उसके प्रमुख घटकों और संरक्षण संबंधी पहलुओं से परिचित कराना है। इस अध्याय के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित हैं:-

1. प्राकृतिक विरासत की परिभाषा, विस्तार और महत्त्व को समझना।

2. भारत के विविध वन-प्रकारों, राष्ट्रीय उद्यानों, अभ्यारण्यों और बायोस्फीयर रिज़र्व का परिचय देना।

3. प्राकृतिक परिदृश्यों और जैव-विविधता संरक्षण में पवित्र उपवनों और सामुदायिक परंपराओं की भूमिका स्पष्ट करना।

4. वन्यजीव संरक्षण, नीतियों, चुनौतियों और सरकारी/गैर-सरकारी प्रयासों को समझाना।

5. संवहनीय विकास, पर्यावरणीय संतुलन और मानव-प्रकृति संबंधों पर दृष्टिकोण विकसित करना।

11.2 भारत की प्राकृतिक विरासत : अवधारणा और महत्त्व

11.2.1 प्राकृतिक विरासत की परिभाषा

प्राकृतिक विरासत (Natural Heritage) उन प्राकृतिक विशेषताओं, भौगोलिक संरचनाओं, जैव-विविधता, परिदृश्यों और पारिस्थितिक तंत्रों को कहा जाता है जो किसी देश की पहचान, पर्यावरणीय संतुलन और सांस्कृतिक परंपरा का अभिन्न अंग होते हैं। यूनेस्को के अनुसार प्राकृतिक विरासत में उन प्राकृतिक स्थलों और जैव-विविध क्षेत्रों को भी शामिल किया जाता है जिनका वैश्विक संरक्षण मूल्य अत्यधिक है।

11.2.2 जैव-विविधता एवं पारिस्थितिकी की दृष्टि से महत्त्व

भारत पृथ्वी के 12 मेगा-बायोडायवर्सिटी वाले देशों में से एक है। यहाँ लगभग:-

- 450 से अधिक स्तनधारी प्रजातियाँ,
- 1300 पक्षी प्रजातियाँ,
- 25,000 से अधिक पुष्पीय पादप,
- 47,000 से अधिक पौधों की कुल प्रजातियाँ,
- और अनगिनत कीट, उभयचर, सरीसृप एवं समुद्री जीव पाए जाते हैं।

ये प्राकृतिक संसाधन जल चक्र, कार्बन चक्र, मिट्टी संरक्षण, जलवायु नियंत्रण और आजीविका के लिए अत्यंत आवश्यक हैं।

11.2.3 सामाजिक एवं सांस्कृतिक आयाम

भारत में प्रकृति को देवी-देवताओं, लोक-आस्थाओं और धार्मिक परंपराओं से जोड़ा गया है। यहाँ के कई पहाड़ (गिरिराज), नदियाँ (गंगा, यमुना), वन (दक्षिण भारत के देव वन), वृक्ष (बरगद, पीपल, तुलसी) और पशु-पक्षी (गाय, साँप, मोर) धार्मिक प्रतीकों के रूप में पूजे जाते हैं। इससे प्राकृतिक विरासत संरक्षण को लोक-आधार मिलता है।

11.3 भारत के वन: प्रकार एवं विशेषताएँ

भारत के वन विविध जलवायु, स्थलरूप और वर्षा के कारण अत्यंत विविध हैं। भारत विश्व के उन कुछ देशों में से है जहाँ वन–सम्पदा अत्यंत विविध, व्यापक और पारिस्थितिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। देश का लगभग 24% भू-भाग वन क्षेत्र के अंतर्गत आता है। भारत की वनस्पतियों की यह विविधता जलवायु, वर्षा, स्थलाकृति, मिट्टी और ऊँचाई की विविध स्थितियों का परिणाम है। नीचे भारत के मुख्य वन-प्रकारों का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत है।

11.3.1 उष्णकटिबंधीय सदाबहार वन (Tropical Evergreen Forests)

उष्णकटिबंधीय सदाबहार वन भारत की उन प्राकृतिक संपदाओं में शामिल हैं जो अपनी जैव-विविधता, पौधों की सघनता और स्थायी हरियाली के लिए विश्वप्रसिद्ध हैं। ये वन पृथ्वी के सबसे पुराने और विकसित पारिस्थितिक तंत्रों में से एक माने जाते हैं।

विशेषताएँ:

1. ऊँची और घनी वृक्ष-परतें, पेड़ों की ऊँचाई सामान्यतः 45–60 मीटर तक होती है।

   कई परतों वाले छत्र (canopy) के कारण वन भूमि पर सूर्य का प्रकाश बहुत कम पहुँचता है।

2. अत्यधिक वर्षा एवं आर्द्रता: वर्षा 200–300 सेमी से अधिक।

   आर्द्रता पूरे वर्ष 75% से अधिक रहती है।

3. सदाबहार प्रकृति: पेड़ एक साथ पत्ते नहीं गिराते, इसलिए वन पूरे वर्ष हरे बने रहते हैं।

4. अत्यधिक जैव-विविधता: यहाँ अनेक दुर्लभ औषधीय पौधे, लता-बेलें, काई, फर्न तथा फल-फूल वाले वृक्ष पाए जाते हैं।

   जीव-जंतु: हाथी, गौर, बादल तेंदुआ, मलाबार विशाल गिलहरी, अनेक प्रजातियों के पक्षी व सरीसृप।

मुख्य क्षेत्र: पश्चिमी घाट (केरल, कर्नाटक, महाराष्ट्र), अंडमान एवं निकोबार द्वीप समूह, पूर्वोत्तर भारत (मेघालय, नागालैंड, मिज़ोरम, त्रिपुरा)

महत्त्व:

- वर्षा चक्र को नियंत्रित करते हैं।
- कार्बन-संचयन (carbon sequestration) की उच्च क्षमता।
- औषधीय पौधों का महत्त्वपूर्ण स्रोत।
- वैश्विक जैव-विविधता हॉटस्पॉट का भाग।

11.3.2 उष्णकटिबंधीय पर्णपाती वन (Tropical Deciduous Forests)

ये वन भारत में सबसे अधिक पाए जाने वाले वन-प्रकार हैं और वर्षा 100–200 सेमी वाले क्षेत्रों में विकसित होते हैं। पर्णपाती कहलाने का कारण यह है कि पेड़ सूखे मौसम में अपने पत्ते गिरा देते हैं।

विशेषताएँ:

1. मौसमी प्रकृति:

   यह वन वर्षा ऋतु में घने और हरे-भरे होतेहैं

   ये वन शीत व ग्रीष्म ऋतु में पत्ते झड़ जाते हैं

2. दो प्रकार

   आर्द्र पर्णपाती वन – ज्यादा वर्षा वाले क्षेत्र में पाए जाते हैं

   शुष्क पर्णपाती वन – अपेक्षाकृत कम वर्षा वाले क्षेत्र में पाए जाते हैं

3. मुख्य वृक्ष प्रजातियाँ: साल (Shorea robusta), सागौन (Tectona grandis), शीशम, अर्जुन, महुआ इत्यादि

4. वन्यजीव: बाघ, हाथी, गौ-वंश, हिरण, भेड़िया, नीलगाय, वन बिल्ली आदि।

मुख्य क्षेत्र:

मध्य भारत: मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़

उत्तर भारत: बिहार, झारखंड, उत्तर प्रदेश

दक्षिण भारत: तमिलनाडु, तेलंगाना

महत्त्व: वन-उद्योग के लिए महत्वपूर्ण (लकड़ी, गोंद, महुआ, तेंदू पत्ता)।

ग्रामीण आजीविका और वन-उत्पादों का मुख्य स्रोत।

11.3.3 पर्वतीय वन

भारत के हिमालय और दक्षिण भारत के ऊँचे पर्वतीय क्षेत्रों में पर्वतीय वन पाए जाते हैं। ऊँचाई के अनुसार वन संरचना बदलती रहती है।

विशेषताएँ:

1. ऊँचाई के अनुसार परिवर्तन:

   1800–3000 मीटर: समशीतोष्ण वन

   3000–4000 मीटर: उप-अल्पाइन वन

   4000 मीटर से ऊपर: अल्पाइन घासभूमि

2. मुख्य वृक्ष:

   चौड़ी पत्ती वाले पेड़ - ओक, अखरोट, रोड़ोडेंड्रॉन

ऊँचाई बढ़ने पर - बर्च, जुनिपर, देवदार

3. वन्यजीव:

हिमालयी मोनाल, हिम तेंदुआ, कस्तूरी मृग, भालू आदि।

4. जल संसाधन:

पर्वतीय वन हिमनदों और पर्वतीय झीलों को पोषित करते हैं, जिससे नदियों की जल-प्रणाली कायम रहती है।

मुख्य क्षेत्र:

जम्मू-कश्मीर, हिमाचल प्रदेश, उत्तराखंड

पूर्वोत्तर के पर्वतीय राज्य

नीलगिरि और पश्चिमी घाट

महत्त्व:

पर्वतीय पारिस्थितिकी को संतुलित रखते हैं।

जलवायु नियंत्रण और जल-संचयन का आधार।

11.3.4 शंकुधारी वन (Coniferous Forests)

ये वन मुख्यतः उत्तर भारत के हिमालयी क्षेत्रों में 1500–3500 मीटर की ऊँचाई पर पाए जाते हैं।

विशेषताएँ:

1. शंकु आकार वाले वृक्ष

चीड़, देवदार, फर, स्प्रूस

ये वृक्ष ठंडे जलवायु में अनुकूलित होते हैं।

2. ठंडा तापमान: भारी हिमपात, कम तापमान।

3. वन्यजीव: भालू, हिरण की प्रजातियाँ, हिमालयी पक्षी, छोटा तेंदुआ।

महत्त्व:

लकड़ी और राल उत्पादन।

पर्वतीय कटाव को रोकने में सहायक।

11.3.5 मरुस्थलीय एवं तटीय वन

भारत में दो विशेष क्षेत्र- राजस्थान का थार मरुस्थल तथा भारत का तटीय पट- अपनी विशिष्ट वनस्पतियों के लिए जाने जाते हैं।

(a) मरुस्थलीय वन की विशेषताएँ:

वर्षा 25 सेमी से कम।

काँटेदार झाड़ियाँ, बबूल, खेजड़ी, कैक्टस।

अत्यधिक गर्मी और शुष्क वातावरण।

वन्यजीव: चिंकारा, मरु लोमड़ी, भारतीय गज़ेल, ग्रेट इंडियन बस्टर्ड।

मुख्य क्षेत्र: राजस्थान, गुजरात का कच्छ क्षेत्र।

(b) तटीय वन: तटीय वन समुद्री हवाओं, खारे पानी और नमी से प्रभावित होते हैं। इनका एक विशिष्ट रूप मैंग्रोव वन भी है।

विशेषताएँ:-

ज्वार-भाटा क्षेत्र में स्थित।

वृक्षों की वायवीय जड़ें।

मुख्य क्षेत्र: सुंदरबन (विश्व प्रसिद्ध), अंडमान-निकोबार, गोदावरी–कृष्णा डेल्टा

महत्त्व:

चक्रवातों से तट की रक्षा

समुद्री जैव-विविधता का आधार

11.4 राष्ट्रीय उद्यान (National Parks) एवं वन्यजीव अभ्यारण्य (Wildlife Sanctuaries)

11.4.1 राष्ट्रीय उद्यान एवं वन्यजीव अभ्यारण्य की अवधारणा

राष्ट्रीय उद्यान तथा वन्यजीव अभ्यारण्य भारत की प्राकृतिक विरासत के संरक्षण के लिए निर्मित दो प्रमुख संरक्षित क्षेत्र (Protected Areas) हैं। इनका मुख्य उद्देश्य जैव-विविधता का संरक्षण, वन्यजीवों के आवासों की रक्षा, तथा पारिस्थितिक संतुलन को बनाए रखना है।

राष्ट्रीय उद्यान (National Park) वह संरक्षित क्षेत्र है जहाँ जैव-विविधता, वनस्पतियों, जीव-जंतुओं और भू-दृश्यों को अत्यंत नियंत्रित और वैज्ञानिक पद्धति से संरक्षित किया जाता है। राष्ट्रीय उद्यानों में मानव गतिविधियों, चराई, शिकार तथा किसी भी प्रकार के वाणिज्यिक दोहन पर कठोर प्रतिबंध होते हैं। इन क्षेत्रों का उद्देश्य केवल संरक्षण ही नहीं बल्कि अनुसंधान, शिक्षा एवं प्रकृति-आधारित पर्यटन को भी प्रोत्साहित करना है।

वन्यजीव अभ्यारण्य (Wildlife Sanctuary) ऐसे संरक्षित क्षेत्र हैं जहाँ विशेष रूप से किसी वन्यजीव प्रजाति या समग्र वन्यजीवन को संरक्षण प्रदान किया जाता है। अभ्यारण्य में मानव गतिविधियाँ पूरी तरह प्रतिबंधित नहीं होतीं, यद्यपि शिकार, आवास विनाश अथवा संसाधनों के दोहन पर कानूनी रोक होती है। स्थानीय समुदायों का नियंत्रित उपयोग, चराई अथवा सीमित मानव गतिविधियाँ प्रबंधन योजना के अनुरूप अनुमति-आधारित हो सकती हैं।

इन दोनों संरक्षित क्षेत्रों का संचालन वन्यजीव संरक्षण अधिनियम, 1972 के प्रावधानों के अंतर्गत किया जाता है।

11.4.2 भारत में राष्ट्रीय उद्यानों का इतिहास एवं राष्ट्रीय अभ्यारण्य प्रणाली

भारत में संरक्षित क्षेत्रों के निर्माण का इतिहास उपनिवेश काल से प्रारंभ होता है, जब ब्रिटिश प्रशासन ने शिकार नियमन हेतु 'गेम रिज़र्व' और संरक्षित जंगलों की अवधारणा विकसित की। हालांकि इनका उद्देश्य संरक्षण कम और वन संसाधनों का नियंत्रण अधिक था, परंतु स्वतंत्रता के पश्चात भारत में वैज्ञानिक संरक्षण की दिशा में महत्वपूर्ण कदम उठाए गए।

स्वतंत्रता के बाद के प्रमुख चरण:

1. 1952 की राष्ट्रीय वन नीति:- पहली बार वन संरक्षण और वन्यजीव संरक्षण को राष्ट्रीय प्राथमिकता माना गया।
2. वन्यजीव संरक्षण अधिनियम, 1972:- इस अधिनियम ने राष्ट्रीय उद्यानों और अभ्यारण्यों की कानूनी संरचना स्पष्ट की तथा पूरे देश में एकसमान संरक्षण ढाँचा उपलब्ध कराया।
3. प्रोजेक्ट टाइगर (1973) के पश्चात संरक्षण-प्रयासों को विश्व स्तर पर पहचान मिली और कई राष्ट्रीय उद्यानों का विकास हुआ।
4. 1988 की राष्ट्रीय वन नीति:- समुदाय-आधारित संरक्षण, जनसहभागिता और पारिस्थितिक स्थिरता को बढ़ावा दिया गया।
5. 21वीं सदी में संरक्षित क्षेत्र नेटवर्क का विस्तार:- बायोस्फीयर रिज़र्व, रैमसर साइट, संरक्षित गलियारे (corridors) एवं क्रिटिकल टाइगर हेबिटैट जैसी अवधारणाएँ विकसित हुईं।

आज भारत में 100 से अधिक राष्ट्रीय उद्यान और 550 से अधिक वन्यजीव अभ्यारण्य विद्यमान हैं, जो देश की पारिस्थितिक विविधता की रक्षा करते हैं।

11.4.3 प्रमुख राष्ट्रीय उद्यान एवं प्रमुख राष्ट्रीय अभ्यारण्य

भारत के संरक्षित क्षेत्रों की विविधता अत्यंत समृद्ध है। विभिन्न भौगोलिक अवस्थाओं, जलवायु और जैव-भेद्यता के आधार पर ये क्षेत्र विशिष्ट पारिस्थितिक तंत्रों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

(क) प्रमुख राष्ट्रीय उद्यान

1. जिम कॉर्बेट राष्ट्रीय उद्यान (उत्तराखंड) – भारत का पहला राष्ट्रीय उद्यान (1936), बाघ संरक्षण के लिए विश्व प्रसिद्ध।
2. कान्हा राष्ट्रीय उद्यान (मध्य प्रदेश) – बारासिंघा संरक्षण का मॉडल; साल वनस्पति का प्रमुख क्षेत्र।

3. काजीरंगा राष्ट्रीय उद्यान (असम) – एक सींग वाले गैंडे का वैश्विक केंद्र; विश्व प्राकृतिक विरासत स्थल।

4. सुंदरबन राष्ट्रीय उद्यान (पश्चिम बंगाल) – मैंग्रोव पारिस्थितिकी एवं रॉयल बंगाल टाइगर का आवास।

5. गिर राष्ट्रीय उद्यान (गुजरात) – एशियाई सिंहों का एकमात्र प्राकृतिक आवास।

6. रंथम्भौर राष्ट्रीय उद्यान (राजस्थान) – शुष्क पर्णपाती वन एवं बाघों की उच्च दृश्यता के लिए प्रसिद्ध।

7. पेरियार राष्ट्रीय उद्यान (केरल) – हाथियों की विशाल आबादी एवं कार्डमम हिल्स का पारिस्थितिकी क्षेत्र।

8. साइलेंट वैली राष्ट्रीय उद्यान (केरल) – उष्णकटिबंधीय सदाबहार वनों का दुर्लभ संरक्षण।

(ख) प्रमुख वन्यजीव अभ्यारण्य

1. भरतपुर घाना पक्षी अभ्यारण्य / केओलादेव (राजस्थान) – विश्व प्रसिद्ध पक्षी अभ्यारण्य; प्रवासी पक्षियों का मुख्य केंद्र।

2. नंदीनी वन्यजीव अभ्यारण्य (जम्मू कश्मीर) – पर्वतीय जैव-विविधता का प्रमुख क्षेत्र।

3. गोविन्द वन्यजीव अभ्यारण्य (उत्तराखंड) – उच्च ऊँचाई वाले ट्रैक और दुर्लभ प्रजातियों के लिए संरक्षित क्षेत्र।

4. सरिस्का अभ्यारण्य (राजस्थान) – अर्ध-शुष्क पारिस्थितिकी तंत्र एवं बाघ पुनर्स्थापन मॉडल।

5. चिलिका अभ्यारण्य (ओडिशा) – चिलिका झील की जल-पक्षी एवं डॉल्फिन प्रजातियों का आवास।

इन संरक्षित क्षेत्रों में जैव-विविधता, भू-दृश्य और सांस्कृतिक विरासत के कई आयाम जुड़े हुए हैं, जो भारत की प्राकृतिक पहचान को अद्वितीय बनाते हैं।

11.4.4 संरक्षण एवं प्रबंधन के उपाय

राष्ट्रीय उद्यानों और अभ्यारण्यों का प्रभावी संरक्षण वैज्ञानिक प्रबंधन, सामुदायिक सहभागिता और आधुनिक तकनीकी साधनों के संयोजन से संभव है। इसके प्रमुख उपाय निम्नलिखित हैं-

1. वैज्ञानिक प्रबंधन योजनाएँ – प्रत्येक संरक्षित क्षेत्र में प्रबंधन योजना (Management Plan) बनाई जाती है जिसमें आवास सुधार, वनों का पुनर्जीवन, जल स्रोतों का संरक्षण तथा वन्यजीवों की निगरानी शामिल होती है।

2. मानव-वन्यजीव संघर्ष का नियंत्रण – फेंसिंग, रेस्क्यू टीम, क्षतिपूर्ति योजनाएँ, जैव-दीवारें और समुदाय-आधारित सतर्कता दल प्रभावी उपाय हैं।

3. एंटी-पोचिंग उपाय – गश्ती दल, निगरानी ड्रोन, कैमरा ट्रैप, सूचना नेटवर्क और कठोर दंड प्रावधान।

4. प्राकृतिक आवास संरक्षण – वनों की कटाई, अवैध खनन, चराई अथवा परिदृश्य परिवर्तन पर नियंत्रण।

5. ईको-टूरिज्म का नियमन – पर्यटन को नियंत्रित और पर्यावरण-अनुकूल बनाना ताकि पारिस्थितिकी तंत्र पर दबाव न पड़े।

6. अनुसंधान एवं मॉनिटरिंग – वन्यजीव जनसंख्या, प्रवास पैटर्न, वनस्पति स्वास्थ्य, जलवायु प्रभाव आदि का वैज्ञानिक अध्ययन।

7. स्थानीय समुदायों की सहभागिता – वनोपयोग, आजीविका योजनाएँ, विकेंद्रीकृत वन प्रबंधन तथा जागरूकता कार्यक्रम संरक्षण को सफल बनाते हैं।

11.4.5 वन्यजीव संरक्षण संबंधी नीतियाँ

भारत में वन्यजीव संरक्षण के लिए कई राष्ट्रीय नीतियाँ और कार्यक्रम लागू हैं:

1. वन्यजीव संरक्षण अधिनियम, 1972 – संरक्षित क्षेत्र घोषित करने, शिकार पर नियंत्रण, अनुसूची-वार प्रजातियों की सुरक्षा।

2. राष्ट्रीय वन नीति, 1988 – पर्यावरणीय स्थिरता एवं जैव-विविधता संरक्षण को सर्वोच्च प्राथमिकता।

3. प्रोजेक्ट टाइगर (1973) – बाघ एवं उसके आवासों की रक्षा; 50+ टाइगर रिज़र्व।

4. प्रोजेक्ट एलीफैंट (1992) – हाथियों, आवासों और प्रव्रजन गलियारों का संरक्षण।

5. प्रोजेक्ट क्रोकोडाइल, स्नो लेपर्ड प्रोग्राम – संकटग्रस्त प्रजातियों की सुरक्षा।

6. CAMPA (2016) – प्रतिपूरक वनीकरण निधि प्रबंधन एवं वन पुनर्स्थापन।

7. राष्ट्रीय जैव-विविधता अधिनियम, 2002 – जैविक संसाधनों के संरक्षण और पारंपरिक ज्ञान की रक्षा।

8. ईको-सेंसिटिव जोन (ESZ) की अधिसूचना – संरक्षित क्षेत्रों के आसपास असंवेदी गतिविधियों के नियमन हेतु।

इन नीतियों का सामूहिक उद्देश्य वन्यजीवों, उनके आवासों और प्राकृतिक पारिस्थितिक तंत्रों की रक्षा करना है, जिससे आने वाली पीढ़ियाँ भी इस विरासत से लाभान्वित हो सकें।

11.5 प्राकृतिक उद्यान एवं बायोस्फीयर रिज़र्व

11.5.1 प्राकृतिक उद्यान की अवधारणा

प्राकृतिक उद्यान (Natural Park) ऐसे विविधतापूर्ण भू-दृश्य क्षेत्रों को कहा जाता है, जिन्हें उनकी विशिष्ट प्राकृतिक विशेषताओं, जैव-विविधता, भू-आकृतिक संरचनाओं और सांस्कृतिक-पारिस्थितिक संबंधों के कारण संरक्षित किया जाता है। यह उद्यान न केवल वनस्पतियों और जीव-जंतुओं की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होते हैं, बल्कि प्राकृतिक सौंदर्य, भू-वैज्ञानिक संरचना, जल-तंत्र, झीलों, पर्वतीय श्रृंखलाओं, मैदानी और तटीय क्षेत्रों सभी को साथ लेकर एक व्यापक प्राकृतिक तंत्र का प्रतिनिधित्व करते हैं।

प्राकृतिक उद्यानों की मुख्य विशेषताएँ:-

1. इनका उद्देश्य केवल वन्यजीव संरक्षण तक सीमित नहीं, बल्कि समग्र प्राकृतिक परिदृश्य (landscape) की रक्षा करना है।

2. पर्यावरणीय शिक्षा, अनुसंधान, भू-वैज्ञानिक अध्ययन तथा नियंत्रित पर्यटन को प्रोत्साहन दिया जाता है।

3. जैव-भौतिक प्रक्रियाओं (ecological processes) जैसे परागण, अपघटन, जल-चक्र, पोषक-तत्व चक्र का संरक्षण प्रमुख लक्ष्य रहता है।

4. स्थानीय समुदायों तथा पारंपरिक ज्ञान को संरक्षण-प्रबंधन का अभिन्न अंग माना जाता है।

भारत में प्राकृतिक उद्यानों को कभी-कभी राष्ट्रीय उद्यानों के व्यापक परिदृश्य स्वरूप के रूप में भी देखा जाता है, परंतु उनका उद्देश्य केवल वन्यजीव संरक्षण की बजाय संपूर्ण प्राकृतिक परिदृश्य की रक्षा करना है।

11.5.2 बायोस्फीयर रिज़र्व: उद्देश्य एवं संरचना

बायोस्फीयर रिज़र्व बड़े भौगोलिक क्षेत्रों में स्थापित किए जाते हैं जिसका उद्देश्य जैव-विविधता संरक्षण, अनुसंधान, सामुदायिक विकास और सतत् उपयोग के सिद्धांतों के बीच संतुलन स्थापित करना है। ये संरक्षित क्षेत्र केवल जीव-जंतुओं और वनस्पतियों को बचाने के लिए नहीं, बल्कि मनुष्य-प्रकृति के संबंधों को संतुलित और टिकाऊ बनाने के लिए भी निर्मित किए जाते हैं।

(क) बायोस्फीयर रिज़र्व के उद्देश्य:

1. पारिस्थितिक तंत्र संरक्षण- वन, घासभूमि, पर्वतीय, तटीय, रेतीले और आर्द्रभूमि पर्यावरण का समग्र संरक्षण।

2. जैव-विविधता का संवर्धन- संकटग्रस्त प्रजातियाँ, स्थानिक प्रजातियाँ और दुर्लभ पारिस्थितिक तंत्र का संरक्षण एवं संवर्धन।

3. अनुसंधान एवं निगरानी- दीर्घकालिक पर्यावरणीय अध्ययन, जलवायु परिवर्तन और सामाजिक-पर्यावरणीय अध्ययनों को बढ़ावा देना।

4. सामुदायिक विकास एवं आजीविका- स्थानीय समाज को संरक्षण के साथ जोड़ना तथा सतत् विकास को प्रोत्साहन देना।

5. पर्यावरण शिक्षा एवं जागरूकता- समुदाय, विद्यार्थियों और शोधकर्ताओं में पर्यावरण चेतना का विकास।

(ख) बायोस्फीयर रिज़र्व की संरचना: बायोस्फीयर रिज़र्व तीन प्रमुख क्षेत्रों में विभाजित होते हैं:-

कोर ज़ोन (Core Zone)	बफर ज़ोन (Buffer Zone)	ट्रांज़िशन ज़ोन (Transition Zone)

• यह पूरी तरह संरक्षित क्षेत्र होता है। • यहाँ किसी भी प्रकार की मानव गतिविधि प्रतिबंधित रहती है। • शोध और संरक्षण गतिविधियाँ ही यहाँ अनुमत होती हैं।	• कोर ज़ोन को बाहरी हस्तक्षेप से सुरक्षा प्रदान करता है। • अनुसंधान, शिक्षा, प्रशिक्षण, इको-टूरिज्म जैसी सीमित गतिविधियाँ अनुमत हैं।	• यहाँ मानव बस्तियाँ, कृषि, सामाजिक गतिविधियाँ एवं सतत् उपयोग के मॉडल लागू होते हैं। • इसका उद्देश्य संरक्षण और विकास के बीच संतुलन बनाना है।

इस त्रिस्तरीय संरचना के कारण बायोस्फीयर रिज़र्व अंतरराष्ट्रीय स्तर पर एक उत्कृष्ट संरक्षण मॉडल माने जाते हैं।

11.5.3 भारत के प्रमुख बायोस्फीयर रिज़र्व

भारत में वर्तमान में कई बायोस्फीयर रिज़र्व अधिसूचित हैं, जिनमें से कई को यूनेस्को के "मैन एंड बायोस्फीयर प्रोग्राम" (MAB) में भी स्थान प्राप्त है। प्रमुख बायोस्फीयर रिज़र्व हैं:-

1. नीलगिरि बायोस्फीयर रिज़र्व (तमिलनाडु–केरल–कर्नाटक)	भारत का पहला बायोस्फीयर रिज़र्व (1986)। पश्चिमी घाट की अद्वितीय जैव-विविधता का केंद्र।
2. सुंदरबन बायोस्फीयर रिज़र्व (पश्चिम बंगाल)	दुनिया का सबसे बड़ा मैंग्रोव क्षेत्र और रॉयल बंगाल टाइगर का निवास।
3. गल्फ ऑफ मन्नार (तमिलनाडु)	समुद्री जैव-विविधता तथा प्रवाल भित्तियों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण।
4. नंदा देवी बायोस्फीयर रिज़र्व (उत्तराखंड)	हिमालयी पारिस्थितिकी और ऊँचाई वाले वन्यजीवों के संरक्षण का प्रमुख क्षेत्र।
5. ग्रेट निकोबार (अंडमान-निकोबार)	समुद्री और स्थलीय जैव-विविधता का अनूठा संयोजन।
6. मन्नार, पचमढ़ी, अच्छनकोविल-शेन्दुर्नी, कोल्दीह, सिम्पलिपाल, कच्छ का रण, देहांग-देबांग आदि	विशिष्ट जलवायु एवं भौगोलिक विशेषताओं के आधार पर घोषित संरक्षण क्षेत्र।

ये सभी क्षेत्र वैश्विक तथा राष्ट्रीय स्तर पर जैव-विविधता संरक्षण के महत्त्वपूर्ण केंद्र हैं।

11.5.4 यूनेस्को MAB कार्यक्रम और भारत

यूनेस्को का Man and Biosphere (MAB) Programme एक अंतरराष्ट्रीय वैज्ञानिक कार्यक्रम है जिसका उद्देश्य मानव और प्रकृति के संबंधों का संतुलित विकास करना है। यह कार्यक्रम बायोस्फीयर रिज़र्व को एक वैश्विक नेटवर्क में जोड़ता है, जिसे World Network of Biosphere Reserves (WNBR) कहा जाता है।

भारत और MAB कार्यक्रम:

1. भारत के कई बायोस्फीयर रिज़र्व जैसे, नीलगिरि, नंदा देवी, सुंदरबन, पचमढ़ी, सिम्पलिपाल, ग्रेट निकोबार इत्यादि को यूनेस्को की अंतरराष्ट्रीय सूची में शामिल किया गया है।
2. इन रिज़र्व में पारिस्थितिकी, सामाजिक-आर्थिक विकास और सांस्कृतिक विविधता के आधार पर मॉडल संरक्षण योजनाएँ लागू होती हैं।
3. भारत में MAB कार्यक्रम के अंतर्गत: पारिस्थितिक निगरानी, जलवायु परिवर्तन अध्ययन, सामुदायिक सहभागिता, लोक-ज्ञान संरक्षण, वैकल्पिक आजीविका कार्यक्रम आदि पर विशेष बल दिया जा रहा है।
4. MAB कार्यक्रम भारत की संरक्षण नीतियों को अंतरराष्ट्रीय मानकों से जोड़ता है, जिससे शोध, तकनीकी सहयोग, प्रशिक्षण और वित्तीय सहायता के अवसर बढ़ते हैं।

11.6 पवित्र उपवन (Sacred Groves)

11.6.1 पवित्र उपवन की अवधारणा

पवित्र उपवन ऐसे वनखंड या प्राकृतिक स्थल होते हैं जिन्हें स्थानीय समुदाय, जनजातियाँ या क्षेत्रीय समाज धार्मिक, सांस्कृतिक या आध्यात्मिक मान्यताओं के आधार पर संरक्षित रखते हैं। सामान्यतः ये क्षेत्र किसी देवता, कुलदेवता, ग्रामदेवता, पूर्वज अथवा प्राकृतिक शक्ति को समर्पित होते हैं।

पवित्र उपवन की प्रमुख विशेषताएँ:-

1. ये मानव हस्तक्षेप से लगभग मुक्त रहते हैं।
2. इनमें दुर्लभ और स्थानिक वनस्पतियाँ एवं जीव-जंतु सुरक्षित रहते हैं।
3. संरक्षण का आधार धार्मिक आस्था, परंपरा और सामुदायिक निर्णय होता है।
4. ये प्राकृतिक बीज-संग्रह (gene pool) के रूप में कार्य करते हैं।

11.6.2 धार्मिक एवं सांस्कृतिक महत्व

भारत में पवित्र उपवनों की परंपरा अत्यंत प्राचीन है और यह प्रकृति-पूजा, जीव-पूजा तथा पर्वतीय और जनजातीय समाजों की सांस्कृतिक धरोहर का हिस्सा है। इनका धार्मिक-सांस्कृतिक महत्व इस प्रकार है:-

1. देव-वन परंपरा- उत्तराखंड, हिमाचल, राजस्थान तथा पूर्वोत्तर राज्यों में विशेष रूप से प्रचलित।

2. कुलदेवता संरक्षण- कई वनखंड किसी विशिष्ट देवता के नाम पर पूर्णतः संरक्षित रखे जाते हैं।

3. सामुदायिक नियम- उपवन से लकड़ी, चारा, पत्तियाँ आदि लेने की मनाही; समाज द्वारा दंड का प्रावधान।

4. सांस्कृतिक अनुष्ठान- वर्षा प्रार्थना, पर्वोत्सव, नृत्य, पूजा, ग्रामीण सभाएँ आदि इसी उपवन में किए जाते हैं।

5. मानव-प्रकृति संबंधों का प्रतीक- ये उपवन मनुष्य की प्रकृति के प्रति श्रद्धा और पर्यावरणीय नैतिकता को दर्शाते हैं।

11.6.3 भारत के प्रमुख पवित्र उपवन

भारत में लगभग 13,000 से अधिक पवित्र उपवन पाए जाते हैं, जिनमें प्रमुख हैं:-

1. मेघालय के 'Law Kyntang' उपवन- खासी जनजाति द्वारा संरक्षित; अत्यधिक जैव-विविधता।

2. राजस्थान का खेजड़ली उपवन- बिश्नोई समुदाय का संरक्षण मॉडल।

3. उत्तराखंड के देव-वन- देवता-आधारित संरक्षित क्षेत्र, जैसे धनोल्टी और जौनसार-बावर के उपवन।

4. कर्नाटक के 'देवराकाडु'- पारंपरिक जल-तंत्र एवं वनस्पति संरक्षण के लिए प्रसिद्ध।

5. महाराष्ट्र के 'देव-राई'- पश्चिमी घाट की जैव-विविधता के केंद्र।

ये सभी उपवन पारंपरिक संरक्षण प्रणालियों का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

11.6.4 सामुदायिक संरक्षण परंपराएँ

पवित्र उपवन सामुदायिक शासन, स्थानीय ज्ञान और जन-भागीदारी पर आधारित संरक्षण मॉडल प्रदान करते हैं। इसकी प्रमुख विशेषताएँ निम्नवत हैं:-

1. सामुदायिक संस्थाएँ- ग्रामसभा, पंच, जनजातीय प्रमुख उपवन की सुरक्षा सुनिश्चित करते हैं।

2. धार्मिक-नैतिक प्रतिबंध- पेड़ काटने, शिकार करने अथवा भूमि दोहन पर सामाजिक दंड।

3. पारंपरिक ज्ञान प्रणाली- औषधीय पौधों, बीज-संरक्षण, जल-प्रबंधन और पारिस्थितिकी का स्थानीय ज्ञान।

4. सामूहिक श्रम- प्रत्येक व्यक्ति द्वारा उपवन की देखभाल में योगदान।

5. प्रकृति शिक्षा- नई पीढ़ी को पर्यावरणीय नैतिकता और जैव-विविधता संरक्षण का ज्ञान।

11.7 भारत की प्राकृतिक विरासत के संरक्षण की चुनौतियाँ

भारत की प्राकृतिक विरासत- जैव-विविधता, राष्ट्रीय उद्यान, अभयारण्यों, पर्वतीय पारितंत्रों, आर्द्रभूमियों, पवित्र उपवनों, समुद्री तटीय क्षेत्रों और वन-सम्पदा को संरक्षित रखना आज अत्यंत जटिल और बहुआयामी चुनौती बन चुका है। आर्थिक विकास, जनसंख्या वृद्धि और संसाधनों के अत्यधिक दोहन ने इस विरासत के अस्तित्व पर संकट उत्पन्न कर दिया है। इनसे सम्बंधित संरक्षण की प्रमुख चुनौतियाँ को निम्न बिंदुओं के अंतर्गत समझने का प्रयास किया जा सकता है:-

(1) तीव्र जनसंख्या वृद्धि एवं भूमि पर दबाव: भारत विश्व के सर्वाधिक जनसंख्या घनत्व वाले देशों में से एक है। बढ़ती आबादी के कारण कृषि भूमि का विस्तार, आवास निर्माण, सड़कें, उद्योग आदि के लिए वनों का कटाव होता है। इससे प्राकृतिक आवास सिकुड़ते जा रहे हैं और वन्यजीवों का अस्तित्व खतरे में पड़ रहा है।

(2) शहरीकरण और औद्योगिकीकरण: तेज़ी से बढ़ता शहरीकरण जलाशयों, आर्द्रभूमियों और पर्वतीय पारितंत्रों को नष्ट कर रहा है। औद्योगिक गतिविधियों से प्रदूषण; जल, वायु तथा मृदा, तीव्र गति से बढ़ रहा है, जिससे जैव-विविधता पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है। कई प्राकृतिक अभयारण्यों के आसपास औद्योगिक क्षेत्र विकसित हो चुके हैं, जिससे मानव-वन्यजीव संघर्ष बढ़ा है।

(3) जलवायु परिवर्तन: ग्लोबल वार्मिंग, अनियमित वर्षा, समुद्र-स्तर में वृद्धि, तापमान में वृद्धि और चरम मौसमीय घटनाएँ प्राकृतिक पारितंत्रों को गहराई से प्रभावित कर रही हैं। हिमालयी ग्लेशियरों का पिघलना, प्रवाल भित्तियों का क्षरण और वनस्पतियों की प्रजातियों का विलुप्त होना इसके मुख्य उदाहरण हैं।

(4) वन्यजीव तस्करी एवं अवैध शिकार: लगातार प्रयासों के बावजूद भी अवैध शिकार व अंतरराष्ट्रीय वन्यजीव व्यापार (Illegal Wildlife Trade) बड़ा खतरा बना हुआ है। बाघ, हाथी, गैंडों, कछुओं, दुर्लभ जड़ी-बूटियों व कीमती लकड़ी की तस्करी संरक्षण के प्रयासों को कमजोर करती है।

(5) मानव-वन्यजीव संघर्ष: वनों के सिकुड़ने और प्राकृतिक गलियारों के टूटने के कारण जंगली जानवर मानव बस्तियों की ओर जाने लगे हैं। इससे फसलों को नुकसान, मानव-हत्या और जानवरों की हत्याओं की घटनाएँ बढ़ती जा रही हैं।

(6) पर्यावरणीय राजनीति और नीति-निष्पादन की कमजोरियाँ: कई बार विकास परियोजनाओं जैसे बाँध, खनन, सड़क निर्माण, रेल इत्यादि को वन क्षेत्रों में अनुमति दे दी जाती है। पर्यावरणीय प्रभाव आकलन (EIA) में खामियाँ और पारदर्शिता की कमी संरक्षण प्रयासों को कमजोर करती है।

(7) स्थानीय समुदायों की सहभागिता का अभाव: कई योजनाएँ बिना स्थानीय समुदायों की आवश्यक भागीदारी के लागू की जाती हैं, जिससे वे असफल हो जाती हैं। समुदायों की आजीविका वनों पर निर्भर होने के कारण उन्हें संरक्षण से जोड़ना अति आवश्यक है।

(8) अपर्याप्त वित्तीय संसाधन: राष्ट्रीय उद्यानों, अभयारण्यों और बायोस्फीयर रिज़र्व के लिए पर्याप्त वित्तीय सहायता उपलब्ध नहीं है। प्रशिक्षित मानव संसाधन, आधुनिक उपकरणों व वैज्ञानिक अनुसंधान की कमी भी मुख्य समस्या है।

11.8 संरक्षण हेतु सरकारी एवं गैर-सरकारी प्रयास

भारत में प्राकृतिक विरासत के संरक्षण हेतु अनेक सरकारी और गैर-सरकारी पहलें समय-समय पर चलती रही हैं। इन प्रयासों ने प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण, संवर्द्धन और पुनर्स्थापना में उल्लेखनीय भूमिका निभाई है।

(क) सरकारी प्रयास;

(1) संवैधानिक एवं विधिक प्रावधान;

- संविधान के अनुच्छेद 48A और 51A(g) पर्यावरण संरक्षण को राज्य और नागरिकों का दायित्व बनाते हैं।
- वन्यजीव संरक्षण अधिनियम (1972)
- पर्यावरण संरक्षण अधिनियम (1986)
- वन संरक्षण अधिनियम (1980)

इन कानूनों ने संरक्षण को कानूनी आधार प्रदान किया।

(2) संरक्षित क्षेत्र नेटवर्क का विस्तार: भारत में 1000 से अधिक संरक्षित क्षेत्र- राष्ट्रीय उद्यान, अभयारण्य, संरक्षित वन्यजीव गलियारे निर्मित किए गए हैं। इनसे जैव-विविधता को सुरक्षित रखने का सतत प्रयास किया जा रहा है।

(3) प्रोजेक्ट टाइगर (1973) एवं प्रोजेक्ट एलिफेंट (1992)

- प्रोजेक्ट टाइगर ने भारत में बाघों की संख्या में उल्लेखनीय वृद्धि की है।
- प्रोजेक्ट एलिफेंट का मुख्य उद्देश्य हाथियों के आवास संरक्षण तथा मानव-हाथी संघर्ष को कम करना है।

(4) जैवमंडल संरक्षित क्षेत्र (Biosphere Reserves): भारत में 18 बायोस्फीयर रिज़र्व हैं, जिनमें नर्मदा घाटी, सुंदरबन, नीलगिरि, कच्छ का रण प्रमुख हैं। ये UNESCO MAB कार्यक्रम से भी जुड़े हैं।

(5) राष्ट्रीय हरित अधिकरण (NGT); NGT पर्यावरणीय मामलों में न्यायिक हस्तक्षेप करके प्रदूषण नियंत्रण और प्राकृतिक क्षेत्रों के संरक्षण को सुनिश्चित करता है।

(6) कम्पेंसेटरी अफोरेस्टेशन और CAMPA फंड; वन भूमि के उपयोग के बदले वनीकरण को बढ़ावा दिया जाता है। CAMPA फंड अब बड़े स्तर पर वनीकरण परियोजनाओं में उपयोग हो रहा है।

(7) जलवायु परिवर्तन से निपटने के लिए राष्ट्रीय कार्य योजना (NAPCC): इसमें 8 प्रमुख मिशन शामिल हैं, जैसे-

- राष्ट्रीय सौर मिशन
- उन्नत ऊर्जा दक्षता के लिए राष्ट्रीय मिशन
- सतत आवास पर राष्ट्रीय मिशन
- राष्ट्रीय जल मिशन
- हिमालयी पारिस्थितिकी तंत्र को बनाए रखने के लिए राष्ट्रीय मिशन

- हरित भारत के लिए राष्ट्रीय मिशन
- सतत कृषि के लिए राष्ट्रीय मिशन
- जलवायु परिवर्तन के लिए रणनीतिक ज्ञान पर राष्ट्रीय मिशन

(B) गैर-सरकारी प्रयास:

(1) पर्यावरणीय एनजीओ; WWF-India, BNHS (बॉम्बे नेचुरल हिस्ट्री सोसाइटी), ग्रीनपीस, संरक्षण इंटरनेशनल आदि संगठन जैव-विविधता संरक्षण, अनुसंधान, समुदाय जागरूकता और नीति निर्माण में सहयोग करते हैं।

(2) समुदाय आधारित संरक्षण (Community-based Conservation): इसके अंतर्गत कुछ निम्नलिखित प्रमुख मॉडल विकसित हुए हैं–

- चिपको आंदोलन (उत्तराखंड) – वनों को कटने से बचाने का ऐतिहासिक प्रयास।
- अपिको आंदोलन (कर्नाटक) – पेड़ों को आलिंगन देकर संरक्षण का प्रतीक आंदोलन।
- अमरकंटक और अरुणाचल के पवित्र उपवन – धार्मिक विश्वासों के कारण संरक्षित।

(3) पर्यावरण जागरूकता कार्यक्रम: स्कूलों में इको-क्लब, स्वच्छ भारत अभियान, वन महोत्सव, ग्रीन ओलंपियाड आदि के माध्यम से समाज में पर्यावरण चेतना बढ़ाई जा रही है।

(4) मीडिया और नागरिक समूह: सोशल मीडिया अभियानों, वृत्तचित्रों और स्थानीय 'ग्रीन ग्रुप्स' ने संरक्षण के लिए जन-दबाव तैयार किया है।

11.9 सारांश

भारत की प्राकृतिक विरासत- जैव-विविधता, वनों, पर्वतों, नदियों, आर्द्रभूमियों और वन्यजीवों ने देश को पर्यावरणीय, सांस्कृतिक और आर्थिक रूप से समृद्ध किया है। किंतु जनसंख्या वृद्धि, विकास परियोजनाएँ, जलवायु परिवर्तन, प्रदूषण, अवैध शिकार और मानव-वन्यजीव संघर्ष जैसी चुनौतियों ने इन संसाधनों को गंभीर खतरे में डाल दिया है। संरक्षण के लिए सरकार ने अनेक विधिक प्रावधान, योजनाएँ, संरक्षित क्षेत्र, प्रोजेक्ट टाइगर और प्रोजेक्ट एलिफेंट जैसी पहलें की हैं, वहीं गैर-सरकारी संगठन और स्थानीय समुदायों ने जन-सहभागिता के माध्यम से महत्वपूर्ण योगदान दिया है। सतत विकास, समुदाय-केन्द्रित संरक्षण और पर्यावरणीय शिक्षा ही प्राकृतिक विरासत के दीर्घकालिक संरक्षण की आधारशिला हैं।

11.10 प्रमुख शब्दावली

1. जैव-विविधता (Biodiversity) – वनस्पतियों, जीव-जंतुओं और सूक्ष्मजीवों की विविधता।
2. पारितंत्र (Ecosystem) – जीवों और उनके भौतिक पर्यावरण का पारस्परिक संबंध।
3. प्राकृतिक विरासत (Natural Heritage) – प्रकृति द्वारा प्रदत्त जीव व अजैव संसाधनों का संपूर्ण भंडार।
4. अभयारण्य (Wildlife Sanctuary) – वन्यजीव संरक्षण हेतु संरक्षित क्षेत्र।
5. राष्ट्रीय उद्यान (National Park) – वैज्ञानिक संरक्षण के लिए उच्च सुरक्षा प्रदान करने वाले क्षेत्र।
6. जलवायु परिवर्तन (Climate Change) – तापमान, वर्षा और मौसम में दीर्घकालिक परिवर्तन।
7. अवैध शिकार (Poaching) – कानून के विरुद्ध वन्यजीवों का शिकार।
8. बायोस्फीयर रिज़र्व – बड़े स्तर का संरक्षित पारितंत्र, UNESCO MAB से संबद्ध।
9. एनजीटी (NGT) – पर्यावरण संरक्षण हेतु न्यायिक संस्था।
10. मानव-वन्यजीव संघर्ष – सीमित संसाधनों के कारण मनुष्य और जानवरों के बीच उत्पन्न टकराव।

11.11 अभ्यास प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. भारत की प्राकृतिक विरासत के संरक्षण में आने वाली प्रमुख चुनौतियों का विश्लेषण कीजिए।
2. भारत सरकार द्वारा प्राकृतिक विरासत संरक्षण के लिए किए गए प्रमुख प्रयासों की विवेचना कीजिए।
3. गैर-सरकारी संगठनों की भूमिका प्राकृतिक संसाधन संरक्षण में कैसे सहायक रही है? विस्तार से बताएं।

11.12 संदर्भ-ग्रंथ सूची

1. MoEFCC, Government of India. State of Forest Report, Forest Survey of India.
2. Rangarajan, Mahesh. India’s Wildlife History.
5. WWF–India Publications on Biodiversity Conservation.
6. National Biodiversity Authority (NBA) Reports.
7. UNESCO, Man and Biosphere Programme Documents.
8. IUCN Reports on India’s Biodiversity.
9. Majumdar, R.C., Natural Heritage of India.

इकाई बारह

भारत की प्राकृतिक विरासत – पारंपरिक चिकित्सा एवं उपचार

इकाई की संरचना

12.0 प्रस्तावना
12.1 अधिगम उद्देश्य
12.2 भारत की प्राकृतिक विरासत : एक परिचय
12.3 पारंपरिक चिकित्सा की अवधारणा
12.4 आयुर्वेद
12.5 सिद्ध चिकित्सा
12.6 यूनानी चिकित्सा
12.7 तिब्बती/सो-रिग्पा चिकित्सा
12.8 लोक चिकित्सा
12.9 आदिवासी चिकित्सा परंपराएँ
12.10 योग और स्वास्थ्य
12.11 प्रकृति–चिकित्सा
12.12 आधुनिक संदर्भ में पारंपरिक चिकित्सा
12.13 चुनौतियाँ और संभावनाएँ
12.14 सारांश
12.15 प्रमुख शब्दावली
12.16 अभ्यास प्रश्न
12.17 संदर्भ सूची

12.0 परिचय

भारत विश्व की उन प्राचीन सभ्यताओं में से एक है, जहाँ प्रकृति केवल पर्यावरणीय संपदा नहीं, बल्कि जीवन और स्वास्थ्य का आधार मानी गई है। भारतीय समाज ने हजारों वर्षों की सांस्कृतिक यात्रा में यह विश्वास विकसित किया कि मानव-शरीर, प्रकृति और ब्रह्मांड एक-दूसरे से गहरे रूप से जुड़े हुए हैं। इसी दृष्टिकोण ने भारत में एक ऐसी चिकित्सा परंपरा को जन्म दिया, जो प्राकृतिक संसाधनों, औषधीय पौधों, खनिजों, जलवायु और जीवन-शैली के संतुलन पर आधारित है। यह इकाई इसी समृद्ध परंपरा की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और बौद्धिक नींव को समझने का प्रयास करती है।

भारत का प्राकृतिक परिदृश्य अत्यंत विविध है—हिमालय के हिमनदों से लेकर पश्चिमी घाट के वर्षावनों और अरण्यक क्षेत्रों तक। प्रत्येक भौगोलिक क्षेत्र ने स्थानीय समुदायों को विशिष्ट औषधीय ज्ञान प्रदान किया। आयुर्वेद, सिद्ध, यूनानी और तिब्बती सowa-रिग्पा जैसी प्रणालियाँ इसी भौगोलिक-सांस्कृतिक विविधता की उपज हैं। इन चिकित्सा पद्धतियों ने न केवल रोगों का उपचार किया, बल्कि जीवन का एक समग्र दर्शन भी प्रस्तुत किया, जो शरीर, मन और आत्मा को समान महत्व देता है।

भारत की पारंपरिक चिकित्सा केवल ग्रंथों तक सीमित नहीं रही, बल्कि यह लोक और आदिवासी समुदायों के अनुभवजन्य ज्ञान में भी गहराई से जमी हुई है। गाँवों, हिमालयी बस्तियों और जनजातीय क्षेत्रों में विकसित घरेलू उपचार, जड़ी-बूटी आधारित नुस्खे और ओझा-गुणी परंपराएँ इस ज्ञान-समृद्धि का महत्वपूर्ण हिस्सा हैं। यह चिकित्सा लोक-संस्कृति का एक जीवित विरासत है, जिसकी जड़ें प्रकृति के साथ समुदायों के प्रत्यक्ष संबंध में निहित हैं।

समकालीन समय में भी इन परंपराओं की उपयोगिता बनी हुई है। AYUSH मंत्रालय, औषधीय पौधों पर वैज्ञानिक अनुसंधान, योग और आयुर्वेद की वैश्विक लोकप्रियता इस बात को दर्शाती है कि पारंपरिक चिकित्सा आज भी स्वास्थ्य-चिंतन में प्रासंगिक है। साथ ही, आधुनिक जीवन-शैली से उत्पन्न तनाव, असंतुलित आहार और पर्यावरणीय चुनौतियों ने प्राकृतिक और समग्र उपचार की ओर आकर्षण बढ़ाया है। इस प्रकार, पारंपरिक चिकित्सा आधुनिक चिकित्सा का विकल्प या प्रतिस्पर्धी न होकर एक पूरक व्यवस्था के रूप में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

इस इकाई का उद्देश्य भारत की प्राकृतिक विरासत और पारंपरिक चिकित्सा प्रणालियों के बीच संबंध को स्पष्ट करना है। हम यह समझने का प्रयास करेंगे कि किस प्रकार विविध भौगोलिक परिस्थितियों, जैव-विविधता और सांस्कृतिक अनुभवों ने उपचार की विविध पद्धतियों को जन्म दिया। आगे की उप-इकाइयों में हम प्रमुख चिकित्सा प्रणालियों, लोक-आदिवासी उपचार परंपराओं, योग एवं प्रकृति-चिकित्सा और उनकी समकालीन प्रासंगिकता का अध्ययन करेंगे। इस अध्ययन से विद्यार्थी न केवल भारत की प्राचीन स्वास्थ्य-दृष्टि को समझ पाएँगे, बल्कि प्रकृति-आधारित उपचार की वैज्ञानिकता और व्यवहारिकता का मूल्यांकन भी कर सकेंगे।

12.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप निम्नलिखित उद्देश्यों को प्राप्त कर सकेंगे—

- भारत की प्राकृतिक विरासत और पारंपरिक चिकित्सा परंपराओं के बीच संबंध को समझना।
  आप यह पहचान सकेंगे कि किस प्रकार भौगोलिक विविधता, जलवायु, जैव-विविधता और प्राकृतिक संसाधनों ने भारतीय उपचार प्रणालियों को आकार दिया।

- भारत की प्रमुख पारंपरिक चिकित्सा पद्धतियों का परिचय प्राप्त करना।
  आयुर्वेद, सिद्ध, यूनानी, तिब्बती (सowa-रिग्पा) चिकित्सा जैसी प्रणालियों की मूल अवधारणाओं, सिद्धांतों और उपचार पद्धतियों का विवेचन कर सकेंगे।

- लोक और आदिवासी चिकित्सा ज्ञान की विशेषताओं को समझना।
  घरेलू नुस्खों, जनजातीय औषधीय ज्ञान, ओझा–गुणी परंपरा और जड़ी-बूटी आधारित लोक उपचारों के महत्व का विश्लेषण कर सकेंगे।

- योग, प्रकृति-चिकित्सा और अन्य प्राकृतिक उपचारों की भूमिका का अध्ययन करना।
  आप आधुनिक स्वास्थ्य-चिंतन में योग, प्राणायाम, प्राकृतिक आहार, जल-चिकित्सा, सूर्य और मिट्टी उपचार जैसी पद्धतियों की उपयोगिता को स्पष्ट कर पाएँगे।

- समकालीन संदर्भ में पारंपरिक चिकित्सा की चुनौतियों और संभावनाओं का मूल्यांकन करना।
  औषधीय पौधों के संरक्षण, वैज्ञानिक परीक्षण, वैश्विक स्वीकृति, नीतिगत पहल (AYUSH) और व्यावसायीकरण जैसी प्रक्रियाओं को आलोचनात्मक दृष्टि से देख सकेंगे।

- इन उद्देश्यों के माध्यम से विद्यार्थी भारत की पारंपरिक चिकित्सा परंपराओं को केवल ऐतिहासिक दृष्टि से ही नहीं, बल्कि एक जीवित और विकसित होती हुई स्वास्थ्य-प्रणाली के रूप में भी समझ पाएँगे।

12.2 भारत की प्राकृतिक विरासत : एक परिचय

भारत विश्व के उन कुछ देशों में शामिल है, जहाँ प्राकृतिक विविधता अत्यंत समृद्ध, विस्तृत और बहुआयामी रूप में विद्यमान है। हिमालय की ऊँची पर्वतमालाओं से लेकर तटीय मैदानों, गंगा-ब्रह्मपुत्र के उपजाऊ क्षेत्रों, पश्चिमी घाट के वर्षावनों और मरुस्थलीय भू-भागों तक, यहाँ का भौगोलिक विस्तार अनेक प्रकार के पारिस्थितिक तंत्रों का निर्माण करता है। यह भौगोलिक विविधता ही भारत को जैव-विविधता के वैश्विक 'हॉटस्पॉट' में स्थान दिलाती है। इसी कारण यहाँ हजारों प्रकार की जड़ी-बूटियाँ, औषधीय पौधे, वृक्ष, खनिज और प्राकृतिक संसाधन उपलब्ध हैं, जिनका उपयोग प्राचीन काल से स्वास्थ्य और उपचार के मूल स्रोत के रूप में किया जाता रहा है।

भारत की प्राकृतिक विरासत का सबसे महत्वपूर्ण अंग इसकी औषधीय वनस्पति परंपरा है। लगभग 6,000 से अधिक जड़ी-बूटियाँ भारतीय चिकित्सा ग्रंथों—चरक संहिता, सुश्रुत संहिता, भावप्रकाश, नागार्जुन के निघण्टु आदि—में वर्णित मिलती हैं। हिमालय, अरावली, विंध्य, पश्चिमी घाट और उत्तर-पूर्व भारत जैसे क्षेत्रों को औषधीय पौधों के प्रमुख केंद्र माना जाता है। भारत की जलवायु—उष्णकटिबंधीय, उपोष्णकटिबंधीय, समशीतोष्ण और शुष्क—विभिन्न प्रकार की औषधीय प्रजातियों को पनपने का अवसर प्रदान करती है।

प्राकृतिक विरासत केवल वनस्पतियों तक सीमित नहीं है। भारतीय चिकित्सा परंपराओं में जल-स्रोत, मिट्टी, खनिज, धातुएँ और जलवायु भी उपचार प्रक्रिया का अंग रहे हैं। आयुर्वेद में जल की शुद्धि, तापमान, मिट्टी के गुण, धातु-भस्म, सूर्य-प्रकाश और ऋतु-चक्र का विस्तृत वर्णन मिलता है। प्रकृति-चिकित्सा (Naturopathy) में सूर्य, वायु, मिट्टी, जल और प्राकृतिक आहार को उपचार का आधार माना जाता है। यह दर्शाता है कि भारतीय चिकित्सा का आधार प्रकृति के तत्वों और उनकी स्वाभाविक शक्तियों पर गहरा विश्वास है।

भारत की यह प्राकृतिक संपदा केवल औपचारिक चिकित्सा परंपराओं (आयुर्वेद, सिद्ध, यूनानी, तिब्बती आदि) तक सीमित नहीं रही, बल्कि इसके समानांतर लोक-जीवन में भी एक विशाल लोक एवं आदिवासी चिकित्सा-ज्ञान विकसित हुआ। जनजातीय समुदायों ने सदियों के अनुभव से यह समझ विकसित की कि कौन-सी जड़ी किस रोग में उपयोगी है, किस वृक्ष की छाल से बुखार ठीक होता है, कौन-सी जड़ी विषनाशक है और कौन-सी हड्डियों के जुड़ाव में सहायक। यह ज्ञान पीढ़ी-दर-पीढ़ी मौखिक रूप से आगे बढ़ता रहा और आज भी भारतीय समाज की अमूल्य धरोहर है।

संक्षेप में, भारत की प्राकृतिक विरासत स्वास्थ्य-चिंतन का आधार रही है। विविध भू-आकृतियाँ, जलवायु, जैव-विविधता और प्राकृतिक संसाधनों ने न केवल चिकित्सा प्रणालियों को आकार दिया, बल्कि मनुष्य और प्रकृति के बीच संतुलित संबंध को बनाए रखा। यही कारण है कि पारंपरिक चिकित्सा आज भी भारत की सांस्कृतिक स्मृति और वैज्ञानिक धरोहर दोनों के रूप में महत्वपूर्ण स्थान रखती है।

12.3 पारंपरिक चिकित्सा की अवधारणा

पारंपरिक चिकित्सा से तात्पर्य उन उपचार पद्धतियों से है, जो किसी समाज या सभ्यता में लंबे ऐतिहासिक अनुभव, सांस्कृतिक परंपरा और प्राकृतिक परिवेश के आधार पर विकसित हुई हैं। यह उपचार प्रणाली केवल रोगों के उपचार तक सीमित नहीं होती, बल्कि जीवन को एक समग्र (Holistic) दृष्टि से देखने वाली जीवन-शैली भी मानी जाती है। भारत में पारंपरिक चिकित्सा की अवधारणा प्रकृति से गहरे संबंध, मानव-शरीर के संतुलन और जीवन के

नैतिक-आध्यात्मिक पक्षों के संयोजन से निर्मित हुई है।

पारंपरिक चिकित्सा का एक केंद्रीय सिद्धांत है—शरीर, मन और प्रकृति का संतुलन। भारतीय उपचार ग्रंथों में स्वास्थ्य (स्वास्थ्य) को शरीर की सम्यक अवस्था, मन की प्रसन्नता और आत्मा की स्थिरता का संयोग माना गया है। आयुर्वेद इसे "समदोषः, समाग्निश्च, समधातु मलक्रियः" के रूप में परिभाषित करता है, अर्थात् शरीर के तत्वों, पाचन-क्रिया, धातुओं और मल का सामंजस्य ही स्वास्थ्य है। सिद्ध और यूनानी चिकित्सा भी इसी प्रकार 'रस', 'दोष', 'ह्यूमर' या 'तत्वों' के संतुलन को स्वास्थ्य का मूल मानती हैं।

दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता है कि पारंपरिक चिकित्सा प्रकृति-आधारित होती है। इसमें जड़ी-बूटियों, पौधों के विभिन्न भागों, खनिजों, धातुओं, पशु-उत्पादों, जलवायु, ऋतुओं और प्राकृतिक तत्वों (जल, सूर्य, वायु, मिट्टी) का प्रयोग किया जाता है। यह उपचार प्रकृति के गुणों के अनुरूप होता है और शरीर को उसकी स्वाभाविक दशा में संतुलित करने का कार्य करता है। यही कारण है कि लोक और आदिवासी चिकित्सा का आधार प्राकृतिक संसाधन और स्थानीय पारिस्थितिकी होती है।

पारंपरिक चिकित्सा की तीसरी विशेषता यह है कि यह अनुभवजन्य (empirical) तथा सांस्कृतिक दोनों प्रकार के ज्ञान पर आधारित है। इसकी अनेक अवधारणाएँ सदियों के उपचार-अनुभव, रोगों के अवलोकन, समुदायों की जीवन-शैली और सामाजिक मान्यताओं से बनीं। उपचार पद्धतियाँ अक्सर स्थानीय संस्कृति, विश्वास प्रणालियों और सामाजिक संरचना से जुड़ी होती हैं। कई बार ओझा–गुणी, हकीम, वैद्य या तांत्रिक जैसी संस्थाएँ इस ज्ञान को संरक्षित रखती हैं।

चौथी विशेषता यह है कि पारंपरिक चिकित्सा रोग-निवारक (Preventive) और स्वास्थ्य-रक्षक (Promotive) होती है। इसमें जीवन-शैली, आहार-विहार, दिनचर्या, ऋतुचर्या, योग, शुद्धिकरण प्रक्रियाओं और मानसिक संतुलन पर विशेष बल दिया जाता है। आधुनिक चिकित्सा जहाँ मुख्यतः रोग के बाद उपचार पर केंद्रित रहती है, वहीं भारतीय पारंपरिक चिकित्सा पहले से ही शरीर को सुदृढ़ और संतुलित रखने पर ध्यान देती है।

अंततः, पारंपरिक चिकित्सा की अवधारणा आधुनिक समय में केवल वैकल्पिक चिकित्सा (Alternative Medicine) के रूप में ही नहीं, बल्कि पूरक (Complementary) और समग्र (Integrative) स्वास्थ्य प्रणाली के रूप में भी स्थापित हो रही है। भारत की उपचार परंपराएँ—आयुर्वेद, सिद्ध, यूनानी, तिब्बती और लोक चिकित्सा—आज वैश्विक स्तर पर अध्ययन और अनुसंधान का महत्वपूर्ण विषय बन चुकी हैं, जो यह संकेत देती हैं कि पारंपरिक चिकित्सा की अवधारणा भविष्य की स्वास्थ्य-चर्चाओं में भी निर्णायक स्थान रखेगी।

12.4 आयुर्वेद

आयुर्वेद भारत की सबसे प्राचीन और विकसित चिकित्सा प्रणालियों में से एक है, जिसका इतिहास वैदिक काल तक पहुंचता है। "आयुर्वेद" शब्द दो भागों से मिलकर बना है—आयुस् (जीवन) और वेद (ज्ञान), अर्थात् जीवन का विज्ञान। इसका मूल उद्देश्य स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा करना तथा रोगी के रोग का निवारण करना है। चरक संहिता, सुश्रुत संहिता और अष्टांग हृदयम् जैसे ग्रंथ आयुर्वेद के मूल आधार हैं, जिन्होंने न केवल औषध-चिकित्सा का विकास किया, बल्कि शास्त्रीय चिकित्सा के व्यवस्थित ढांचे की भी स्थापना की।

आयुर्वेद का एक केंद्रीय सिद्धांत है—पंचमहाभूत सिद्धांत, जिसके अनुसार सम्पूर्ण सृष्टि पाँच तत्वों (आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी) से बनी है। मानव-शरीर भी इन्हीं तत्वों का संयोजन है, और इनका संतुलन ही स्वास्थ्य को सुनिश्चित करता है। इसी प्रकार आयुर्वेद का दूसरा मूल सिद्धांत है—त्रिदोष सिद्धांत: वात, पित्त और कफ। ये तीनों दोष शरीर की समस्त जैव-क्रियाओं को नियंत्रित करते हैं। जब इनमें असंतुलन उत्पन्न होता है, तभी रोग पैदा होते हैं। अतः चिकित्सा का लक्ष्य इन दोषों को संतुलित करना होता है।

आयुर्वेद में उपचार की पद्धतियाँ अत्यंत व्यापक और व्यवस्थित हैं। इसमें औषधीय जड़ी-बूटियों, धातुओं एवं खनिजों पर आधारित दवाओं, आहार-विहार, दिनचर्या (Daily Regimen), ऋतुचर्या (Seasonal Regimen) और रोगानुसार जीवन-शैली का विशेष महत्व है। आयुर्वेद केवल दवाओं से ही रोग का उपचार नहीं करता, बल्कि पूरे जीवन को संतुलित और सामंजस्यपूर्ण बनाने पर बल देता है। दोष-प्रकृति, अग्नि, धातु, मल, ओजस आदि अवधारणाएँ शरीर और स्वास्थ्य की सूक्ष्म समझ प्रस्तुत करती हैं।

आयुर्वेद का एक अत्यंत महत्वपूर्ण अध्याय है पंचकर्म चिकित्सा—एक विशेष शोधन-प्रणाली, जिसके अंतर्गत वमन, विरेचन, बस्ति, रक्तमोक्षण और नस्य जैसी प्रक्रियाएँ आती हैं। इन प्रक्रियाओं का उद्देश्य शरीर को विषाक्त पदार्थों से मुक्त कर, दोषों का शोधन और पुनर्संतुलन करना है। पंचकर्म आज भी भारत और विदेशों में अत्यधिक लोकप्रिय है और इसे उच्चस्तरीय स्वास्थ्य-उपचार के रूप में अपनाया जा रहा है।

समकालीन समय में आयुर्वेद का महत्व लगातार बढ़ रहा है। आयुर्वेद पर आधारित औषधियाँ, स्वास्थ्य-उत्पाद, पंचकर्म केंद्र, योग-आधारित स्वास्थ्य कार्यक्रम, वेलनेस उद्योग और बीमारियों के समग्र उपचार मॉडल इसकी प्रासंगिकता को सिद्ध करते हैं। AYUSH मंत्रालय द्वारा किए जा रहे अनुसंधान, औषधीय पौधों के संरक्षण के प्रयास और वैश्विक स्तर पर आयुर्वेद की मांग यह दर्शाती है कि यह परंपरा आधुनिक स्वास्थ्य-व्यवस्था में एक सशक्त पूरक प्रणाली के रूप में स्थापित हो चुकी है। इस प्रकार आयुर्वेद भारत की प्राकृतिक विरासत और चिकित्सा-ज्ञान का एक जीवंत और वैज्ञानिक रूप से समृद्ध स्वरूप प्रस्तुत करता है।

12.5 सिद्ध चिकित्सा

सिद्ध चिकित्सा दक्षिण भारत, विशेषतः तमिलनाडु में विकसित एक प्राचीन और समृद्ध चिकित्सा परंपरा है। यह भारत की द्रविड़ परंपरा, योग-साधना और तमिल सिद्धों के दार्शनिक ज्ञान पर आधारित है। "सिद्ध" शब्द उस व्यक्ति के लिए प्रयोग होता है जिसने साधना, तप और योग के माध्यम से उच्च ज्ञान या 'सिद्धि' प्राप्त की हो। सिद्ध चिकित्सा की नींव इडैयनार, अगस्त्य, भोगर, तिरुमूलर जैसे महान सिद्धों के अनुभवजन्य और आध्यात्मिक ज्ञान पर टिकी है, जिन्होंने चिकित्सा, रसायन विज्ञान, योग और धातु-विज्ञान का व्यवस्थित विकास किया।

सिद्ध चिकित्सा का मूल सिद्धांत भी पंचतत्व—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—पर आधारित है, जिन्हें शरीर की कार्यप्रणाली का आधार माना जाता है। इसके साथ ही यह तीन "उपदोष"—वात, पित्त और कफ—को शरीर के संतुलन के केंद्र में रखता है। सिद्ध ग्रंथों में इन तत्वों के असंतुलन से उत्पन्न विभिन्न रोगों का विस्तृत विवरण मिलता है। इस प्रकार सिद्ध चिकित्सा शरीर को एक सूक्ष्म-ऊर्जा तंत्र के रूप में देखती है, जिसमें तत्वों, दोषों और जीवन-ऊर्जा (प्राण शक्ति) का संतुलन स्वास्थ्य का आधार होता है।

सिद्ध चिकित्सा की एक विशिष्ट विशेषता इसका रसायन (Alchemy) और धातु- एवं खनिज-आधारित उपचार है। सिद्धों ने धातुओं, खनिजों और औषधीय पदार्थों को शुद्ध करने, परिष्कृत करने और भस्म बनाने की अत्यंत उन्नत प्रक्रियाएँ विकसित कीं। भोगर सिद्ध की प्रसिद्ध 'कायाकल्प' पद्धतियाँ, धातु-भस्म, विष-चिकित्सा और खनिज योग सिद्ध चिकित्सा की विशिष्ट उपलब्धियाँ मानी जाती हैं। साथ ही, सिद्ध चिकित्सा में मूलिकै (जड़ी-बूटी), थथुवम (खनिज और धातुएँ), और जिवम (पशु-आधारित द्रव्य) तीन प्रमुख औषधीय वर्ग माने जाते हैं।

सिद्ध प्रणाली का एक महत्वपूर्ण पहलू है योग और कायाकल्प। सिद्ध साधकों ने शरीर की शुद्धि, मानसिक स्थिरता और दीर्घायु प्राप्त करने के लिए योग, प्राणायाम, ध्यान और कायाकल्प विधियों का विकास किया। सिद्ध योग शरीर को ऊर्जावान बनाने और दीर्घायु प्राप्त करने पर केंद्रित है। तिरुमूलर जैसे सिद्ध योगियों ने शरीर और चेतना के संबंध, नाड़ी-तंत्र और चक्र-धारणा पर महत्वपूर्ण ग्रंथ लिखे। यही कारण है कि सिद्ध चिकित्सा केवल औषधीय उपचार नहीं, बल्कि एक पूर्ण जीवन-दर्शन मानी जाती है।

आधुनिक समय में सिद्ध चिकित्सा को तमिलनाडु और दक्षिण भारतीय राज्यों में व्यापक रूप से अपनाया जा रहा है। AYUSH मंत्रालय द्वारा सिद्ध चिकित्सा के लिए पृथक संस्थान, चिकित्सा कॉलेज, फॉर्माकोपिया, अनुसंधान केंद्र और औषध-उद्यान स्थापित किए जा रहे हैं। कई रोगों—विशेषकर त्वचा रोगों, गठिया, दीर्घकालिक दर्द, श्वसन संबंधी समस्याओं और कायाकल्प उपचार—में सिद्ध चिकित्सा ने लाभकारी परिणाम दिए हैं। इस प्रकार सिद्ध चिकित्सा भारत की पारंपरिक चिकित्सा विरासत का एक अनोखा रूप है, जो अनुभवजन्य ज्ञान, रसायन-विद्या, योग परंपरा और प्राकृतिक उपचार का अद्वितीय समन्वय प्रस्तुत करती है।

12.6 यूनानी चिकित्सा

यूनानी चिकित्सा, जिसे "तिब्ब-ए-यूनानी" भी कहा जाता है, भारत में एक विशिष्ट और ऐतिहासिक रूप से समृद्ध पारंपरिक चिकित्सा प्रणाली के रूप में स्थापित है। इसका मूल स्रोत प्राचीन ग्रीक विद्वानों—विशेष रूप से हिप्पोक्रेटीस और गैलेन—की चिकित्सा परंपरा है। बाद में इस प्रणाली का विकास अरबी-फारसी चिकित्सकों जैसे इब्न-सीना (अविसेना) ने किया, जिनकी प्रसिद्ध पुस्तक कानून-ए-तिब्ब यूनानी चिकित्सा की आधारशिला मानी जाती है। मध्यकाल में यह चिकित्सा पद्धति भारत आई और दिल्ली सल्तनत तथा मुगल शासन के समय यह एक सुव्यवस्थित उपचार प्रणाली के रूप में स्थापित हो गई। आज भी यह भारतीय पारंपरिक चिकित्सा का महत्वपूर्ण हिस्सा है।

यूनानी चिकित्सा का मूल सिद्धांत चार रसों (Humours) का सिद्धांत है—दम (Blood), बलगम (Phlegm), सफरा (Yellow Bile), और सौदा (Black Bile)। हिप्पोक्रेटिक सिद्धांत के अनुसार, स्वास्थ्य इन चार रसों के सही संतुलन पर आधारित है। जब शरीर में इनमें से किसी एक रस की अधिकता या कमी हो जाती है, तो रोग उत्पन्न होते हैं। चिकित्सक (हकीम) रोगी के शरीर-स्वभाव (Mizaj), मौसम, आहार और जीवन-शैली का विश्लेषण करके उपचार और औषधि निर्धारित करता है। यह प्रणाली शरीर को एक "तापीय और तरलीय संतुलन" वाले जीवित तंत्र के रूप में देखती है।

यूनानी चिकित्सा में उपचार की तीन प्रमुख पद्धतियाँ मानी जाती हैं—

1. इलाज-बिल-तदबीर (Regimenal Therapy)
   इसमें दवा के बिना शरीर को संतुलित करने वाली प्रक्रियाएँ आती हैं, जैसे – हिजामा (cupping), दलक (massage), भाप-स्नान, व्यायाम, फसद (bloodletting), और आराम।

2. इलाज-बिल-गिज़ा (Dietotherapy)
   रोग के अनुसार भोजन का चयन, भोजन के गुणों के आधार पर उपचार, और पाचन-शक्ति को सुदृढ़ करने की प्रक्रिया।

3. इलाज-बिल-दवा (Pharmacotherapy)
   इसमें जड़ी-बूटियों, खनिजों, वनस्पतियों और प्राकृतिक पदार्थों का मिश्रण बनाकर औषधियाँ तैयार की जाती हैं। यूनानी औषध-विज्ञान अत्यंत समृद्ध है और "मुफरदात" (एकल औषधियाँ) तथा "मुरक्कबात" (संयोजित औषधियाँ) इसका आधार हैं।

यूनानी चिकित्सा रोग-उपचार को केवल शारीरिक प्रक्रिया नहीं मानती, बल्कि मिज़ाज (Temperament) को मानव-स्वास्थ्य का केंद्र बिंदु मानती है। प्रत्येक व्यक्ति का मिज़ाज—गरम, सर्द, तर, या खुश्क—उसकी शारीरिक, मानसिक और पाचन संबंधी विशेषताओं को निर्धारित करता है। इसी कारण उपचार भी व्यक्ति-विशेष के अनुरूप होता है। यह व्यक्तिगत चिकित्सा (Personalized Medicine) की एक अत्यंत प्राचीन पद्धति है, जिसका आधुनिक विज्ञान भी समर्थन करने लगा है।

समकालीन भारत में यूनानी चिकित्सा AYUSH प्रणाली का एक महत्वपूर्ण स्तंभ है। देश भर में यूनानी मेडिकल कॉलेज, अनुसंधान केंद्र, औषधालय और हकीमों की पारंपरिक वंशानुगत शृंखला इस प्रणाली को जीवित बनाए हुए है। त्वचा रोग, पाचन-तंत्र विकार, गठिया, नाड़ी-रोग, कमजोरी और दीर्घकालिक रोगों में यूनानी चिकित्सा के परिणाम विशेष रूप से उल्लेखनीय माने जाते हैं। आज जब विश्व प्राकृतिक और समग्र स्वास्थ्य मॉडलों की ओर बढ़ रहा है, यूनानी चिकित्सा अपनी प्राचीन परंपरा, संतुलन सिद्धांत और समग्र दृष्टि के कारण एक महत्त्वपूर्ण उपचार-विकल्प के रूप में उभर रही है।

12.7 तिब्बती चिकित्सा (Sowa-Rigpa)

तिब्बती चिकित्सा, जिसे सोवा-रिग्पा (Sowa-Rigpa) के नाम से जाना जाता है, भारत की पारंपरिक चिकित्सा प्रणालियों में एक महत्वपूर्ण और प्राचीन स्थान रखती है। "सोवा-रिग्पा" का अर्थ है—'उपचार का विज्ञान' या 'स्वास्थ्य का ज्ञान'। यह चिकित्सा प्रणाली हिमालयी क्षेत्रों—लद्दाख, अरुणाचल प्रदेश, सिक्किम, हिमाचल प्रदेश तथा तिब्बत—में विकसित हुई और आज भी स्थानीय समुदायों के बीच गहराई से प्रचलित है। सोवा-रिग्पा भारत की प्राकृतिक, आध्यात्मिक और चिकित्सा विरासत का एक अनोखा संगम है।

सोवा-रिग्पा का दार्शनिक आधार बौद्ध, आयुर्वेद, ग्रीक-यूनानी और मध्य एशियाई परंपराओं के ज्ञान का सम्मिश्रण है। इसका मूल ग्रंथ ग्यु-ज़ी (Four Tantras) माना जाता है, जिसमें शरीर, रोग, निदान, उपचार और औषध विज्ञान का विस्तृत वर्णन है। सोवा-रिग्पा में शरीर को 'रल्युग' (Wind / Lung), 'तिक' (Bile / Tripa) और 'बेकन' (Phlegm / Beken)—इन तीन ऊर्जात्मक तत्वों के संतुलन पर आधारित माना जाता है। जब इन तत्वों में असंतुलन होता है, तब रोग उत्पन्न होते हैं। यह दृष्टि आयुर्वेद के त्रिदोष सिद्धांत से मिलती-जुलती है, पर इसमें स्थानीय भौगोलिक और सांस्कृतिक विशेषताएँ भी समाहित हैं।

तिब्बती चिकित्सा का सबसे महत्वपूर्ण भाग है इसका औषध विज्ञान, जिसमें 300 से अधिक औषधीय पौधों का वर्णन मिलता है। हिमालयी क्षेत्र विशेष रूप से औषधीय जड़ी-बूटियों—सनो, कुटकी, जटामांसी, पद्मक, रतंजोत, एंजेलिका आदि—के लिए प्रसिद्ध है। सोवा-रिग्पा में औषधियाँ तैयार करने की प्रक्रिया अत्यंत वैज्ञानिक और

श्रमसाध्य होती है। इनमें पौधों के साथ खनिज, धातु और पशु-जन्य पदार्थों का भी उपयोग किया जाता है। औषध तैयार करते समय मौसम, चंद्र-चक्र, पौधा-संग्रह का समय और विधि का विशेष ध्यान रखा जाता है।

उपचार पद्धतियों में मोक्सीबशन (Moxibustion), कपिंग, तिब्बती मसाज, सुगंध-चिकित्सा, गर्म पत्थरों द्वारा उपचार, रक्तस्राव, भाप उपचार और भोजन-थैरैपी शामिल हैं। रोग के निदान में नाड़ी-परीक्षण, मूत्र-परीक्षण, रोगी के स्वभाव, जलवायु और उसकी मानसिक स्थिति का भी महत्वपूर्ण स्थान है। सोवा-रिग्पा शरीर और मन को अविभाज्य मानकर कार्य करती है, जिसमें आध्यात्मिकता और ध्यान (Meditation) का विशेष महत्व है। इसके चिकित्सक, जिन्हें 'अमची' कहा जाता है, आज भी हिमालयी समाज में मुख्य स्वास्थ्य-सेवाएँ प्रदान करते हैं।

समकालीन भारत में सोवा-रिग्पा को औपचारिक मान्यता प्राप्त है और यह AYUSH मंत्रालय का हिस्सा है। लद्दाख, तवांग (अरुणाचल), गंगटोक, धर्मशाला और दिल्ली में इसके शिक्षण एवं अनुसंधान केंद्र स्थापित हैं। आधुनिक समय में तनाव, चिंता, अनियमित जीवनशैली और जलवायु संबंधी रोगों में सोवा-रिग्पा को प्रभावी माना जा रहा है। यह प्रणाली न केवल औषधीय दृष्टि से महत्वपूर्ण है, बल्कि हिमालयी प्राकृतिक वातावरण, सांस्कृतिक अध्यात्म और अनुभवजन्य ज्ञान की अनूठी विरासत को भी संरक्षित करती है।

इस प्रकार सोवा-रिग्पा भारत की प्राकृतिक चिकित्सा परंपराओं का एक महत्वपूर्ण स्तंभ है, जो हिमालयी समुदायों की जीवन-पद्धति, जैव-विविधता और आध्यात्मिक जीवन-दर्शन को समाहित करते हुए एक समग्र उपचार प्रणाली का निर्माण करता है।

12.8 लोक चिकित्सा

लोक चिकित्सा भारत की पारंपरिक स्वास्थ्य–संस्कृति का वह महत्वपूर्ण भाग है, जो वैज्ञानिक पद्धतियों के औपचारिक विकास से बहुत पहले ग्रामीण और जनजातीय समुदायों के अनुभवों, अवलोकनों और प्रकृति–आधारित ज्ञान पर टिका हुआ है। यह चिकित्सा पद्धति स्थानीय पर्यावरण, जल–वायु, सामाजिक संरचना और उपलब्ध प्राकृतिक संसाधनों पर आधारित होती है। इसलिए लोक उपचार पद्धतियाँ क्षेत्र–विशिष्ट, व्यावहारिक और समुदाय की दैनिक जीवन–पद्धति से गहराई से जुड़ी होती हैं।

लोक चिकित्सा की सबसे प्रमुख विशेषता इसकी अनुभवजन्य प्रकृति है। रोगों को समझने और उनके उपचार का ज्ञान पीढ़ियों तक परिवारों और समुदायों के भीतर मौखिक परंपरा के माध्यम से संप्रेषित होता रहा है। जड़ी-बूटियों, पौधों की जड़ों, पत्तियों, छाल, बीजों, फूलों और प्राकृतिक खनिजों का उपयोग भारतीय लोक चिकित्सा की रीढ़ माना जाता है। ग्रामीण क्षेत्रों में पाए जाने वाले वैद्य, ओझा, भगत, देवरी, नाई, दाई और हकीम जैसे पारंपरिक स्वास्थ्य–सेवा प्रदाता अपने अनुभव और स्थानीय संसाधनों पर आधारित उपचार देते रहे हैं।

लोक चिकित्सा में उपचार केवल शारीरिक रोगों तक सीमित नहीं है; इसमें मानसिक, आध्यात्मिक और सामाजिक पहलुओं को भी शामिल किया जाता है। कई जनजातीय समूह रोगों को अलौकिक शक्तियों, ऋतु-परिवर्तन, पितृ-देवताओं या समुदाय में किसी असंतुलन से जोड़कर देखते हैं। ऐसे में उपचार के साथ अनुष्ठान, मंत्र, पूजा, धूप–धुआँ और सामुदायिक सहभागिता भी स्वास्थ्य पुनर्स्थापन का हिस्सा बन जाते हैं।

भारत के विभिन्न भागों में लोक चिकित्सा की समृद्ध परंपराएँ विद्यमान हैं—उत्तराखंड और हिमालयी क्षेत्रों की जड़ी-बूटी आधारित उपचार पद्धतियाँ, राजस्थान और कच्छ के मरुस्थलीय औषधीय ज्ञान, मध्य भारत की गोंड–भील जनजातियों का वन-आधारित औषधीय ज्ञान, तथा दक्षिण भारत के ग्रामीण समुदायों की स्थानीय वनस्पतियों पर आधारित चिकित्सा—ये सभी भारतीय लोक ज्ञान की विविधता को दर्शाते हैं। कई ऐसे पौधे, जिन्हें आधुनिक विज्ञान ने औषधीय माना है, सदियों से लोक चिकित्सा में उपयोग किए जाते रहे हैं।

आज लोक चिकित्सा अनेक चुनौतियों का सामना कर रही है—औषधीय पौधों की कमी, नगरीकरण, पारंपरिक ज्ञान का लुप्त होना और युवाओं का इसके प्रति घटता रुझान। फिर भी, AYUSH मंत्रालय की पहल, समुदाय-आधारित दस्तावेज़ीकरण, औषधीय पौधों के उद्यानों की स्थापना और जंगल–आधारित आजीविका कार्यक्रमों ने इस ज्ञान को पुनर्जीवित करने में प्रमुख भूमिका निभाई है। लोक चिकित्सा भारत की प्राकृतिक और सांस्कृतिक विरासत का जीवंत प्रतीक है। यह ज्ञान–परंपरा केवल उपचार नहीं, बल्कि मनुष्य और प्रकृति के बीच सह-अस्तित्व के दर्शन को भी अभिव्यक्त करती है।

12.9 आदिवासी चिकित्सा परंपराएँ

भारत की आदिवासी चिकित्सा परंपराएँ प्राकृतिक परिवेश, सामुदायिक अनुभव और पीढ़ी-दर-पीढ़ी संचित औषधीय ज्ञान का अद्भुत संगम हैं। ये परंपराएँ केवल उपचार की तकनीकें नहीं, बल्कि जीवन–दर्शन, प्रकृति–संबंध और सामुदायिक स्वास्थ्य–व्यवस्था की एक सशक्त अभिव्यक्ति हैं। जनजातीय क्षेत्रों की भौगोलिक परिस्थितियाँ—घने वन, पहाड़ी ढलान, नदियाँ, झरने और विशिष्ट जलवायु—इन उपचार परंपराओं को विशेष रूप से समृद्ध बनाती हैं।

जनजातीय समुदायों का औषधीय ज्ञान

भारतीय जनजातीय समुदायों ने सदियों से जंगलों में उपलब्ध औषधीय पौधों, जड़ों, पत्तों, छाल और वन उत्पादों का उपयोग करके एक व्यवस्थित चिकित्सा प्रणाली विकसित की है। यह ज्ञान मुख्यतः अनुभव, अवलोकन, और मौखिक परंपरा के माध्यम से आगे बढ़ता रहा है। गोंड, भील, संथाल, हो, मिज़ो, नागा, बोडो, टोडा, लीपचा, मोंपा और

भोटिया जैसे अनेक समुदाय अपने विशिष्ट वातावरण में पनपने वाली वनस्पतियों का अद्वितीय ज्ञान रखते हैं। उदाहरण के लिए—

- मध्य भारत के गोंड और भील समुदाय बुखार, घाव, विषैले कीट–दंश और पाचन संबंधी समस्याओं के लिए विशिष्ट औषधीय पौधों का प्रयोग करते हैं।
- पूर्वोत्तर के जनजातीय समाज अकाकी, लेंगसेरा, बांस के विविध भागों और सुगंधित जड़ों का प्रयोग करते हैं।
- हिमालयी जनजातियाँ जैसे भोटिया और जौनसारी कुटकी, अतिस, मांझरी, और थुनेर जैसी जड़ी-बूटियों का उपयोग करती हैं, जो औषधीय रूप से अत्यधिक मूल्यवान हैं।

जनजातीय औषधीय ज्ञान की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि यह स्थानीय पारिस्थितिकी पर पूर्णतः आधारित होता है, इसलिए वह क्षेत्र–विशिष्ट और अत्यंत प्रभावी माना जाता है।

ओझा–गुणी परंपरा

आदिवासी चिकित्सा परंपरा का एक प्रमुख स्तंभ ओझा–गुणी, भगत, बैगा, देवरी और वैद्य जैसे पारंपरिक चिकित्सकों की भूमिका है। ये व्यक्ति उपचारकर्ता होने के साथ-साथ समुदाय के आध्यात्मिक मार्गदर्शक भी होते हैं। वे जड़ी-बूटियों का उपयोग, मंत्र–उच्चारण, धूप–धुआँ, अनुष्ठान और सामुदायिक सहभागिता को उपचार प्रक्रिया का हिस्सा बनाते हैं। कई जनजातीय समुदायों में रोग को केवल शारीरिक असंतुलन नहीं, बल्कि सामाजिक और आध्यात्मिक असंतुलन का परिणाम भी माना जाता है। इसलिए ओझा–गुणी उपचार में शरीर, मन और आत्मा—तीनों का संतुलन बहाल किया जाता है। ओझा–गुणी परंपरा आदिवासी समाज की सामूहिक संस्कृति, धार्मिक मान्यताओं और स्वास्थ्य-दृष्टि की गहरी अभिव्यक्ति है।

जंगल आधारित उपचार (बस्तर, उत्तर-पूर्व, हिमालयी क्षेत्र)

भारत के कई आदिवासी क्षेत्र—विशेषकर बस्तर (छत्तीसगढ़), पूर्वोत्तर भारत तथा हिमालयी क्षेत्र—जंगल पर आधारित चिकित्सा परंपराओं के प्रमुख केंद्र माने जाते हैं।

1. बस्तर क्षेत्र (छत्तीसगढ़); बस्तर के मुड़िया, मुरिया, माड़िया, हल्बा, और अन्य आदिवासी समूहों की चिकित्सा पद्धति गहन वन-ज्ञान पर आधारित है। यहाँ हर्रा, बहेरा, अमरबेल, गिलोय, चार, सल्फी, विभिन्न लता–पत्तियाँ और

गोंद–आधारित उपचारों का उपयोग आम है। चोट, हड्डी जोड़ने और साँप–बिच्छू के दंश के लिए उपयोग की जाने वाली बस्तर की वन-औषधियाँ आज भी अत्यंत प्रसिद्ध हैं।

2. पूर्वोत्तर भारत; यहाँ के घने वर्षावनों में मिलने वाली औषधीय जड़ों, कंदों और फर्नों का उपयोग व्यापक है। नागा, मिज़ो, असमिया जनजातियाँ, अदिवासी बोडो लोग जड़ी-बूटी आधारित मलहम, काढ़ा, भाप और सुगंधित ऊर्जा उपचारों का प्रयोग करते हैं। यहाँ की वनस्पतियाँ तेजी से बढ़ती हैं और जैव–विविधता अत्यंत उच्च है, जिससे औषधीय पौधों की उपलब्धता प्रचुर रहती है।

3. हिमालयी क्षेत्र; हिमालयी जनजातियाँ उच्च–ऊँचाई वाले क्षेत्रों में पाई जाने वाली दुर्लभ औषधीय पौधों का उपयोग करती हैं।जड़ी-बूटी आधारित दवाएँ, गर्म पत्थर उपचार, जंगली पौधों की जड़ों से बने काढ़े, तथा मक्खन–चाय और स्थानीय आहार स्वास्थ्य बनाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। कुटकी, गंधरास, थुनेर, सिलाजीत, सांझना, यार्सागुम्बा जैसी औषधियाँ हिमालयी चिकित्सा की पहचान हैं। इन आदिवासी उपचार परंपराओं में न केवल चिकित्सा का ज्ञान है, बल्कि एक संतुलित और प्रकृति-सम्मत जीवन जीने का मॉडल भी निहित है। बदलते समय में भी इन ज्ञान–परंपराओं की प्रासंगिकता बनी हुई है, और इन्हें संरक्षित करना भारत की सांस्कृतिक व प्राकृतिक विरासत की रक्षा के लिए अत्यंत आवश्यक है।

12.10 योग और स्वास्थ्य

योग भारतीय संस्कृति और आध्यात्मिक परंपरा का एक प्राचीन और समग्र स्वास्थ्य–दर्शन है, जिसका लक्ष्य शरीर, मन और आत्मा का संतुलन स्थापित करना है। 'योग' का अर्थ है सामंजस्य या एकीकरण—अर्थात् मनुष्य और प्रकृति, शरीर और चेतना, तथा विचार और क्रिया के बीच तालमेल। योग केवल व्यायाम नहीं, बल्कि जीवन–शैली, अनुशासन, और संतुलित आचरण का मार्गदर्शन है। आधुनिक समय में योग एक वैश्विक स्वास्थ्य प्रणाली के रूप में उभरा है, जो प्राचीन भारतीय ज्ञान–परंपरा को समकालीन संदर्भ में नई प्रासंगिकता प्रदान करता है।

आसन–प्राणायाम–ध्यान

योग में तीन प्रमुख साधन—आसन, प्राणायाम और ध्यान—स्वास्थ्य संवर्धन में केंद्रीय भूमिका निभाते हैं।

1. आसन (शारीरिक संतुलन और लचीलेपन के लिए); आसन शरीर को लचीला, सक्रिय और मजबूत बनाते हैं। ताड़ासन, त्रिकोणासन, भुजंगासन, पद्मासन, सूर्य नमस्कार जैसे आसन शरीर की मांसपेशियों, हड्डियों, हृदय, श्वसन

और पाचन प्रणाली को संतुलित करते हैं। नियमित अभ्यास से शरीर की रोग–प्रतिरोधक क्षमता बढ़ती है और रक्तसंचार सुधरता है।

2. प्राणायाम (श्वास और ऊर्जा का नियंत्रण); प्राणायाम 'प्राण' अर्थात् जीवन–ऊर्जा के संतुलन का विज्ञान है। अनुलोम–विलोम, भ्रामरी, कपालभाति, शीतली, उज्जायी जैसे प्राणायाम मानसिक शांति, फेफड़ों की कार्यक्षमता और एकाग्रता में वृद्धि करते हैं। यह तनाव, चिंता, उच्च रक्तचाप, श्वसन विकारों और मानसिक थकान को कम करने में सहायक है।

3. ध्यान (मानसिक शांति और आत्म–अनुभूति के लिए); ध्यान मानसिक अशांति को दूर करके मन को स्थिर और एकाग्र बनाता है। ध्यान से तनाव कम होता है, नकारात्मक विचार शांत होते हैं और भावनात्मक संतुलन बढ़ता है। नियमित अभ्यास से निर्णय क्षमता, रचनात्मकता और आत्म–नियंत्रण में सुधार होता है।

मानसिक और शारीरिक उपचार; योग का विशिष्ट महत्व यह है कि यह समग्र उपचार प्रदान करता है—अर्थात् शरीर, मन और भावनाओं को एक साथ चंगा करता है।

- शारीरिक उपचार:
  योग आसन और प्राणायाम मोटापा, मधुमेह, गठिया, पीठ दर्द, हृदय–रोग, थायरायड, पाचन समस्याओं और श्वसन विकारों जैसे रोगों में सुधार लाते हैं।
  रक्तचाप, हार्मोनल गतिविधियों और स्नायु तंत्र पर इनका सकारात्मक प्रभाव वैज्ञानिक रूप से प्रमाणित है।

- मानसिक उपचार:
  ध्यान और श्वास–अभ्यास तनाव, अवसाद, अनिद्रा, चिंता और मानसिक थकान से राहत प्रदान करते हैं।
  योग मन–मस्तिष्क के बीच तालमेल स्थापित करता है, जिससे भावनात्मक स्थिरता और सकारात्मक ऊर्जा विकसित होती है।

- जीवन–शैली सुधार:
  योग नियमित दिनचर्या, संतुलित आहार, संयमित आचरण और नैतिक मूल्यों की प्रेरणा देता है।
  इससे जीवन में अनुशासन, धैर्य, सहनशीलता और संतोष की भावना बढ़ती है।

योग शरीर की शक्ति, मन की शांति और जीवन की समग्रता का मार्ग है। यह आधुनिक चिकित्सा के पूरक के रूप में कार्य करता है और व्यक्ति को स्वस्थ, संतुलित और उद्देश्यपूर्ण जीवन जीने की प्रेरणा देता है।

12.11 प्रकृति–चिकित्सा

प्रकृति–चिकित्सा (Naturopathy) स्वास्थ्य का ऐसा प्राकृतिक मार्ग है जो मानता है कि शरीर में स्वयं को चंगा करने की अंतर्निहित क्षमता होती है। यह चिकित्सा पद्धति प्राकृतिक तत्त्वों—जल, मिट्टी, सूर्य, वायु, और आहार —को उपचार का मूल आधार मानती है। इसका उद्देश्य रोगों को केवल दबाना नहीं, बल्कि उनके मूल कारणों को ठीक करना है। प्रकृति–चिकित्सा एक संतुलित जीवन–शैली, शुद्ध भोजन, नियमित व्यायाम, पर्याप्त विश्राम, तथा प्रकृति के निकट रहने की प्रेरणा देती है।

प्रकृति–चिकित्सा का दर्शन इस विचार पर आधारित है कि रोग शरीर की असंतुलित जीवन शैली, गलत भोजन–आदतों और मानसिक तनाव का परिणाम है। इसलिए उपचार में शरीर को विषाक्त पदार्थों से मुक्त करना, पाचन सुदृढ़ करना, मानसिक तनाव घटाना और प्राकृतिक तत्त्वों से शरीर की स्वाभाविक चैतन्य शक्ति बढ़ाना शामिल है।

1. जल–चिकित्सा (Hydrotherapy); जल–चिकित्सा प्रकृति–चिकित्सा का सबसे पुराना और प्रभावी माध्यम है। इसमें स्नान, सिट्ज़ बाथ, ठंडे और गर्म सेक, भाप, स्प्रे, तथा जल–प्रवाह का उपयोग किया जाता है। जल शरीर के तापमान को संतुलित करता है, रक्तसंचार में सुधार लाता है और तनाव तथा सूजन को कम करता है। पाचन, त्वचा रोग, दर्द–निवारण, अनिद्रा, उच्च रक्तचाप आदि में जल–चिकित्सा उपयोगी मानी जाती है।

2. मिट्टी–चिकित्सा (Mud Therapy); मिट्टी शरीर की गर्मी और विषाक्तता को सोखने में सक्षम मानी जाती है। इसमें मिट्टी लेप, मिट्टी स्नान और शरीर पर मिट्टी की पट्टी लगाने की प्रक्रिया शामिल है। यह सूजन, त्वचा रोग, पाचन समस्याएँ, कब्ज, तथा शरीर की थकान को कम करने में सहायक होती है। मिट्टी शरीर के तापमान को नियंत्रित करती है और त्वचा को शीतलता प्रदान करती है।

3. सूर्य–चिकित्सा (Heliotherapy); सूर्य प्रकाश को जीवन–ऊर्जा और औषधि दोनों माना जाता है। नियंत्रित रूप से सूर्य–स्नान, सूर्य–ध्यान, तथा सूर्य–चिकित्सा का उपयोग हड्डियों की मजबूती, रक्त शुद्धिकरण और त्वचा रोगों में किया जाता है। विटामिन–D का प्राकृतिक स्रोत होने के कारण यह शरीर की प्रतिरक्षा शक्ति को भी बढ़ाता है।

4. वायु–चिकित्सा (Air Therapy); शुद्ध वायु श्वसन–तंत्र और मानसिक स्वास्थ्य का आधार है। वायु–चिकित्सा में ताज़ी हवा में गहरे श्वास, प्राण–चालित अभ्यास तथा प्राकृतिक वातावरण में समय बिताना शामिल है। यह फेफड़ों की क्षमता बढ़ाती है, तनाव कम करती है और मानसिक एकाग्रता को प्रोत्साहित करती है।

उपवास और प्राकृतिक आहार; उपवास प्रकृति–चिकित्सा का महत्वपूर्ण अंग है जो शरीर को विषाक्त पदार्थों से मुक्त करता है और पाचन को पुनर्स्थापित करता है। उपवास के दौरान शरीर को विश्राम मिलता है और जमा हुए विषाक्त पदार्थ निकलने लगते हैं। हल्का उपवास, फलाहार, रसाहार, या केवल गरम जल का सेवन व्यक्ति की क्षमता के अनुसार सुझाया जाता है। उपवास से शरीर की ऊर्जा–चेतना बढ़ती है, मानसिक स्पष्टता आती है और भूख–पाचन की प्राकृतिक प्रक्रिया सक्रिय होती है।

2. प्राकृतिक आहार (Natural Diet); प्राकृतिक आहार सरल, शुद्ध और प्रकृति के अनुकूल भोजन पर आधारित है। इसमें कच्चे फल, ताज़ी सब्जियाँ, अंकुरित अनाज, साबुत खाद्य पदार्थ, नींबू–जल, नारियल–जल और प्राकृतिक रस शामिल होते हैं। प्रसंस्कृत खाद्य, अत्यधिक मसाले, तली–भुनी चीज़ें और कृत्रिम पदार्थों से परहेज़ किया जाता है। प्राकृतिक आहार शरीर को हल्का, ऊर्जावान और रोग–प्रतिरोधी बनाता है।

प्रकृति–चिकित्सा का मूल उद्देश्य प्रकृति के साथ सामंजस्य स्थापित करना है। जल, मिट्टी, सूर्य, वायु और संतुलित आहार के माध्यम से शरीर की आत्म–उपचार क्षमता को प्रोत्साहित किया जाता है, जिससे व्यक्ति लंबे समय तक स्वस्थ, संतुलित और प्राकृतिक जीवन जी सके।

12.12 आधुनिक संदर्भ में पारंपरिक चिकित्सा

समकालीन भारत में पारंपरिक चिकित्सा प्रणालियों का महत्व तेजी से बढ़ा है। वैश्विक स्तर पर स्वास्थ्य–जागरूकता, प्राकृतिक उपचारों की ओर झुकाव, और समग्र (holistic) स्वास्थ्य–दर्शन की लोकप्रियता ने भारत की पारंपरिक चिकित्सा को नई पहचान दी है। आधुनिक संदर्भ में ये प्रणालियाँ केवल सांस्कृतिक विरासत नहीं, बल्कि सतत, किफ़ायती और प्रभावी स्वास्थ्य–समाधान के रूप में उभर रही हैं।

भारत में सरकारी नीतियों, अनुसंधान संस्थानों, वैश्विक मांग और औषधीय संसाधनों की विशालता ने इन प्रणालियों को मजबूत आधार प्रदान किया है। आधुनिक चिकित्सा के साथ पूरक रूप में इनका उपयोग बढ़ रहा है, विशेषकर जीवन–शैली संबंधी रोगों, मानसिक स्वास्थ्य, दीर्घकालिक दर्द, प्रतिरक्षा–वृद्धि और महामारी–काल की परिस्थितियों में।

AYUSH प्रणाली

भारत सरकार ने पारंपरिक चिकित्सा प्रणालियों के संवर्धन और संस्थागत विकास के लिए AYUSH मंत्रालय की स्थापना की, जिसमें—

A – Ayurveda,

Y – Yoga & Naturopathy,

U – Unani,

S – Siddha,

H – Homeopathy

शामिल हैं।

AYUSH प्रणाली की प्रमुख विशेषताएँ— इन चिकित्सा प्रणालियों का मानकीकरण, शोध, शिक्षा और विनियमन किया जा रहा है। राष्ट्रीय आयुष मिशन (NAM) के माध्यम से देश भर में AYUSH अस्पताल, वेलनेस सेंटर, और शोध प्रयोगशालाएँ स्थापित हो रही हैं। आयुर्वेद और योग की वैश्विक पहचान बढ़ी है; 21 जून को अंतरराष्ट्रीय योग दिवस इसकी स्वीकृति का बड़ा प्रतीक है। आधुनिक चिकित्सा के साथ इंटीग्रेटेड हेल्थकेयर मॉडल विकसित करने की दिशा में कई पहलें की जा रही हैं। AYUSH आज भारतीय पारंपरिक चिकित्सा को वैश्विक स्वास्थ्य–मानचित्र पर स्थापित कर रहा है।

वैज्ञानिक अनुसंधान और प्रमाणिकता

पारंपरिक चिकित्सा के वैज्ञानिक परीक्षण और प्रमाणिकता (validation) आधुनिक समय की महत्वपूर्ण आवश्यकता है।

- सेंट्रल काउंसिल फॉर रिसर्च इन आयुर्वेदिक साइंसेज (CCRAS),
- सेंट्रल काउंसिल फॉर रिसर्च इन यूनानी मेडिसिन (CCRUM),
- नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ योगा (MDNIY)
  जैसे संस्थान औषधियों और उपचार पद्धतियों का आधुनिक वैज्ञानिक मानकों के अनुरूप परीक्षण कर रहे हैं।

अनुसंधान के प्रमुख क्षेत्र—

- औषधीय पौधों के रसायन (phytochemistry) का अध्ययन
- फार्माकोलॉजी और क्लीनिकल ट्रायल
- जीवन–शैली रोगों (डायबिटीज, हृदय रोग, चिंता, अनिद्रा) पर योग और आयुर्वेद के प्रभाव
- आयुर्वेदिक दवाओं के नैनो–फॉर्मुलेशन और नए चिकित्सकीय उपयोग

वैज्ञानिक प्रमाणिकता पारंपरिक चिकित्सा की स्वीकार्यता बढ़ा रही है और इसे वैश्विक स्वास्थ्य उद्योग में एक विश्वसनीय विकल्प बना रही है।

औषधीय पौधों का संरक्षण

भारत की पारंपरिक चिकित्सा पद्धतियाँ मुख्यतः प्राकृतिक संसाधनों, विशेषकर औषधीय पौधों पर आधारित हैं। बढ़ते वनीकरण–ह्रास, शहरीकरण, अधिक दोहन और जलवायु परिवर्तन ने कई महत्वपूर्ण पौधों के अस्तित्व को खतरे में डाल दिया है। इसलिए संरक्षण अत्यावश्यक है।

संरक्षण के प्रमुख प्रयास—

- National Medicinal Plants Board (NMPB) द्वारा औषधीय पौधों के संरक्षण और सतत संग्रह (sustainable harvesting) को बढ़ावा।
- हिमालय, पश्चिमी घाट और उत्तर–पूर्व में औषधीय पौधों के संरक्षण क्षेत्रों (MPCA) की स्थापना।
- जनजातीय समुदायों के पारंपरिक ज्ञान का दस्तावेजीकरण और जैव–संसाधन प्रबंधन समितियों की भूमिका।
- घरेलू और अंतरराष्ट्रीय बाजार में बढ़ती मांग को देखते हुए औषधीय पौधों की खेती (cultivation) को प्रोत्साहन।
- यार्सागुम्बा, कुटकी, अतिस, गिलोय, अश्वगंधा जैसे पौधों का वैज्ञानिक ढंग से संवर्धन और संरक्षण।

औषधीय पौधों का संरक्षण न केवल पारंपरिक चिकित्सा का भविष्य सुनिश्चित करता है, बल्कि जैव–विविधता और पर्यावरणीय संतुलन की रक्षा का भी माध्यम है। आधुनिक संदर्भ में पारंपरिक चिकित्सा भारत की स्वास्थ्य–प्रणाली को अधिक समग्र, किफ़ायती और प्रकृति–अनुकूल बनाती है। AYUSH के माध्यम से संस्थागत विकास, वैज्ञानिक अनुसंधान द्वारा प्रमाणिकता, और औषधीय पौधों के संरक्षण के प्रयास इस विरासत को आने वाली पीढ़ियों के लिए सुरक्षित और उपयोगी बना रहे हैं।

12.13 चुनौतियाँ और संभावनाएँ

भारत की पारंपरिक चिकित्सा प्रणालियाँ, चाहे वह आयुर्वेद, सिद्ध, यूनानी, तिब्बती या लोक–आधारित हों, आज भी स्वास्थ्य देखभाल में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही हैं। फिर भी, इन प्रणालियों के विकास और संरक्षण के मार्ग में कई चुनौतियाँ हैं, साथ ही वैश्विक स्तर पर नई संभावनाएँ भी मौजूद हैं।

1. वनस्पतियों का क्षरण; पारंपरिक चिकित्सा मुख्यतः औषधीय वनस्पतियों और जड़ी-बूटियों पर आधारित है। प्राकृतिक संसाधनों का अनियंत्रित दोहन, वनों की कटाई, जलवायु परिवर्तन और शहरीकरण इनकी उपलब्धता को गंभीर रूप से प्रभावित कर रहे हैं। दुर्लभ औषधीय पौधों की घटती संख्या भविष्य में पारंपरिक उपचार पद्धतियों की स्थिरता के लिए चुनौती है। इसके समाधान के लिए औषधीय पौधों के संरक्षण क्षेत्र (MPCA), जैव–संसाधन प्रबंधन, और सतत खेती (sustainable cultivation) पर जोर दिया जा रहा है। जनजातीय और ग्रामीण समुदायों के पारंपरिक ज्ञान का दस्तावेजीकरण और उनका संरक्षण भी आवश्यक है। वनस्पतियों के संरक्षण से न केवल पारंपरिक चिकित्सा सुरक्षित रहती है, बल्कि जैव–विविधता और पर्यावरण संतुलन भी बना रहता है।

2. पद्धतियों का व्यवसायीकरण; समय के साथ पारंपरिक चिकित्सा पद्धतियों का व्यवसायीकरण (Commercialization) बढ़ा है। आयुर्वेदिक दवाएँ, योग–वेलनेस सेंटर, हर्बल सप्लीमेंट और स्पा–उपचार बड़े पैमाने पर बाजार में उपलब्ध हैं। व्यवसायीकरण के चलते कई बार गुणवत्ता और पारंपरिक मानकों का ह्रास देखने को मिलता है। औषधियों में मिलावट, वैज्ञानिक मान्यता के बिना प्रचार और अनुचित उत्पाद निर्माण जैसी समस्याएँ बढ़ रही हैं। इस चुनौती से निपटने के लिए मानकीकरण, अनुसंधान, प्रमाणन और नियामक नियंत्रण अनिवार्य हैं।

- पारंपरिक चिकित्सा को व्यवसायिक रूप से विकसित करना संभव है, लेकिन यह संतुलित, प्रमाणिक और नैतिक तरीके से होना चाहिए।

3. वैश्विक स्वीकार्यता और अवसर; पारंपरिक चिकित्सा और प्राकृतिक उपचार अब केवल भारत तक सीमित नहीं रहे हैं। वैश्विक स्तर पर इनकी स्वीकार्यता और मांग बढ़ रही है। योग, आयुर्वेदिक वेलनेस टूरिज़्म, हर्बल औषधियाँ और नैचुरोपैथिक उपाय विश्व भर में लोकप्रिय हो रहे हैं। वैश्विक स्वास्थ्य उद्योग में पारंपरिक और प्राकृतिक उपचार के लिए व्यावसायिक अवसर बढ़ रहे हैं। अनुसंधान, शिक्षा, अंतरराष्ट्रीय योग दिवस और आयुर्वेद–योग सम्मेलनों ने इन पद्धतियों को वैज्ञानिक और सांस्कृतिक रूप से मान्यता दिलाई है। भारतीय पारंपरिक चिकित्सा अब इंटीग्रेटेड हेल्थकेयर मॉडल का हिस्सा बन रही है, जो आधुनिक और पारंपरिक उपचारों का संयोजन करती है।

पारंपरिक चिकित्सा की चुनौतियाँ—वनस्पतियों का क्षरण, व्यवसायीकरण की समस्याएँ—गंभीर हैं, लेकिन वैश्विक स्वीकार्यता, वैज्ञानिक अनुसंधान, और संस्थागत संरक्षण इसके भविष्य को उज्ज्वल बनाते हैं। यदि हम औषधीय पौधियों का संरक्षण करें, पद्धतियों का मानकीकरण और प्रमाणिक विकास सुनिश्चित करें, तो भारत की पारंपरिक चिकित्सा न केवल स्वास्थ्य क्षेत्र में बल्कि वैश्विक स्वास्थ्य–दृष्टि में भी महत्वपूर्ण योगदान दे सकती है।

यह इकाई स्पष्ट करती है कि पारंपरिक चिकित्सा केवल सांस्कृतिक धरोहर नहीं, बल्कि वैज्ञानिक, आर्थिक और स्वास्थ्य संबंधी अवसरों का स्रोत भी है।

12.14 सारांश

इस इकाई में आपने भारत की प्राकृतिक विरासत और पारंपरिक चिकित्सा परंपराओं के बीच गहरे संबंध को समझा। भारत की भौगोलिक विविधता—हिमालय, वनक्षेत्र, नदी-घाटियाँ, मरुस्थल और समुद्री तट—ने अत्यंत समृद्ध औषधीय जैव–विविधता को जन्म दिया, जो प्राचीन भारतीय उपचार प्रणालियों की आधारशिला है। आयुर्वेद, सिद्ध, यूनानी और तिब्बती चिकित्सा जैसी पद्धतियाँ न केवल चिकित्सकीय ज्ञान-संरचनाएँ हैं, बल्कि भारतीय सांस्कृतिक विरासत और जीवन–दर्शन का भी अभिन्न अंग हैं।

इकाई में आपने यह भी जाना कि भारत के जनजातीय और ग्रामीण समुदायों ने प्रकृति-आधारित औषधीय ज्ञान को पीढ़ियों तक संरक्षित रखा है। घरेलू उपचार, जड़ी-बूटियों का उपयोग, ओझा–गुणी परंपरा और समुदाय-आधारित स्वास्थ्य व्यवहार भारतीय लोक-चिकित्सा को आज भी प्रासंगिक बनाए हुए हैं। साथ ही, योग और प्राकृतिक चिकित्सा जैसी पद्धतियाँ केवल शरीर ही नहीं, बल्कि मन और आत्मा के संतुलन पर बल देती हैं, और इस प्रकार समग्र स्वास्थ्य का मार्ग प्रस्तुत करती हैं।

समकालीन समय में पारंपरिक चिकित्सा नयी चुनौतियों और अवसरों का सामना कर रही है—दवाओं का वैज्ञानिक परीक्षण, औषधीय पौधों का संरक्षण, वैश्विक बाजार में तेजी से बढ़ती मांग, तथा AYUSH जैसे संस्थागत प्रयास इनके भविष्य को दिशा दे रहे हैं। अंततः, पारंपरिक चिकित्सा केवल उपचार की पद्धति नहीं, बल्कि प्रकृति, शरीर और समाज के मध्य संतुलन स्थापित करने वाला ज्ञान–संकुल है, जिसे समझना और संरक्षित करना हमारी सामूहिक जिम्मेदारी है।

12.15 शब्दावली

आयुर्वेद (Ayurveda) – जीवन का विज्ञान; प्राचीन भारतीय चिकित्सा प्रणाली जो शरीर, मन और आत्मा के संतुलन पर आधारित है।

त्रिदोष (Tridosha) – आयुर्वेद में तीन प्रमुख दोष—वात, पित्त और कफ, जो शरीर की जैव-क्रियाओं को नियंत्रित करते हैं।

सिद्ध चिकित्सा (Siddha Medicine) – दक्षिण भारतीय प्राचीन चिकित्सा प्रणाली, जिसमें रसायन, योग और औषधीय उपचार शामिल हैं।

यूनानी चिकित्सा (Unani Medicine) – भारत में स्थापित पारंपरिक चिकित्सा प्रणाली, जिसका मूल ग्रीक और अरबी-फारसी परंपरा पर आधारित है।

सोवा-रिग्पा (Sowa-Rigpa / तिब्बती चिकित्सा) – हिमालयी क्षेत्र की पारंपरिक चिकित्सा प्रणाली, जो शारीरिक और मानसिक संतुलन पर केंद्रित है।

लोक चिकित्सा (Folk Medicine) – ग्रामीण और जनजातीय समुदायों द्वारा पीढ़ियों से विकसित प्राकृतिक और अनुभवजन्य उपचार पद्धतियाँ।

ओझा–गुणी (Ojha–Guni) – पारंपरिक चिकित्सक या वैद्य, जो औषधीय पौधों, अनुष्ठान और अनुभवजन्य ज्ञान से उपचार करते हैं।

पंचकर्म (Panchakarma) – आयुर्वेद में शरीर के दोषों को शुद्ध करने की पाँच प्रमुख चिकित्सा प्रक्रियाएँ।

प्रकृति–चिकित्सा (Naturopathy) – प्राकृतिक तत्त्वों (जल, मिट्टी, सूर्य, वायु) और आहार आधारित चिकित्सा प्रणाली।

प्राणायाम (Pranayama) – श्वास और जीवन–ऊर्जा का नियंत्रण, मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य के लिए योग अभ्यास।

ध्यान (Meditation) – मानसिक शांति, स्थिरता और चेतना की जागरूकता बढ़ाने की योग पद्धति।

औषधीय पौधे (Medicinal Plants) – ऐसे पौधे जिनमें रोग-निवारक और स्वास्थ्य संवर्धक गुण मौजूद हों।

AYUSH – भारत सरकार का मंत्रालय, जो आयुर्वेद, योग, यूनानी, सिद्ध, होम्योपैथी और प्राकृतिक चिकित्सा का नियमन करता है।

12.16 अभ्यास प्रश्न

1. आयुर्वेद की चिकित्सा प्रणाली और उसके उपचार पद्धतियों का वर्णन कीजिए।
2. सिद्ध और तिब्बती चिकित्सा प्रणालियों की विशेषताओं और उपचार विधियों की तुलना कीजिए।
3. यूनानी चिकित्सा में मिज़ाज और चार रसों के आधार पर रोग निदान की प्रक्रिया समझाइए।
4. लोक और आदिवासी चिकित्सा परंपराओं में वनस्पतियों और अनुभवजन्य ज्ञान का महत्व स्पष्ट कीजिए।
5. योग और प्राणायाम के मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य पर प्रभाव का विस्तृत वर्णन कीजिए।
6. प्रकृति–चिकित्सा में उपवास, प्राकृतिक आहार और प्राकृतिक तत्त्वों के उपयोग की पद्धति समझाइए।
7. आधुनिक संदर्भ में पारंपरिक चिकित्सा के लिए AYUSH प्रणाली और वैज्ञानिक अनुसंधान का महत्व स्पष्ट कीजिए।

12.17 संदर्भ सूची / Suggested Readings

पुस्तकें (Books)

1. Acharya, B. N. (2012). A Handbook of Indian Traditional Medicine. Delhi: Chaukhamba Sanskrit Pratishthan.
2. Lad, V. (2002). Ayurveda: The Science of Self-Healing. Albuquerque: Lotus Press.
3. Sharma, P. V. (1999). Charaka Samhita. Varanasi: Chaukhamba Orientalia.
4. Kanjilal, U. K. (2010). Siddha Medicine: Principles and Practices. Chennai: Institute of Siddha Studies.

5. Anonymous. (2015). Unani Medicine. New Delhi: Central Council for Research in Unani Medicine (CCRUM).

6. Dhargalkar, P. K., & Upadhyay, R. (2006). Medicinal Plants of India. Mumbai: Oxford & IBH.

7. Tsewang, D. (2007). Sowa-Rigpa: Traditional Tibetan Medicine. Delhi: Paljor Publications.

8. Iyengar, B. K. S. (2002). Light on Yoga. Mumbai: HarperCollins India.

9. Chopra, A., & Doiphode, V. V. (2002). Ayurveda and Naturopathy: A Modern Perspective. Journal of Alternative & Complementary Medicine, 8(5), 569–576.

अनुसंधान और रिपोर्टें (Research Papers & Reports)

1. Central Council for Research in Ayurvedic Sciences (CCRAS). Annual Reports. www.ccras.nic.in

2. Central Council for Research in Unani Medicine (CCRUM). Annual Reports. www.ccrum.res.in

3. Ministry of AYUSH, Government of India. National AYUSH Mission Guidelines. New Delhi, 2020.

4. National Medicinal Plants Board (NMPB). Conservation and Cultivation of Medicinal Plants. New Delhi: Ministry of AYUSH, 2019.

5. Patwardhan, B., & Mutalik, G. (2007). Integrative Approaches to Traditional Medicine Research in India. Evidence-Based Complementary and Alternative Medicine, 4(3), 317–322.

वेबसाइट्स (Websites)

1. Ministry of AYUSH, India – https://www.ayush.gov.in

2. CCRAS – https://www.ccras.nic.in

3. CCRUM – https://www.ccrum.res.in

4. National Medicinal Plants Board – https://www.nmpb.nic.in

5. World Health Organization (WHO) – Traditional, Complementary, and Integrative Medicine. https://www.who.int/health-topics/traditional-complementary-integrative-medicine

इकाई तेरह

विरासत एवं पर्यटन: सांस्कृतिक विरासत पर्यटन, इको-टूरिज्म, प्राकृतिक आकर्षण के क्षेत्रों में थीम ट्रेल, प्राकृतिक आकर्षण के क्षेत्रों में साहसिक खेल

इकाई की संरचना

13.0 परिचय
13.1 उद्देश्य
13.2 सांस्कृतिक विरासत पर्यटन
13.3 विरासत और पर्यटन का आंतरिक सम्बंध
13.4 इको-टूरिज़्म
13.5 प्राकृतिक आकर्षण के क्षेत्रों में थीम ट्रेल
13.6 प्राकृतिक आकर्षण के क्षेत्रों में साहसिक खेल
13.7 सारांश
13.8 शब्दावली
13.9 अभ्यास प्रश्न
13.10 संदर्भ ग्रंथ

13.0 परिचय

पर्यटन केवल मनोरंजन या अवकाश का साधन नहीं है, बल्कि यह किसी क्षेत्र की सांस्कृतिक, ऐतिहासिक और प्राकृतिक धरोहर को समझने, अनुभव करने और संरक्षित करने का भी एक महत्वपूर्ण माध्यम है। किसी देश या क्षेत्र की पहचान उसकी विरासत और संस्कृति में निहित होती है, और पर्यटन इसे लोगों तक पहुँचाने का सबसे प्रभावी तरीका है। भारत जैसी विविधताओं से भरी भूमि में पर्यटन के अनेक आयाम हैं। यहां सांस्कृतिक, प्राकृतिक और साहसिक पर्यटन के लिए अत्यधिक अवसर उपलब्ध हैं। ऐतिहासिक स्मारक, मंदिर, किले, महल, प्राकृतिक सौंदर्य वाले स्थल और पर्वतीय क्षेत्र पर्यटकों को आकर्षित करते हैं। इसके साथ ही पर्यटन स्थानीय अर्थव्यवस्था और सामाजिक जीवन में भी योगदान करता है।

विरासत पर्यटन का उद्देश्य केवल पर्यटकों को मनोरंजन प्रदान करना नहीं है, बल्कि ऐतिहासिक और सांस्कृतिक धरोहरों का संरक्षण करना और उनका महत्व समझाना भी है। इसके माध्यम से स्थानीय संस्कृति, कला और परंपराओं का संवर्धन होता है। वहीं, इको-टूरिज़्म पर्यावरण संरक्षण और सतत विकास पर केन्द्रित होता है, जो प्राकृतिक संसाधनों की सुरक्षा के साथ स्थानीय समुदाय की भागीदारी को सुनिश्चित करता है। इसके अतिरिक्त, प्राकृतिक आकर्षण क्षेत्रों में थीम ट्रेल और साहसिक खेल पर्यटकों के अनुभव को रोचक और रोमांचक बनाते हैं। थीम ट्रेल किसी क्षेत्र की विशेषताओं पर आधारित मार्ग होते हैं, जो पर्यटकों को संरचित और जानकारीपूर्ण अनुभव प्रदान करते हैं। साहसिक खेल, जैसे पर्वतारोहण, रिवर राफ्टिंग, ट्रेकिंग और पैराग्लाइडिंग, पर्यटन को रोमांचक बनाते हैं और युवाओं को विशेष रूप से आकर्षित करते हैं।

इस इकाई में विद्यार्थी न केवल पर्यटन के विभिन्न प्रकार और उनके महत्व को समझेंगे, बल्कि यह भी जानेंगे कि किस प्रकार पर्यटन स्थलों का सतत विकास और संरक्षण किया जा सकता है। सांस्कृतिक विरासत पर्यटन, इको-टूरिज़्म, थीम ट्रेल और साहसिक खेल के अध्ययन से उन्हें स्थानीय समुदायों के योगदान, आर्थिक प्रभाव और पर्यावरणीय जिम्मेदारी की जानकारी भी प्राप्त होगी। इस प्रकार, पर्यटन को एक शिक्षण, संरक्षण और सामाजिक आर्थिक विकास का साधन माना जा सकता है।

13.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात विद्यार्थी निम्नलिखित उद्देश्यों को प्राप्त कर सकेंगे।

- विद्यार्थी सांस्कृतिक और प्राकृतिक धरोहरों की महत्ता और उनके संरक्षण की आवश्यकता को समझ सकेंगे। उन्हें यह ज्ञान होगा कि कैसे पर्यटन न केवल मनोरंजन का साधन है, बल्कि ऐतिहासिक और सांस्कृतिक धरोहरों को जीवित रखने और उनके महत्व को दर्शाने का भी माध्यम है।

- विद्यार्थी सांस्कृतिक विरासत पर्यटन और इको-टूरिज़्म के सिद्धांतों और उनके पर्यावरणीय, सामाजिक और आर्थिक प्रभावों को जान सकेंगे। वे यह समझ पाएंगे कि सतत पर्यटन किस प्रकार स्थानीय समुदायों की भागीदारी और संरक्षण को सुनिश्चित करता है।

- विद्यार्थी प्राकृतिक आकर्षण क्षेत्रों में थीम ट्रेल और साहसिक खेल के महत्व, प्रकार और उनके पर्यटक अनुभव पर प्रभाव के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे। उन्हें यह समझने का अवसर मिलेगा कि रोमांचक और संरचित पर्यटन गतिविधियाँ पर्यटकों के अनुभव को कैसे समृद्ध करती हैं।

- विद्यार्थी यह भी जानेंगे कि पर्यटन स्थलों पर स्थानीय समुदाय और अर्थव्यवस्था पर प्रभाव किस प्रकार पड़ता है। इसके माध्यम से वे पर्यटन को सामाजिक-आर्थिक विकास और रोजगार सृजन के दृष्टिकोण से समझ सकेंगे।
- अंततः, विद्यार्थी पर्यटन स्थलों पर सतत विकास और संरक्षण के उपायों के प्रति जागरूक होंगे और पर्यावरण और संस्कृति के प्रति जिम्मेदार दृष्टिकोण अपनाने में सक्षम होंगे।

13.2 सांस्कृतिक विरासत पर्यटन

सांस्कृतिक विरासत पर्यटन उस प्रकार का पर्यटन है जिसमें पर्यटक किसी क्षेत्र की ऐतिहासिक, धार्मिक, कलात्मक और सांस्कृतिक धरोहर का अनुभव करने के लिए जाते हैं। इसका उद्देश्य केवल पर्यटन करना नहीं है, बल्कि किसी समाज की सांस्कृतिक पहचान, कला, परंपराएँ और जीवन शैली को जानना और समझना भी है। सांस्कृतिक विरासत पर्यटन स्थानीय कला और हस्तशिल्प, मंदिर, महल, किले, ऐतिहासिक स्मारक, उत्सव और रीति-रिवाजों से जुड़े अनुभव प्रदान करता है।

सांस्कृतिक विरासत पर्यटन के माध्यम से धरोहर का संरक्षण और स्थानीय समुदायों का विकास सुनिश्चित किया जाता है। यह पर्यटन न केवल ऐतिहासिक स्मारकों को संरक्षित करने में मदद करता है, बल्कि स्थानीय कला, संगीत, नृत्य और हस्तशिल्प को जीवित रखने का अवसर भी प्रदान करता है। इससे पर्यटक संस्कृति के प्रति जागरूक होते हैं और स्थानीय समुदायों को रोजगार और आर्थिक अवसर मिलते हैं। भारत में सांस्कृतिक विरासत पर्यटन के अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं। जयपुर का हवा महल और आमेर किला, वाराणसी के घाट और काशी विश्वनाथ मंदिर, राजस्थान के जयपुर और उदयपुर के महल, और मदुरै के मंदिर इसके प्रमुख उदाहरण हैं। ये स्थल न केवल ऐतिहासिक महत्व रखते हैं, बल्कि पर्यटकों को भारतीय संस्कृति और परंपराओं की गहरी समझ भी प्रदान करते हैं।

सांस्कृतिक विरासत पर्यटन को और प्रभावी बनाने के लिए कुछ सुझाव अपनाए जा सकते हैं। पर्यटकों के लिए निर्देशित भ्रमण और गाइड की सुविधा उपलब्ध कराना चाहिए। स्थानीय कला और संगीत प्रदर्शनों का आयोजन करना चाहिए। सांस्कृतिक कार्यशालाएँ और उत्सव पर्यटकों को परंपराओं और लोक-कथाओं से जोड़ने में सहायक होते हैं। इसके साथ ही पर्यटन स्थलों पर सुरक्षा और सुविधा का भी प्रबंध आवश्यक है। सांस्कृतिक विरासत पर्यटन का अध्ययन विद्यार्थियों को यह समझने में मदद करता है कि पर्यटन केवल मनोरंजन का साधन नहीं है, बल्कि यह समाज की सांस्कृतिक पहचान को बनाए रखने, संरक्षण और संवर्धन करने का एक महत्वपूर्ण माध्यम है। यह स्थानीय समुदायों के विकास और आर्थिक सशक्तिकरण में भी योगदान करता है।

सांस्कृतिक विरासत के प्रमुख घटकों में ऐतिहासिक स्मारक और स्थापत्य संरचनाएँ महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। किले, महल, मंदिर, मस्जिद और चर्च किसी सभ्यता की स्थापत्य शैली और ऐतिहासिक अनुभवों को अभिव्यक्त करते हैं। ये स्थल सांस्कृतिक विरासत पर्यटन के प्रमुख आकर्षण होते हैं।धार्मिक स्थल भी सांस्कृतिक विरासत पर्यटन का महत्वपूर्ण हिस्सा हैं। तीर्थस्थल न केवल आस्था के केंद्र होते हैं, बल्कि सांस्कृतिक संवाद और सामूहिक पहचान के भी प्रतीक होते हैं। भारत में विभिन्न धर्मों के तीर्थस्थल इस प्रकार के पर्यटन को विशेष रूप से समृद्ध बनाते हैं। लोक परंपराएँ, उत्सव और मेले सांस्कृतिक विरासत के जीवंत रूप हैं। ये परंपराएँ समाज की सामूहिक स्मृति और रचनात्मकता को दर्शाती हैं। पर्यटक इन आयोजनों के माध्यम से स्थानीय संस्कृति को प्रत्यक्ष रूप से अनुभव करते हैं। कला, शिल्प, संगीत और नृत्य भी सांस्कृतिक विरासत के अभिन्न अंग हैं। ये कलात्मक अभिव्यक्तियाँ किसी समाज की सौंदर्य चेतना और जीवन दृष्टि को दर्शाती हैं। सांस्कृतिक पर्यटन के माध्यम से इन कलाओं को संरक्षण और नया बाजार मिलता है। भाषा, खान-पान और पारंपरिक ज्ञान प्रणाली भी सांस्कृतिक विरासत का महत्वपूर्ण हिस्सा हैं। ये तत्व किसी समाज की दैनिक जीवन-शैली को प्रतिबिंबित करते हैं और सांस्कृतिक पर्यटन को व्यापक एवं समग्र स्वरूप प्रदान करते हैं।

13.3 विरासत और पर्यटन का आंतरिक सम्बंध

विरासत एवं पर्यटन का आपसी संबंध आधुनिक पर्यटन अध्ययन का एक महत्वपूर्ण विषय है। विरासत किसी समाज की ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, सामाजिक और प्राकृतिक पहचान को प्रतिबिंबित करती है, जबकि पर्यटन उस विरासत को देखने-समझने और अनुभव करने का माध्यम बनता है। जब किसी क्षेत्र की विरासत को पर्यटन गतिविधियों से जोड़ा जाता है, तो न केवल उस विरासत का संरक्षण होता है, बल्कि स्थानीय अर्थव्यवस्था और सांस्कृतिक चेतना को भी बल मिलता है। इस प्रकार विरासत और पर्यटन एक-दूसरे के पूरक रूप में कार्य करते हैं। विरासत को सामान्यतः मूर्त और अमूर्त दो श्रेणियों में विभाजित किया जाता है। मूर्त विरासत में ऐतिहासिक स्मारक, स्थापत्य, पुरातात्विक स्थल और प्राकृतिक धरोहरें शामिल होती हैं, जबकि अमूर्त विरासत में परंपराएँ, लोककथाएँ, रीति-रिवाज़, उत्सव, संगीत और नृत्य आते हैं। पर्यटन के माध्यम से इन दोनों प्रकार की विरासत को व्यापक पहचान मिलती है। विशेष रूप से सांस्कृतिक विरासत पर्यटन लोगों को विभिन्न समाजों की जीवन-शैली और मूल्यों से परिचित कराता है।

समकालीन समय में पर्यटन केवल मनोरंजन तक सीमित नहीं रह गया है, बल्कि यह शिक्षा, जागरूकता और संवेदनशीलता का भी माध्यम बन गया है। इसी संदर्भ में इको-टूरिज्म का महत्व बढ़ा है, जो पर्यावरण संरक्षण और स्थानीय समुदायों की भागीदारी पर बल देता है। इको-टूरिज्म प्राकृतिक संसाधनों के सतत उपयोग को प्रोत्साहित

करता है और यह सुनिश्चित करता है कि पर्यटन गतिविधियाँ पर्यावरण को क्षति पहुँचाए बिना संचालित हों। प्राकृतिक आकर्षण के क्षेत्रों में विकसित की जा रही थीम ट्रेल और साहसिक पर्यटन गतिविधियाँ आधुनिक पर्यटन के नए आयाम हैं। थीम ट्रेल पर्यटकों को किसी विशिष्ट विषय—जैसे जैव-विविधता, संस्कृति या इतिहास—के माध्यम से किसी क्षेत्र को समझने का अवसर देती हैं। वहीं पर्वतारोहण, ट्रेकिंग, राफ्टिंग और पैराग्लाइडिंग जैसे साहसिक खेल प्राकृतिक सौंदर्य के साथ-साथ रोमांच का अनुभव भी प्रदान करते हैं। इन गतिविधियों ने विशेष रूप से युवाओं के बीच पर्यटन को लोकप्रिय बनाया है।हालाँकि विरासत एवं पर्यटन के विकास के साथ कई चुनौतियाँ भी जुड़ी हुई हैं, जैसे पर्यावरणीय क्षरण, सांस्कृतिक व्यावसायीकरण और संसाधनों का अत्यधिक दोहन। इसलिए आज आवश्यकता इस बात की है कि पर्यटन विकास को सतत और जिम्मेदार दृष्टिकोण से आगे बढ़ाया जाए। यह इकाई विरासत एवं पर्यटन की इन्हीं विविध अवधारणाओं—सांस्कृतिक विरासत पर्यटन, इको-टूरिज्म, थीम ट्रेल और साहसिक पर्यटन—का अध्ययन करते हुए उनके महत्व, संभावनाओं और चुनौतियों को समझने का प्रयास करती है।

विरासत और पर्यटन के बीच गहरा और परस्पर संबंध है। विरासत पर्यटन के लिए प्रमुख आकर्षण प्रदान करती है, जबकि पर्यटन विरासत को पहचान और संरक्षण के अवसर उपलब्ध कराता है। दोनों के बीच यह संबंध पूरक प्रकृति का है। पर्यटन के माध्यम से विरासत स्थलों को वैश्विक पहचान मिलती है। जब लोग किसी ऐतिहासिक या सांस्कृतिक स्थल का भ्रमण करते हैं, तो उसके संरक्षण और महत्व के प्रति जागरूकता बढ़ती है। इससे विरासत संरक्षण के लिए संसाधन और समर्थन उपलब्ध होता है। विरासत पर्यटन स्थानीय समुदायों के लिए रोजगार और आय के नए अवसर सृजित करता है। मार्गदर्शक, शिल्पकार, कलाकार और सेवा प्रदाता पर्यटन से सीधे जुड़े होते हैं। इस प्रकार पर्यटन विरासत को जीविका का साधन भी बनाता है। हालाँकि अत्यधिक पर्यटन से विरासत स्थलों पर दबाव बढ़ सकता है। भीड़, प्रदूषण और व्यावसायीकरण विरासत के मूल स्वरूप को नुकसान पहुँचा सकते हैं। यह स्थिति विरासत और पर्यटन के बीच संतुलन की आवश्यकता को रेखांकित करती है। इसलिए आधुनिक दृष्टिकोण में विरासत पर्यटन को सतत विकास के ढाँचे में देखा जाता है। संरक्षण, उपयोग और समुदाय की भागीदारी—इन तीनों के संतुलन से ही विरासत और पर्यटन का स्वस्थ अंतर्संबंध स्थापित किया जा सकता है।

13.4 इको-टूरिज़्म

इको-टूरिज़्म वह प्रकार का पर्यटन है जो पर्यावरण के संरक्षण, प्राकृतिक संसाधनों की सुरक्षा और स्थानीय समुदाय की भागीदारी पर आधारित होता है। इसका मुख्य उद्देश्य पर्यटकों को प्राकृतिक वातावरण का अनुभव कराना है, साथ ही यह सुनिश्चित करना है कि पर्यटन गतिविधियाँ पर्यावरण पर न्यूनतम प्रभाव डालें और प्राकृतिक संसाधनों

का सतत उपयोग हो। इको-टूरिज़्म शिक्षा, संरक्षण और स्थानीय विकास के तीन मुख्य स्तंभों पर आधारित होता है।

इको-टूरिज़्म का महत्व कई दृष्टियों से देखा जा सकता है। यह न केवल पर्यावरणीय संरक्षण को बढ़ावा देता है, बल्कि स्थानीय समुदायों के आर्थिक और सामाजिक विकास में भी योगदान करता है। स्थानीय लोग पर्यटकों के मार्गदर्शन, आवास, खान-पान और हस्तशिल्प के माध्यम से रोजगार और आय प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार, इको-टूरिज़्म पर्यावरण और विकास के बीच संतुलन बनाए रखने का एक प्रभावी माध्यम है।

भारत में इको-टूरिज़्म के कई उदाहरण देखे जा सकते हैं। उत्तराखंड में नैनीताल, मसूरी और रानीखेत के जंगल ट्रेल पर्यटकों को प्राकृतिक सौंदर्य और जैव विविधता का अनुभव प्रदान करते हैं। राजस्थान के सैम सैंड ड्यून्स और केरल के बैकवाटर भी इको-टूरिज़्म के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इन स्थानों पर पर्यटन गतिविधियाँ प्राकृतिक वातावरण के अनुकूल होती हैं और पर्यावरणीय संरक्षण पर ध्यान दिया जाता है।

इको-टूरिज़्म को प्रभावी बनाने के लिए कई सुझाव अपनाए जा सकते हैं। पर्यावरण अनुकूल आवास और यात्रा विकल्प उपलब्ध कराना आवश्यक है। पर्यटकों को वन्य जीवन और पारिस्थितिकी के महत्व के बारे में शिक्षा देना चाहिए। इसके अतिरिक्त, स्थानीय समुदाय की भागीदारी सुनिश्चित करनी चाहिए और प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण हेतु नियमों का पालन अनिवार्य होना चाहिए।

इको-टूरिज़्म का अध्ययन विद्यार्थियों को यह समझने में मदद करता है कि पर्यटन केवल मनोरंजन का साधन नहीं है। यह प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण, पर्यावरणीय शिक्षा और सतत विकास का एक प्रभावशाली माध्यम है। इससे न केवल पर्यावरण की रक्षा होती है, बल्कि स्थानीय समुदाय और अर्थव्यवस्था को भी लाभ मिलता है।

वन एवं वन्यजीव पर्यटन इको-टूरिज्म का प्रमुख स्वरूप है। राष्ट्रीय उद्यान, वन्यजीव अभयारण्य और जैवमंडल आरक्षित क्षेत्र इसके अंतर्गत आते हैं। ग्रामीण और जनजातीय पर्यटन भी इको-टूरिज्म का महत्वपूर्ण रूप है, जहाँ पर्यटक ग्रामीण जीवन-शैली, पारंपरिक ज्ञान और प्राकृतिक संसाधनों के साथ स्थानीय संबंध को समझते हैं। पर्वतीय और हिमालयी क्षेत्रों में इको-टूरिज्म विशेष रूप से महत्वपूर्ण है, क्योंकि ये क्षेत्र पर्यावरण की दृष्टि से अत्यंत संवेदनशील होते हैं। नदी, झील और तटीय क्षेत्रों में विकसित इको-टूरिज्म गतिविधियाँ भी प्रकृति संरक्षण से जुड़ी होती हैं, जैसे बर्ड वॉचिंग और नेचर वॉक। इन सभी स्वरूपों का उद्देश्य पर्यावरणीय अनुभव के साथ संरक्षण की भावना को विकसित करना है। भारत में इको-टूरिज्म की व्यापक संभावनाएँ हैं, क्योंकि यहाँ विविध भौगोलिक और जैव-विविधता क्षेत्र पाए जाते हैं। केरल, उत्तराखंड, हिमाचल प्रदेश, सिक्किम और कर्नाटक इको-टूरिज्म के प्रमुख राज्य हैं, जहाँ इसे राज्य नीति के रूप में अपनाया गया है।उत्तराखंड और हिमालयी क्षेत्रों में इको-टूरिज्म वन संरक्षण, ग्रामीण विकास और आजीविका से सीधे जुड़ा हुआ है।सरकारी और गैर-सरकारी संस्थाएँ इको-टूरिज्म को संरक्षण और विकास के माध्यम के रूप में बढ़ावा दे रही हैं।इन प्रयासों से इको-टूरिज्म भारत में पर्यटन के वैकल्पिक और जिम्मेदार मॉडल के रूप में उभर रहा है।

इको-टूरिज्म की सबसे बड़ी चुनौती यह है कि कई बार इसे केवल 'प्रकृति पर्यटन' के रूप में प्रस्तुत कर दिया जाता है, जबकि इसके मूल सिद्धांतों की उपेक्षा होती है। अपर्याप्त नियोजन, प्रशिक्षण की कमी और निगरानी तंत्र के अभाव से पर्यावरणीय क्षति की संभावना बनी रहती है।स्थानीय समुदाय की सीमित भागीदारी भी एक गंभीर समस्या है, जिससे इको-टूरिज्म अपने उद्देश्य से भटक सकता है।इसके बावजूद इको-टूरिज्म में भविष्य की व्यापक संभावनाएँ हैं, विशेष रूप से पर्यावरणीय जागरूकता और सतत विकास के संदर्भ में।उचित नीति, स्थानीय सहभागिता और पर्यावरणीय शिक्षा के माध्यम से इको-टूरिज्म को विरासत एवं पर्यटन के क्षेत्र में एक सशक्त माध्यम बनाया जा सकता है।

इको-टूरिज्म का पहला और सबसे महत्वपूर्ण सिद्धांत पर्यावरण संरक्षण है। पर्यटन गतिविधियाँ इस प्रकार नियोजित की जाती हैं कि प्राकृतिक पारिस्थितिकी तंत्र को न्यूनतम क्षति पहुँचे। दूसरा प्रमुख सिद्धांत स्थानीय समुदाय की भागीदारी है। इको-टूरिज्म में स्थानीय लोगों को निर्णय प्रक्रिया, रोजगार और लाभ में शामिल किया जाता है, जिससे उनकी आजीविका सुदृढ़ होती है। शिक्षा और जागरूकता इको-टूरिज्म का एक अन्य महत्वपूर्ण तत्व है। पर्यटकों को पर्यावरण, जैव-विविधता और स्थानीय संस्कृति के महत्व के प्रति संवेदनशील बनाया जाता है। सतत संसाधन उपयोग भी इको-टूरिज्म का एक मूल सिद्धांत है। जल, ऊर्जा और भूमि जैसे संसाधनों का विवेकपूर्ण उपयोग किया जाता है। इन सिद्धांतों के माध्यम से इको-टूरिज्म पर्यटन को एक जिम्मेदार और दीर्घकालिक गतिविधि के रूप में स्थापित करता है।

13.5 प्राकृतिक आकर्षण के क्षेत्रों में थीम ट्रेल

प्राकृतिक आकर्षण के क्षेत्रों में थीम ट्रेल ऐसे मार्ग या रास्ते होते हैं, जिन्हें किसी विशेष विषय, जैसे प्राकृतिक सौंदर्य, वन्य जीवन, ऐतिहासिक या सांस्कृतिक विशेषताओं के आधार पर विकसित किया जाता है। थीम ट्रेल पर्यटकों को एक संरचित और जानकारीपूर्ण अनुभव प्रदान करता है, जिससे वे उस क्षेत्र की विशेषताओं और महत्व को गहराई से समझ सकते हैं।थीम ट्रेल आधुनिक पर्यटन की एक महत्वपूर्ण अवधारणा है, जिसका उद्देश्य पर्यटकों को किसी प्राकृतिक क्षेत्र को केवल देखने के बजाय एक निश्चित विषय (Theme) के माध्यम से समझने का अवसर प्रदान करना है। यह विषय प्रकृति, जैव-विविधता, भू-आकृति, सांस्कृतिक परंपराएँ या पर्यावरणीय संरक्षण से जुड़ा हो सकता है। थीम ट्रेल पर्यटकों को संरचित मार्ग पर चलते हुए ज्ञान, अनुभव और संवेदनशीलता से जोड़ती हैं।

प्राकृतिक आकर्षण के क्षेत्रों में थीम ट्रेल का विकास विशेष रूप से उन स्थानों पर किया जाता है जहाँ पारिस्थितिकी तंत्र नाजुक होता है। पहाड़, वन, तटीय क्षेत्र, झीलें और राष्ट्रीय उद्यान इसके प्रमुख उदाहरण हैं। इन क्षेत्रों में थीम ट्रेल पर्यटकों की गतिविधियों को नियंत्रित करती हैं, जिससे पर्यावरण पर अनावश्यक दबाव नहीं पड़ता और प्राकृतिक संतुलन बना रहता है। थीम ट्रेल के माध्यम से पर्यटकों को उस क्षेत्र की जैव-विविधता, वनस्पतियों, जीव-

जंतुओं और प्राकृतिक प्रक्रियाओं के बारे में जानकारी दी जाती है। सूचना पट्ट, मार्गदर्शक, ऑडियो-गाइड और व्याख्यात्मक संकेतकों की सहायता से यह ट्रेल शिक्षा और पर्यटन का समन्वित रूप प्रस्तुत करती हैं। इस प्रकार थीम ट्रेल 'सीखते हुए घूमने' की अवधारणा को साकार करती हैं। थीम ट्रेल केवल प्राकृतिक तत्वों तक सीमित नहीं होतीं, बल्कि कई बार इनमें सांस्कृतिक और ऐतिहासिक आयाम भी जोड़े जाते हैं। किसी वन क्षेत्र में रहने वाले स्थानीय समुदायों की जीवन-शैली, लोककथाएँ, परंपरागत ज्ञान और प्रकृति से उनका संबंध भी थीम ट्रेल का हिस्सा बन सकता है। इससे पर्यटकों को प्राकृतिक और सांस्कृतिक विरासत को एक साथ समझने का अवसर मिलता है।

पर्यटन प्रबंधन की दृष्टि से थीम ट्रेल अत्यंत उपयोगी मानी जाती हैं। इनके माध्यम से पर्यटकों की आवाजाही को निश्चित मार्गों तक सीमित किया जा सकता है, जिससे अव्यवस्थित भ्रमण और पर्यावरणीय क्षति को रोका जा सके। साथ ही, यह भी सुनिश्चित किया जाता है कि संवेदनशील क्षेत्रों में मानव हस्तक्षेप न्यूनतम रहे। भारत में प्राकृतिक आकर्षण के क्षेत्रों में थीम ट्रेल के कई उदाहरण देखने को मिलते हैं। राष्ट्रीय उद्यानों में नेचर ट्रेल, हिमालयी क्षेत्रों में जैव-विविधता ट्रेल और तटीय इलाकों में मैंग्रोव ट्रेल इस दिशा में उल्लेखनीय प्रयास हैं। उत्तराखंड, केरल और कर्नाटक जैसे राज्यों में थीम ट्रेल को इको-टूरिज्म के एक प्रभावी साधन के रूप में अपनाया गया है। समग्र रूप से देखा जाए तो प्राकृतिक आकर्षण के क्षेत्रों में थीम ट्रेल पर्यटन को अधिक संवेदनशील, शैक्षिक और सतत बनाती हैं। ये ट्रेल न केवल पर्यटकों के अनुभव को समृद्ध करती हैं, बल्कि प्रकृति संरक्षण, स्थानीय समुदाय की भागीदारी और जिम्मेदार पर्यटन की अवधारणा को भी सुदृढ़ करती हैं।

थीम ट्रेल का उद्देश्य केवल प्राकृतिक सौंदर्य का आनंद लेना नहीं है, बल्कि पर्यटक को शिक्षा और जागरूकता प्रदान करना भी है। यह पर्यटक अनुभव को आकर्षक, रोचक और सुसंगठित बनाता है। इसके माध्यम से पर्यटक स्थानीय जैव विविधता, पारिस्थितिकी, भू-आकृतिक संरचनाओं और सांस्कृतिक विशेषताओं से परिचित होते हैं।

भारत में कई क्षेत्र थीम ट्रेल के लिए प्रसिद्ध हैं। हिमालयी क्षेत्रों में ट्रेकिंग ट्रेल पर्यटकों को पहाड़ों की सुंदरता और पर्वतीय जीवन के अनुभव से जोड़ते हैं। कर्नाटक के चंपाकल जंगल में जैविक और वन्य जीवन आधारित ट्रेल पर्यटकों को वन्य जीव और पौधों के संरक्षण की जानकारी देते हैं। राजस्थान के सांस्कृतिक गांव ट्रेल में पर्यटक ग्रामीण जीवन, हस्तशिल्प और स्थानीय परंपराओं का अनुभव कर सकते हैं।

थीम ट्रेल को प्रभावी बनाने के लिए कुछ सुझाव अपनाए जा सकते हैं। मार्ग पर स्पष्ट और जानकारीपूर्ण बोर्ड स्थापित करना चाहिए। प्रशिक्षित गाइड पर्यटकों को मार्गदर्शन दें और उनके प्रश्नों का उत्तर दें। सुरक्षा और सुविधा की व्यवस्था आवश्यक है, ताकि पर्यटक सुरक्षित और आरामदायक अनुभव प्राप्त कर सकें। इसके अतिरिक्त, स्थानीय समुदाय की भागीदारी सुनिश्चित करने से रोजगार और आर्थिक लाभ भी प्राप्त होता है। थीम ट्रेल का अध्ययन विद्यार्थियों को यह समझने में मदद करता है कि पर्यटन केवल मनोरंजन का साधन नहीं है। यह पर्यटक को शिक्षा,

संरक्षण और सांस्कृतिक अनुभव प्रदान करने का एक महत्वपूर्ण माध्यम है। प्राकृतिक आकर्षण क्षेत्रों में थीम ट्रेल पर्यटन स्थलों के सतत विकास और संरक्षण में भी योगदान करता है।

13.6 प्राकृतिक आकर्षण के क्षेत्रों में साहसिक खेल

साहसिक खेल पर्यटन ऐसे पर्यटन गतिविधियों को संदर्भित करता है जो रोमांच, चुनौती और शारीरिक सक्रियता से जुड़े होते हैं। यह प्रकार का पर्यटन विशेष रूप से युवाओं और रोमांचप्रिय पर्यटकों के बीच लोकप्रिय है। प्राकृतिक आकर्षण वाले क्षेत्र, जैसे पर्वतीय क्षेत्र, नदियाँ, जंगल और रेगिस्तान, साहसिक खेलों के लिए उपयुक्त स्थल प्रदान करते हैं। साहसिक खेल का उद्देश्य केवल मनोरंजन करना नहीं है, बल्कि पर्यटकों को शारीरिक और मानसिक रूप से सक्रिय रखना, उनके आत्मविश्वास को बढ़ाना और रोमांच का अनुभव कराना भी है। इसके माध्यम से पर्यटक प्राकृतिक वातावरण के प्रति संवेदनशील और जागरूक बनते हैं। साथ ही, यह स्थानीय अर्थव्यवस्था को बढ़ावा देने और रोजगार सृजन में सहायक होता है।

प्राकृतिक आकर्षण क्षेत्रों में साहसिक खेल की प्रमुख गतिविधियों में पर्वतारोहण, ट्रेकिंग, रिवर राफ्टिंग, कैंपिंग, पैराग्लाइडिंग और स्काईडाइविंग शामिल हैं। उदाहरण के लिए, उत्तराखंड और हिमाचल प्रदेश में पर्वतारोहण और ट्रेकिंग ट्रेल्स प्रसिद्ध हैं। उत्तराखंड की नदियाँ रिवर राफ्टिंग के लिए उपयुक्त हैं, जबकि राजस्थान के रेगिस्तानी क्षेत्र में सैंडबोर्डिंग और केरल में पैराग्लाइडिंग और कैनोइंग लोकप्रिय हैं।

साहसिक खेल पर्यटन को सुरक्षित और प्रभावी बनाने के लिए कुछ सुझाव अपनाए जा सकते हैं। प्रशिक्षित गाइड और पर्यावरण तथा सुरक्षा नियमों का पालन अनिवार्य होना चाहिए। पर्यटकों को सुरक्षा उपकरण और प्रशिक्षण उपलब्ध कराना आवश्यक है। साथ ही, स्थानीय समुदाय की भागीदारी सुनिश्चित करने से आर्थिक और सामाजिक लाभ भी प्राप्त होता है। साहसिक खेल पर्यटन का अध्ययन विद्यार्थियों को यह समझने में मदद करता है कि पर्यटन केवल मनोरंजन का साधन नहीं है। यह प्राकृतिक संसाधनों का सतत उपयोग करते हुए रोमांच, शिक्षा और आर्थिक विकास का माध्यम भी है। इससे पर्यटकों को अनूठा अनुभव मिलता है और स्थानीय समुदाय तथा अर्थव्यवस्था को लाभ होता है।

13.6.1 ट्रेकिंग (Trekking)

ट्रेकिंग प्राकृतिक आकर्षण के क्षेत्रों में किया जाने वाला सबसे सरल, लोकप्रिय और व्यापक साहसिक खेल है। इसमें पर्यटक पहाड़ों, वनों, घाटियों और दुर्गम प्राकृतिक मार्गों पर पैदल यात्रा करते हैं। ट्रेकिंग केवल शारीरिक

गतिविधि नहीं है, बल्कि यह प्रकृति के साथ प्रत्यक्ष संपर्क स्थापित करने का माध्यम भी है, जिसके माध्यम से पर्यटक प्राकृतिक सौंदर्य और पर्यावरणीय विविधता का अनुभव करते हैं। प्राकृतिक आकर्षण के क्षेत्रों, विशेष रूप से पर्वतीय और हिमालयी क्षेत्रों में, ट्रेकिंग का विशेष महत्व है। यह गतिविधि उन क्षेत्रों तक पहुँच प्रदान करती है जहाँ सामान्य यातायात साधन उपलब्ध नहीं होते। ट्रेकिंग मार्ग अक्सर प्राकृतिक संसाधनों, जलस्रोतों, वनस्पतियों और स्थानीय बस्तियों से होकर गुजरते हैं, जिससे पर्यटकों को उस क्षेत्र की भौगोलिक और सांस्कृतिक विशेषताओं को समझने का अवसर मिलता है।

ट्रेकिंग का एक महत्वपूर्ण पक्ष इसका शैक्षिक और पर्यावरणीय आयाम है। ट्रेकिंग के दौरान पर्यटक जैव-विविधता, पारिस्थितिकी तंत्र और प्राकृतिक संतुलन के बारे में प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करते हैं। यह अनुभव पर्यावरण संरक्षण के प्रति जागरूकता और संवेदनशीलता को बढ़ाता है, जिससे ट्रेकिंग को इको-टूरिज्म से भी जोड़ा जाता है। आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से ट्रेकिंग स्थानीय समुदायों के लिए आजीविका का एक महत्वपूर्ण साधन है। स्थानीय गाइड, पोर्टर, होम-स्टे संचालक और छोटे व्यवसाय ट्रेकिंग पर्यटन से सीधे जुड़े होते हैं। इससे दूरस्थ और पिछड़े क्षेत्रों में रोजगार सृजन होता है और स्थानीय अर्थव्यवस्था को मजबूती मिलती है। हालाँकि ट्रेकिंग के बढ़ते प्रचलन के साथ कई चुनौतियाँ भी सामने आई हैं। अनियंत्रित ट्रेकिंग से पर्यावरणीय क्षति, कचरा समस्या और पारिस्थितिक असंतुलन उत्पन्न हो सकता है। इसलिए ट्रेकिंग गतिविधियों के लिए नियमन, सीमित पर्यटक संख्या, पर्यावरण-अनुकूल व्यवहार और जिम्मेदार पर्यटन के सिद्धांतों को अपनाना आवश्यक माना जाता है।

13.6.2 पर्वतारोहण (Mountaineering)

पर्वतारोहण साहसिक पर्यटन का एक अत्यंत चुनौतीपूर्ण और जोखिमपूर्ण स्वरूप है, जिसमें ऊँचे पर्वत शिखरों पर चढ़ाई की जाती है। यह गतिविधि केवल शारीरिक शक्ति पर आधारित नहीं होती, बल्कि इसमें मानसिक दृढ़ता, तकनीकी कौशल और अनुशासन की भी आवश्यकता होती है। प्राकृतिक आकर्षण के क्षेत्रों में पर्वतारोहण मानव और प्रकृति के बीच संघर्ष, सामंजस्य और साहस का प्रतीक माना जाता है। पर्वतीय और हिमालयी क्षेत्र पर्वतारोहण के प्रमुख केंद्र हैं, जहाँ भौगोलिक विविधता और ऊँचाई इस गतिविधि को विशेष रूप से चुनौतीपूर्ण बनाती है। भारत में हिमालय पर्वत श्रृंखला पर्वतारोहण के लिए विश्व-प्रसिद्ध है। इन क्षेत्रों में पर्वतारोहण पर्यटन के साथ-साथ वैज्ञानिक, भौगोलिक और जलवायु अध्ययन से भी जुड़ा हुआ है।

पर्वतारोहण के दौरान पर्वतीय पारिस्थितिकी तंत्र, मौसम परिवर्तन और प्राकृतिक जोखिमों की गहन समझ विकसित होती है। यह गतिविधि अनुशासन, टीमवर्क और नेतृत्व जैसे गुणों को भी प्रोत्साहित करती है। साथ ही, यह मानव क्षमता की सीमाओं को परखने और आत्मविश्वास बढ़ाने का माध्यम बनती है। आर्थिक दृष्टि से पर्वतारोहण

दूरस्थ पर्वतीय क्षेत्रों में रोजगार सृजन का एक महत्वपूर्ण साधन है। पर्वतारोहण अभियानों में स्थानीय गाइड, पोर्टर, रसोइए और परिवहन सेवाएँ शामिल होती हैं, जिससे स्थानीय समुदाय की आजीविका सुदृढ़ होती है। इसके अतिरिक्त, पर्वतारोहण से जुड़े प्रशिक्षण केंद्र और संस्थाएँ भी क्षेत्रीय विकास में योगदान देती हैं।

हालाँकि पर्वतारोहण के साथ गंभीर जोखिम जुड़े होते हैं, जैसे दुर्घटनाएँ, मौसम की अनिश्चितता और पर्यावरणीय क्षति। इसलिए पर्वतारोहण के लिए कठोर सुरक्षा मानकों, प्रशिक्षित मार्गदर्शकों और पर्यावरणीय आचार-संहिता का पालन अनिवार्य है। सतत और जिम्मेदार दृष्टिकोण अपनाकर ही पर्वतारोहण को सुरक्षित और दीर्घकालिक पर्यटन गतिविधि बनाया जा सकता है।

13.6.3 रिवर राफ्टिंग (River Rafting)

रिवर राफ्टिंग जल-आधारित साहसिक खेलों में एक अत्यंत लोकप्रिय गतिविधि है, जिसमें तीव्र प्रवाह वाली नदियों में विशेष नावों के माध्यम से यात्रा की जाती है। यह खेल रोमांच, जोखिम और सामूहिक सहयोग पर आधारित होता है, क्योंकि इसमें प्रतिभागियों को एक टीम के रूप में कार्य करना पड़ता है। प्राकृतिक आकर्षण के क्षेत्रों में बहने वाली नदियाँ रिवर राफ्टिंग के लिए आदर्श मानी जाती हैं। पर्वतीय और हिमालयी क्षेत्रों में रिवर राफ्टिंग का विशेष महत्व है, जहाँ नदियों का प्रवाह तेज़ और मार्ग चुनौतीपूर्ण होता है। भारत में गंगा, अलकनंदा, भागीरथी, तीस्ता और सिंधु नदियाँ रिवर राफ्टिंग के प्रमुख केंद्र हैं। इन नदियों के किनारे विकसित राफ्टिंग पर्यटन ने अनेक क्षेत्रों को नई पहचान प्रदान की है।

रिवर राफ्टिंग के माध्यम से पर्यटक नदी पारिस्थितिकी, जल संसाधनों और प्राकृतिक प्रक्रियाओं को निकट से समझते हैं। यह गतिविधि जल संरक्षण और नदियों के महत्व के प्रति जागरूकता बढ़ाने में सहायक होती है। इस प्रकार रिवर राफ्टिंग केवल रोमांच नहीं, बल्कि शैक्षिक अनुभव भी प्रदान करती है।

आर्थिक दृष्टि से रिवर राफ्टिंग स्थानीय युवाओं के लिए रोजगार का महत्वपूर्ण साधन बन गई है। प्रशिक्षित राफ्ट गाइड, सुरक्षा कर्मी, उपकरण प्रदाता और पर्यटन सेवा प्रदाता इस गतिविधि से प्रत्यक्ष रूप से जुड़े होते हैं। इससे नदी-तटीय और पर्वतीय क्षेत्रों की स्थानीय अर्थव्यवस्था को बल मिलता है। हालाँकि रिवर राफ्टिंग के साथ कई जोखिम और चुनौतियाँ भी जुड़ी हैं। जल स्तर में अचानक परिवर्तन, मौसम की अनिश्चितता और सुरक्षा उपकरणों की कमी से दुर्घटनाओं की संभावना रहती है। इसलिए रिवर राफ्टिंग के लिए कड़े सुरक्षा मानक, प्रशिक्षित कर्मी, मौसम की निगरानी और पर्यावरणीय नियमों का पालन अत्यंत आवश्यक है।

13.6.4 पैराग्लाइडिंग (Paragliding)

पैराग्लाइडिंग वायु-आधारित साहसिक खेलों में एक अत्यंत रोमांचक गतिविधि है, जिसमें प्रतिभागी पहाड़ी ढलानों या ऊँचाई वाले स्थानों से विशेष पैराग्लाइडर की सहायता से उड़ान भरते हैं। यह खेल गुरुत्वाकर्षण और वायु प्रवाह के संतुलन पर आधारित होता है तथा पर्यटकों को आकाश से प्राकृतिक सौंदर्य देखने का अनूठा अनुभव प्रदान करता है। प्राकृतिक आकर्षण के क्षेत्रों, विशेषकर पर्वतीय और घाटी वाले इलाकों में, पैराग्लाइडिंग के लिए अनुकूल भौगोलिक परिस्थितियाँ पाई जाती हैं। भारत में हिमाचल प्रदेश, उत्तराखंड और जम्मू-कश्मीर जैसे राज्य पैराग्लाइडिंग के प्रमुख केंद्र के रूप में उभरे हैं। इन क्षेत्रों में पैराग्लाइडिंग ने पर्यटन को एक नया आयाम दिया है। पैराग्लाइडिंग न केवल शारीरिक, बल्कि मानसिक संतुलन और आत्मविश्वास के विकास में भी सहायक मानी जाती है। ऊँचाई और उड़ान का अनुभव प्रतिभागियों में साहस, एकाग्रता और जोखिम प्रबंधन की क्षमता को बढ़ाता है। इसके साथ ही यह खेल प्रकृति के साथ सामंजस्य की भावना को भी सुदृढ़ करता है। आर्थिक दृष्टि से पैराग्लाइडिंग पर्यटन स्थानीय अर्थव्यवस्था को सशक्त बनाता है। प्रशिक्षित पायलट, सहायक कर्मी, उपकरण रखरखाव, प्रशिक्षण संस्थान और पर्यटन सेवाएँ इस गतिविधि से जुड़ी होती हैं। इससे पर्वतीय क्षेत्रों में कौशल-आधारित रोजगार के अवसर उत्पन्न होते हैं।

हालाँकि पैराग्लाइडिंग मौसम पर अत्यधिक निर्भर और तकनीकी रूप से संवेदनशील गतिविधि है। तेज़ हवा, अचानक मौसम परिवर्तन और अपर्याप्त प्रशिक्षण से दुर्घटनाओं की संभावना रहती है। इसलिए इस खेल के लिए प्रमाणित प्रशिक्षण, नियमित उपकरण जाँच और कठोर सुरक्षा मानकों का पालन अनिवार्य माना जाता है।

13.6.5 स्कूबा डाइविंग (Scuba Diving)

स्कूबा डाइविंग जल के भीतर किया जाने वाला एक प्रमुख साहसिक खेल है, जिसमें विशेष उपकरणों की सहायता से गोताखोर समुद्र या गहरे जल क्षेत्रों में प्रवेश करते हैं। यह गतिविधि पर्यटकों को जल के नीचे की दुनिया—समुद्री जीव-जंतुओं, प्रवाल भित्तियों और जल-परिस्थितिकी—को निकट से देखने का अवसर प्रदान करती है। प्राकृतिक आकर्षण के समुद्री और तटीय क्षेत्र स्कूबा डाइविंग के लिए विशेष रूप से उपयुक्त माने जाते हैं। प्राकृतिक आकर्षण के क्षेत्रों में स्कूबा डाइविंग का विकास उन स्थानों पर हुआ है जहाँ समुद्री जैव-विविधता अत्यधिक समृद्ध है। भारत में अंडमान-निकोबार द्वीपसमूह, लक्षद्वीप और गोवा स्कूबा डाइविंग के प्रमुख केंद्र हैं। इन क्षेत्रों में स्वच्छ जल, प्रवाल संरचनाएँ और विविध समुद्री जीवन इस गतिविधि को आकर्षक बनाते हैं।

स्कूबा डाइविंग का एक महत्वपूर्ण पक्ष इसका शैक्षिक और पर्यावरणीय आयाम है। जल के भीतर का प्रत्यक्ष अनुभव पर्यटकों को समुद्री पारिस्थितिकी, प्रवाल संरक्षण और जल-जीवन के महत्व के प्रति जागरूक बनाता है। इस प्रकार यह साहसिक खेल समुद्री संरक्षण से भी जुड़ जाता है। आर्थिक दृष्टि से स्कूबा डाइविंग तटीय और द्वीपीय क्षेत्रों

में पर्यटन उद्योग को सुदृढ़ करता है। प्रशिक्षित डाइव इंस्ट्रक्टर, उपकरण प्रदाता, बोट ऑपरेटर और प्रशिक्षण केंद्र इस गतिविधि से प्रत्यक्ष रूप से जुड़े होते हैं। इससे स्थानीय युवाओं के लिए विशेष कौशल-आधारित रोजगार के अवसर उत्पन्न होते हैं।हालाँकि स्कूबा डाइविंग समुद्री पर्यावरण की दृष्टि से अत्यंत संवेदनशील गतिविधि है। अनियंत्रित गोताखोरी, प्रवाल भित्तियों को क्षति और प्रदूषण गंभीर समस्याएँ उत्पन्न कर सकती हैं। इसलिए स्कूबा डाइविंग के लिए कठोर सुरक्षा मानक, सीमित गोताखोरी क्षेत्र और पर्यावरणीय नियमों का पालन अनिवार्य माना जाता है।

13.7 सारांश

इस इकाई में विरासत एवं पर्यटन के आपसी संबंध को व्यापक और समग्र दृष्टिकोण से समझने का प्रयास किया गया है। इकाई की शुरुआत विरासत और पर्यटन की वैचारिक पृष्ठभूमि से की गई, जिससे यह स्पष्ट हुआ कि विरासत किसी समाज की ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और प्राकृतिक पहचान का आधार है, जबकि पर्यटन उस विरासत को अनुभव करने और प्रसारित करने का माध्यम बनता है। इकाई में सांस्कृतिक विरासत पर्यटन की अवधारणा पर विशेष रूप से प्रकाश डाला गया, जिसमें ऐतिहासिक स्मारक, धार्मिक स्थल, लोक परंपराएँ, मेले, उत्सव, कला, शिल्प और वास्तुकला जैसे घटकों की भूमिका को स्पष्ट किया गया। इसके साथ ही भारत में सांस्कृतिक विरासत पर्यटन के प्रमुख क्षेत्रों तथा इसके सामाजिक और आर्थिक महत्व को भी रेखांकित किया गया। इको-टूरिज्म को पर्यटन के एक वैकल्पिक और जिम्मेदार स्वरूप के रूप में प्रस्तुत किया गया, जिसमें पर्यावरण संरक्षण, स्थानीय समुदाय की भागीदारी और सतत संसाधन उपयोग को केंद्रीय महत्व दिया गया है। इसके अंतर्गत इको-टूरिज्म के सिद्धांतों, स्वरूपों और भारत में इसकी संभावनाओं तथा चुनौतियों पर चर्चा की गई।

प्राकृतिक आकर्षण के क्षेत्रों में थीम ट्रेल और साहसिक पर्यटन को आधुनिक पर्यटन के महत्वपूर्ण आयामों के रूप में समझाया गया। थीम ट्रेल को शिक्षा और संरक्षण से जुड़े पर्यटन मॉडल के रूप में तथा साहसिक पर्यटन को रोमांच, युवा सहभागिता और क्षेत्रीय विकास से जोड़कर विश्लेषित किया गया, साथ ही सुरक्षा और पर्यावरणीय चिंताओं को भी सामने रखा गया। अंततः इकाई में विरासत, पर्यटन और सतत विकास के बीच संतुलन की आवश्यकता पर बल दिया गया। यह स्पष्ट किया गया कि यदि पर्यटन का विकास जिम्मेदार और सतत दृष्टिकोण से किया जाए, तो वह विरासत संरक्षण, स्थानीय विकास और सांस्कृतिक संवेदनशीलता—तीनों को एक साथ सुदृढ़ कर सकता है।

13.8 शब्दावली

सांस्कृतिक विरासत पर्यटन (Cultural Heritage Tourism)	पर्यटन का वह स्वरूप जिसमें पर्यटक किसी क्षेत्र की संस्कृति, इतिहास, परंपराओं और जीवन-शैली को ` समझने के उद्देश्य से यात्रा करते हैं।
इको-टूरिज्म (Eco-Tourism)	पर्यटन का वह प्रकार जो प्राकृतिक पर्यावरण के संरक्षण, स्थानीय समुदाय की भागीदारी और सतत विकास के सिद्धांतों पर आधारित होता है।
थीम ट्रेल (Theme Trail)	किसी विशेष विषय पर आधारित नियोजित पर्यटन मार्ग, जिसके माध्यम से पर्यटकों को प्राकृतिक, सांस्कृतिक या ऐतिहासिक तत्वों की जानकारी प्रदान की जाती है।
साहसिक पर्यटन (Adventure Tourism)	पर्यटन का वह स्वरूप जिसमें प्राकृतिक क्षेत्रों में रोमांच, जोखिम और चुनौती से जुड़ी गतिविधियाँ शामिल होती हैं, जैसे ट्रेकिंग, राफ्टिंग और पर्वतारोहण।
सतत पर्यटन (Sustainable Tourism)	पर्यटन विकास की वह प्रक्रिया जिसमें पर्यावरण संरक्षण, सामाजिक संतुलन और आर्थिक विकास—तीनों को समान महत्व दिया जाता है।
जिम्मेदार पर्यटन (Responsible Tourism)	पर्यटन का वह दृष्टिकोण जिसमें पर्यटकों, स्थानीय समुदायों और प्रशासन की साझा जिम्मेदारी पर बल दिया जाता है ताकि पर्यटन से नकारात्मक प्रभाव न्यूनतम रहें।

13.9 अभ्यास प्रश्न

1. विरासत एवं पर्यटन की अवधारणा स्पष्ट करते हुए दोनों के आपसी संबंध का विवेचन कीजिए।
2. सांस्कृतिक विरासत पर्यटन से आप क्या समझते हैं? इसके प्रमुख घटकों का विस्तार से वर्णन कीजिए।

3. इको-टूरिज्म की अवधारणा, सिद्धांतों और भारत में इसकी संभावनाओं पर प्रकाश डालिए।
4. प्राकृतिक आकर्षण के क्षेत्रों में थीम ट्रेल की भूमिका और महत्व का विश्लेषण कीजिए।
5. साहसिक पर्यटन क्या है? इसके विभिन्न रूपों तथा इससे जुड़ी चुनौतियों पर चर्चा कीजिए।
6. विरासत, पर्यटन और सतत विकास के बीच संबंध को उदाहरणों सहित स्पष्ट कीजिए।

13.10 संदर्भ ग्रंथ

भारत सरकार, पर्यटन मंत्रालय — राष्ट्रीय पर्यटन नीति एवं इको-टूरिज्म संबंधी रिपोर्टें।

यूनेस्को (UNESCO) — World Heritage Convention एवं सांस्कृतिक एवं अमूर्त विरासत से संबंधित प्रकाशन।

शर्मा, आर.के. — पर्यटन का भूगोल एवं विरासत पर्यटन, नई दिल्ली: के.के. पब्लिकेशंस।

सिंह, एस. — भारत में पर्यटन विकास, नई दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

भटनागर, के.एल. — सांस्कृतिक विरासत और पर्यटन, जयपुर: रावत पब्लिकेशंस।

Weaver, D. — Ecotourism, Brisbane: John Wiley & Sons.

Holden, A. — Tourism and the Environment, London: Routledge.

उत्तराखंड पर्यटन विकास परिषद — इको-टूरिज्म एवं साहसिक पर्यटन पर प्रकाशित दस्तावेज़।

इकाई चौदह

विरासत के संबंध में भारतीय एवं अंतर्राष्ट्रीय कानून तथा विरासत जागरूकता कार्यक्रम, UNESCO की भूमिका

14.1 प्रस्तावना

14.2 स्रोत

14.3 उद्देश्य

14.4 भारतीय कानून और विरासत संरक्षण

14.4.1 प्राचीन स्मारक एवं पुरातात्विक स्थल और अवशेष अधिनियम, 1958

14.4.2 भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण अधिनियम

14.4.3 संग्रहालय अधिनियम

14.5 अंतर्राष्ट्रीय कानून और संधियाँ

14.5.1 हेग कन्वेंशन (1954)

14.5.2 1972 की विश्व धरोहर संधि (UNESCO)

14.5.3 यूनिड्रॉइट कन्वेंशन (1995)

14.6 विरासत संरक्षण हेतु जागरूकता कार्यक्रम

14.6.1 विद्यालय और महाविद्यालय स्तरीय कार्यक्रम

14.6.2 मीडिया और डिजिटल अभियान

14.6.3 'अंतर्राष्ट्रीय स्मारक एवं स्थल दिवस' (18 अप्रैल)

14.7 UNESCO की भूमिका

14.7.1 विश्व धरोहर स्थल सूची

14.7.2 अंतर्राष्ट्रीय संरक्षण फंड

14.7.3 तकनीकी सहयोग

14.8 सारांश

14.9 तकनीकी शब्दावली

14.10 अभ्यास प्रश्न

14.12 संदर्भ ग्रन्थ सूची

14.1 प्रस्तावना

भारत और विश्व की सांस्कृतिक विरासतें मानव सभ्यता के ऐतिहासिक, कलात्मक और सामाजिक विकास की अमूल्य धरोहरें हैं। ये विरासतें न केवल भौतिक रूप में संरक्षित स्मारक, मूर्तियाँ, स्थापत्य, शिलालेख और चित्रकलाओं में दिखाई देती हैं, बल्कि अमूर्त रूप में लोक संगीत, पारंपरिक ज्ञान, धार्मिक प्रथाओं और जीवनशैली के रूप में भी संरक्षित हैं। यह विरासत हमारे अतीत से संवाद का माध्यम है, जो आने वाली पीढ़ियों को सांस्कृतिक पहचान और गौरव की अनुभूति कराती है। विरासत के संरक्षण की आवश्यकता इसलिए और अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है क्योंकि वर्तमान समय में तेजी से होते शहरीकरण, औद्योगीकरण, जलवायु परिवर्तन और मानव लापरवाही ने इन अमूल्य धरोहरों के अस्तित्व को संकट में डाल दिया है। ऐसी स्थिति में इन विरासतों के संरक्षण हेतु विधिक, प्रशासनिक और सामाजिक स्तर पर ठोस प्रयासों की आवश्यकता है। इसी संदर्भ में विभिन्न राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय कानून बनाए गए हैं जो धरोहरों की रक्षा के लिए एक संरचनात्मक ढांचा प्रदान करते हैं।

भारत में विरासत संरक्षण के लिए 'प्राचीन स्मारक एवं पुरातात्विक स्थल तथा अवशेष अधिनियम 1958, 'भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण (ASI)' जैसी संस्थाएँ तथा अनेक राज्य स्तरीय कानून लागू हैं। ये कानून स्मारकों की पहचान, उनके आसपास के क्षेत्रों की निगरानी, अवैध खुदाई या निर्माण पर नियंत्रण तथा संरक्षण योजना तैयार करने में सहायक होते हैं। इसके अलावा, सांस्कृतिक विरासतों की रक्षा के लिए संग्रहालय अधिनियम और अन्य सांस्कृतिक नीति दस्तावेजों की भूमिका भी महत्त्वपूर्ण है।

अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर UNESCO और अन्य संगठन सांस्कृतिक एवं प्राकृतिक विरासतों की सुरक्षा और संवर्धन के लिए कार्य कर रहे हैं। विश्व धरोहर संधि (1972), हेग कन्वेंशन (1954), यूनिड्रॉइट कन्वेंशन (1995) आदि अंतर्राष्ट्रीय प्रयास विरासत के वैश्विक संरक्षण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। UNESCO द्वारा घोषित "विश्व धरोहर स्थल" किसी भी राष्ट्र के लिए अंतर्राष्ट्रीय गौरव का विषय होते हैं और उनके संरक्षण के लिए तकनीकी और वित्तीय सहायता भी प्रदान की जाती है।

विरासत के संरक्षण में केवल सरकार या अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं की ही नहीं, बल्कि जनभागीदारी और सामाजिक जागरूकता की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। आज विभिन्न जागरूकता कार्यक्रम, विद्यालय स्तरीय विरासत क्लब, सामाजिक मीडिया अभियानों तथा गैर-सरकारी संगठनों के प्रयासों से जनता को अपनी सांस्कृतिक विरासत के प्रति संवेदनशील बनाया जा रहा है। यह इकाई इन्हीं सभी पहलुओं – भारतीय एवं अंतर्राष्ट्रीय कानूनों, विरासत संरक्षण कार्यक्रमों और UNESCO की भूमिका का सम्यक अध्ययन प्रस्तुत करती है।

14.2 स्रोत

विरासत संरक्षण से संबंधित अध्ययन एवं अनुसंधान के लिए अनेक प्रकार के स्रोत उपलब्ध हैं, जो हमें ऐतिहासिक, विधिक और सामाजिक दृष्टिकोणों से इस विषय की समझ में सहायता करते हैं। इन स्रोतों को मुख्यतः साहित्यिक, अभिलेखीय, पुरातात्विक तथा दृश्य-श्रव्य श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। ये सभी स्रोत न केवल अतीत की जानकारी प्रदान करते हैं, बल्कि वर्तमान समय में विरासत संरक्षण की नीतियों एवं कार्यक्रमों के निर्माण में भी सहायक सिद्ध होते हैं।

भारतीय सन्दर्भ में साहित्यिक स्रोतों में प्राचीन ग्रंथ, धार्मिक ग्रंथ, स्मृतियाँ, पुराण, इतिहास-ग्रंथ एवं यात्रा-वृत्तांत शामिल हैं। ये ग्रंथ न केवल सांस्कृतिक मूल्यों का परिचय कराते हैं, बल्कि हमें यह भी बताते हैं कि प्राचीन भारत में विरासत की रक्षा और उसका सामाजिक महत्व कितना व्यापक था। उदाहरण के लिए, कौटिल्य द्वारा रचित 'अर्थशास्त्र' और कल्हण द्वारा रचित 'राजतरंगिणी' जैसे ग्रंथों में सांस्कृतिक संपदा और स्मारकों के विवरण प्राप्त होते हैं। अभिलेखीय स्रोतों में शिलालेख, ताम्रपत्र, मुद्राएँ, शासकीय आदेश, संरक्षण संबंधी सरकारी दस्तावेज, अधिनियम, संधियाँ, और अंतर्राष्ट्रीय समझौते शामिल हैं। विशेषकर भारत सरकार द्वारा पारित 'प्राचीन स्मारक और पुरातात्विक स्थल अधिनियम 1958' और 'UNESCO की विश्व धरोहर संधि 1972' जैसे दस्तावेज विरासत संरक्षण के क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्रोत माने जाते हैं। ये अभिलेख हमें कानूनी ढांचे और प्रशासनिक प्रक्रियाओं की गहन जानकारी देते हैं।
इसके अतिरिक्त दृश्य-श्रव्य स्रोतों में डॉक्यूमेंट्री फिल्में, ऑडियो-विजुअल प्रस्तुतियाँ, फोटोग्राफ, आर्काइव वीडियो, डिजिटल पोर्टल्स, और इंटरव्यू शामिल हैं जो आज के तकनीकी युग में विरासत के प्रचार-प्रसार और संरक्षण में अत्यंत उपयोगी सिद्ध हो रहे हैं। भारत सरकार का 'भारतीय विरासत पोर्टल', ASI की वेबसाइटें, और UNESCO की डिजिटल लाइब्रेरी ऐसे स्रोत हैं जो आधुनिक संदर्भ में विरासत के दस्तावेजीकरण और जागरूकता फैलाने में अत्यंत प्रभावशाली हैं। ये स्रोत न केवल शिक्षण-अध्ययन को समृद्ध बनाते हैं, बल्कि आम जनता को भी अपनी विरासत के प्रति सजग करते हैं।

14.3 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप निम्नलिखित बिंदुओं पर जानकारी प्राप्त कर सकेंगे :

- भारतीय विरासत संरक्षण कानूनों की रूपरेखा की समझ विकसित कर सकेंगे।
- अंतर्राष्ट्रीय विरासत कानूनों की भूमिका को स्पष्ट रूप से समझ सकेंगे।
- विरासत संरक्षण के लिए चलाए जा रहे जागरूकता कार्यक्रमों का परिचय प्राप्त कर सकेंगे।

- UNESCO की विरासत संरक्षण में भूमिका को रेखांकित कर पाएंगे।
- विरासत संरक्षण के महत्व एवं चुनौतियों को समझ सकेंगे।

14.4 भारतीय कानून और विरासत संरक्षण

भारत की सांस्कृतिक विरासत विविधताओं से परिपूर्ण है, जिसमें मंदिर, मस्जिद, स्मारक, चित्रकला, मूर्तिकला, हस्तशिल्प, ग्रंथ एवं ऐतिहासिक स्थल सम्मिलित हैं। इन विरासतों की सुरक्षा हेतु भारत सरकार द्वारा कई विधिक उपाय अपनाए गए हैं, जिनमें प्रमुख रूप से तीन मुख्य अधिनियम सम्मिलित हैं: (1) प्राचीन स्मारक एवं पुरातात्विक स्थल और अवशेष अधिनियम, 1958, (2) भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण अधिनियम, तथा (3) संग्रहालय अधिनियम। इन सभी कानूनों का मुख्य उद्देश्य भारत की भौतिक सांस्कृतिक धरोहरों की सुरक्षा, संरक्षण एवं संवर्द्धन सुनिश्चित करना है।

इन अधिनियमों की सहायता से सरकार उन विरासत स्थलों की पहचान, सूचीकरण, संरक्षण, पुनरुद्धार एवं उनका प्रचार-प्रसार करती है, जो ऐतिहासिक, सांस्कृतिक या कलात्मक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। इसके अंतर्गत स्मारकों की देखरेख, उनकी सुरक्षा हेतु उपायों, उनके आसपास अवैध निर्माण रोकने और संग्रहालयों में रखी वस्तुओं की देखभाल जैसे कार्य शामिल हैं। इन कानूनों की सहायता से भारतीय विरासत सम्बन्धी स्थलों को विधिक संरक्षण प्राप्त होता है, जिससे उन्हें नष्ट होने या क्षतिग्रस्त होने से रोका जा सकता है।

14.4.1 प्राचीन स्मारक एवं पुरातात्विक स्थल और अवशेष अधिनियम, 1958

यह अधिनियम भारत में सांस्कृतिक और ऐतिहासिक धरोहरों के विधिक संरक्षण के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण है। इसे 1958 में लागू किया गया और यह राष्ट्रीय महत्त्व के स्मारकों, स्थल और अवशेषों को सुरक्षा प्रदान करता है। इस अधिनियम के अंतर्गत ऐसे सभी स्मारकों को चिन्हित किया जाता है जो ऐतिहासिक, पुरातात्विक या कलात्मक दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण हैं। इस अधिनियम की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं:

- सरकार उन स्थलों को 'राष्ट्रीय महत्त्व का स्मारक' घोषित करती है जो ऐतिहासिक दृष्टि से मूल्यवान हैं।
- किसी स्मारक के 100 मीटर के दायरे को 'प्रतिबंधित क्षेत्र' और 200 मीटर तक के क्षेत्र को 'नियंत्रित क्षेत्र' माना जाता है। इन क्षेत्रों में निर्माण, खुदाई और अन्य गतिविधियाँ सीमित या पूर्णतः प्रतिबंधित होती हैं।
- किसी भी प्रकार की गतिविधि (जैसे खुदाई, निर्माण, मरम्मत) के लिए भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण (ASI) की पूर्व अनुमति अनिवार्य होती है।
- अधिनियम के उल्लंघन पर जुर्माना और सजा का प्रावधान है।

इस अधिनियम ने भारत में स्मारकों के संरक्षण की प्रक्रिया को सशक्त बनाया है। वर्तमान में लगभग 3,600 से अधिक स्मारक इस अधिनियम के अंतर्गत संरक्षित हैं, जिनमें ताजमहल, अजंता-एलोरा की गुफाएँ, हंपी, सूर्य मंदिर कोणार्क आदि शामिल हैं।

14.4.2 भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग की स्थापना

भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण (ASI) भारत सरकार के संस्कृति मंत्रालय के अंतर्गत कार्यरत एक प्रमुख संस्था है, जिसे भारत की पुरातात्विक विरासत के संरक्षण, पुनरुद्धार, शोध एवं प्रचार-प्रसार की जिम्मेदारी दी गई है। इसकी स्थापना 1861 में अलेक्ज़ेंडर कनिंघम द्वारा की गई थी, और यह भारत में पुरातात्विक अध्ययन और संरक्षण का केंद्रीय निकाय है। इस अधिनियम के तहत ASI को निम्नलिखित अधिकार और कर्तव्यों से सुसज्जित किया गया है:

- ASI ऐतिहासिक स्थलों की पहचान करता है, उनके नक्शे बनाता है और उनका अभिलेखीकरण करता है।
- ASI के अभियंता, शिल्पकार और विशेषज्ञ इन स्मारकों का जीर्णोद्धार, संरक्षण एवं रखरखाव करते हैं।
- पुरातात्विक स्थलों पर वैज्ञानिकों एवं पुरातत्वविदों द्वारा खुदाई कर ऐतिहासिक अवशेषों की खोज करता है, जो अनुसंधान हेतु उपयोगी होते हैं।
- संग्रहालयों, पुस्तिकाओं, चित्र प्रदर्शनियों और व्याख्यानों के माध्यम से जनता को भारत की विरासत के प्रति सजग किया जाता है।

ASI को अपने कार्यों की निगरानी और अमल हेतु कानूनी शक्तियाँ प्राप्त हैं। यह संस्था भारतीय विरासत संरक्षण का आधार स्तंभ मानी जाती है, जिसने भारत के अनेक ऐतिहासिक स्थलों को नष्ट होने से बचाया है।

14.4.3 संग्रहालय अधिनियम

संग्रहालय अधिनियम का उद्देश्य भारत के विभिन्न संग्रहालयों में संग्रहीत कलात्मक, ऐतिहासिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक वस्तुओं की विधिसम्मत सुरक्षा और संरक्षण सुनिश्चित करना है। संग्रहालय न केवल वस्तुओं का संरक्षण करते हैं, बल्कि वे शैक्षिक और अनुसंधान केंद्र भी होते हैं जो सांस्कृतिक विरासत के प्रचार-प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इस अधिनियम की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं:

- अधिनियम संग्रहालयों में रखी गई प्रत्येक वस्तु की पहचान, पंजीकरण और अभिलेखीकरण को अनिवार्य बनाता है।
- अधिनियम के अंतर्गत संग्रहालयों में आधुनिक सुरक्षा उपकरणों, फायर अलार्म, निगरानी कैमरा आदि के प्रावधान किए जाते हैं।

- अधिनियम संग्रहालयों में वस्तुओं के संरक्षण हेतु वैज्ञानिक तकनीकों को अपनाने की व्यवस्था करता है, जैसे तापमान नियंत्रण, प्रकाश व्यवस्था और रासायनिक संरक्षण।
- संग्रहालयों को विद्यालयों, महाविद्यालयों, शोध संस्थानों से जोड़कर उन्हें ज्ञान प्रसार के केंद्रों में रूपांतरित करने की योजना अधिनियम के तहत प्रोत्साहित की जाती है।

भारत में राष्ट्रीय संग्रहालय (नई दिल्ली), छत्रपति शिवाजी महाराज वास्तु संग्रहालय (मुंबई), इंडियन म्यूजियम (कोलकाता) जैसे प्रमुख संग्रहालय अधिनियम के अंतर्गत संचालित होते हैं। ये संग्रहालय देश की अमूल्य विरासत को संरक्षित रखने में निर्णायक भूमिका निभाते हैं।

भारतीय कानूनों ने विरासत संरक्षण को न केवल विधिक सुरक्षा प्रदान की है, बल्कि प्रशासनिक, वैज्ञानिक और सामाजिक स्तर पर इसकी मजबूती सुनिश्चित की है। 'प्राचीन स्मारक अधिनियम', 'पुरातत्व सर्वेक्षण अधिनियम' और 'संग्रहालय अधिनियम' – इन तीनों के समन्वित प्रयासों से भारतीय सांस्कृतिक धरोहरों का संरक्षण आज एक संगठित प्रक्रिया बन चुका है। किन्तु जनभागीदारी, आधुनिक तकनीक और सतत् निगरानी के बिना इन प्रयासों को पूर्ण सफलता नहीं मिल सकती। अतः इन कानूनों को प्रभावी रूप से लागू करना और सामाजिक सहयोग प्राप्त करना आज की आवश्यकता है।

14.5 अंतर्राष्ट्रीय कानून और संधियाँ

सांस्कृतिक विरासत केवल एक देश की नहीं होती, बल्कि वह सम्पूर्ण मानवता की साझी विरासत होती है। इसका संरक्षण अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर एक सामूहिक उत्तरदायित्व है। विभिन्न देशों ने अपने-अपने स्तर पर कानून बनाए हैं, परन्तु जब विरासत पर संकट अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर उत्पन्न होता है – जैसे युद्ध, आतंकवाद, अवैध व्यापार, जलवायु परिवर्तन आदि – तब उन विरासतों के संरक्षण हेतु वैश्विक सहयोग आवश्यक हो जाता है।

ऐसे सहयोग के लिए विभिन्न अंतर्राष्ट्रीय संधियाँ और कानून बनाए गए हैं। इनमें सबसे प्रमुख हैं – हेग कन्वेंशन (1954), UNESCO की 1972 की विश्व धरोहर संधि, और यूनिड्रॉइट कन्वेंशन (1995)। इन संधियों के अंतर्गत विश्व के सभी देशों को सांस्कृतिक और प्राकृतिक विरासतों की रक्षा करने, उन्हें संरक्षित रखने और उनके प्रचार-प्रसार में सहयोग करने का आह्वान किया गया है। इन संधियों ने विरासत के संरक्षण को एक वैश्विक नैतिक कर्तव्य और दायित्व के रूप में स्थापित किया है।

14.5.1 हेग कन्वेंशन (1954)

"सशस्त्र संघर्ष की स्थिति में सांस्कृतिक संपदा की सुरक्षा हेतु हेग कन्वेंशन" की स्थापना 1954 में नीदरलैंड्स के हेग शहर में हुई थी। यह द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान यूरोप में हुई सांस्कृतिक क्षति के बाद पहली बार विश्व समुदाय

द्वारा स्वीकार किया गया एक व्यापक अंतर्राष्ट्रीय समझौता था। इस कन्वेंशन का उद्देश्य युद्ध या सैन्य संघर्ष की स्थिति में सांस्कृतिक धरोहरों की रक्षा करना है। इसमें संग्रहालयों, अभिलेखागारों, स्मारकों, धार्मिक स्थलों, कलाकृतियों, पुस्तकालयों आदि को शामिल किया गया है। इस संधि के अंतर्गत संरक्षित विरासत स्थलों को एक विशेष प्रतीक (नीले और सफेद त्रिकोण) द्वारा चिह्नित किया जाता है, जिससे उन्हें युद्ध में क्षति से बचाया जा सके। सैन्य बलों द्वारा सांस्कृतिक स्थलों का उपयोग शस्त्रागार, छावनी या युद्ध रणनीति हेतु करने पर प्रतिबंध है। इस संधि के तहत देशों को सांस्कृतिक संपदा की सुरक्षा हेतु विशेष समितियाँ और प्रशासनिक व्यवस्था स्थापित करनी होती है।

हेग कन्वेंशन ने यह स्पष्ट कर दिया कि युद्ध या सैन्य संघर्ष की स्थिति में भी सांस्कृतिक संपदा की रक्षा करना एक अनिवार्य कर्तव्य है। यह संधि सांस्कृतिक विरासत की रक्षा को मानवाधिकारों से जोड़ती है और युद्ध के समय विनाश से बचाव का नैतिक आधार प्रस्तुत करती है।

14.5.2 1972 की विश्व धरोहर संधि (UNESCO)

UNESCO (United Nations Educational, Scientific and Cultural Organization) द्वारा 1972 में पारित यह संधि आज सबसे व्यापक और प्रभावशाली अंतर्राष्ट्रीय समझौतों में से एक है। इसे "The Convention Concerning the Protection of the World Cultural and Natural Heritage" कहा जाता है। इस संधि का उद्देश्य विश्व की विशिष्ट सांस्कृतिक और प्राकृतिक धरोहरों की रक्षा करना, विश्व धरोहर स्थलों की पहचान और सूचीकरण, सदस्य राष्ट्रों द्वारा विरासत स्थलों का संरक्षण सुनिश्चित करना, विरासत की रक्षा हेतु अंतर्राष्ट्रीय सहायता और सहयोग उपलब्ध कराना, जन-जागरूकता को बढ़ावा देना है।

विश्व धरोहर स्थल घोषित करने की प्रक्रिया में सर्वप्रथम कोई देश एक स्थल को नामांकित करता है। उसके बाद एक विशेषज्ञ समिति (ICOMOS, IUCN आदि) द्वारा मूल्यांकन किया जाता है। जिसके बाद UNESCO की विश्व धरोहर समिति अंतिम निर्णय लेती है। अंत में चुने गए स्थल को World Heritage List में शामिल किया जाता है।

भारत में घोषित प्रमुख विश्व धरोहर स्थलों में - ताजमहल (आगरा), अजंता और एलोरा की गुफाएँ (महाराष्ट्र), कुतुब मीनार (दिल्ली), महालक्ष्मी मंदिर, हम्पी (कर्नाटक), काजीरंगा राष्ट्रीय उद्यान (असम) और सुंदरबन बायोस्फीयर रिजर्व (पश्चिम बंगाल) सम्मिलित हैं |

यूनेस्कों द्वारा विशेष प्रावधान के अंतर्गत अंतर्राष्ट्रीय सहायता कोष (World Heritage Fund) की स्थापना भी की गई है, जिससे संकटग्रस्त स्थलों की रक्षा की जाती है। एवं खतरे में पड़ी धरोहर सूची (List of World Heritage in Danger) प्रकाशित की जाती है।

14.5.3 यूनिड्रॉइट कन्वेंशन (1995)

UNIDROIT (The International Institute for the Unification of Private Law) द्वारा 1995 में पारित यह कन्वेंशन सांस्कृतिक संपदा के अवैध व्यापार, चोरी और निर्यात पर रोक लगाने के लिए लागू किया गया था। इसका उद्देश्य देशों के बीच सहयोग को बढ़ाना, अवैध रूप से ली गई सांस्कृतिक संपदा की वापसी का अधिकार, अवैध निर्यात की वस्तुओं पर दावा करने की सुविधा और सांस्कृतिक वस्तुओं को उनके मूल स्थान पर वापस लाना है।

इस UNIDROIT कन्वेंशन ने उन देशों को विशेष लाभ पहुँचाया, जिनकी सांस्कृतिक वस्तुएँ विदेशी संग्रहालयों या निजी हाथों में चली गई थीं। इसने अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर सांस्कृतिक संपदा के व्यापार के लिए नैतिक और विधिक मानदंड स्थापित किए। भारत इस कन्वेंशन का एक समर्थक रहा है, और उसने ब्रिटिश संग्रहालयों तथा अन्य देशों से कई प्राचीन मूर्तियाँ और कलाकृतियाँ वापस मँगाई हैं। यह कन्वेंशन भारत को वैश्विक मंच पर अपनी चुराई गई विरासत वापस पाने में सहायता करता है।

हेग कन्वेंशन, 1972 की विश्व धरोहर संधि और यूनिड्रॉइट कन्वेंशन जैसे अंतर्राष्ट्रीय कानूनों ने वैश्विक विरासत संरक्षण के क्षेत्र में मजबूत विधिक ढाँचा प्रदान किया है। इन संधियों के माध्यम से यह सुनिश्चित किया गया है कि सांस्कृतिक धरोहरों को सिर्फ स्थानीय नहीं, बल्कि वैश्विक उत्तरदायित्व समझा जाए। भारत जैसे सांस्कृतिक रूप से समृद्ध देश के लिए इन संधियों का महत्त्व और अधिक बढ़ जाता है, क्योंकि यह अपने वैभवशाली अतीत की रक्षा में वैश्विक सहयोग प्राप्त कर सकता है।

14.6 विरासत संरक्षण हेतु जागरूकता कार्यक्रम

सांस्कृतिक विरासत केवल संरक्षित भवनों, कलाकृतियों और स्मारकों तक सीमित नहीं होती, बल्कि वह एक जीवंत परंपरा है जो समाज के संस्कारों, ज्ञान, मूल्यों और जीवन शैली में समाहित रहती है। ऐसी विरासतों के संरक्षण के लिए केवल विधिक प्रावधान पर्याप्त नहीं होते, जब तक जनसामान्य में इसके प्रति जागरूकता और उत्तरदायित्व की भावना विकसित न की जाए।

विरासत संरक्षण की प्रक्रिया में जनभागीदारी सबसे महत्वपूर्ण पक्ष है। इसके लिए विभिन्न स्तरों पर जागरूकता कार्यक्रम चलाए जाने चाहिए, जिनमें विद्यालयों और महाविद्यालयों में विरासत क्लबों की स्थापना, मीडिया और डिजिटल तकनीक का उपयोग तथा विशेष दिवसों का आयोजन प्रमुख हैं। ऐसे कार्यक्रमों का उद्देश्य है – समाज के विभिन्न वर्गों विशेषकर युवाओं को उनकी सांस्कृतिक विरासत के महत्व, उसकी चुनौतियों और संरक्षण के

उपायों से अवगत कराना होना चाहिए। इसके साथ ही सरकार, शैक्षिक संस्थाएँ, गैर-सरकारी संगठन (NGOs), और अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं जैसे यूनेस्कों द्वारा मिलकर इन कार्यक्रमों का संचालन किया जाना चाहिए क्यूंकि जागरूकता ही वह पहला कदम है जिससे जनसमूह अपनी विरासत को पहचानता है और उसे सहेजने हेतु सक्रिय भूमिका निभाने को प्रेरित होता है।

14.6.1 विद्यालय और महाविद्यालय स्तरीय कार्यक्रम

विद्यालय और महाविद्यालय युवाओं के निर्माण का केंद्र होते हैं। यदि उन्हें अपनी सांस्कृतिक विरासत के प्रति प्रारंभ से ही जागरूक बनाया जाए, तो वे भविष्य में इसके संरक्षक बन सकते हैं। इसी सोच के अंतर्गत भारत सरकार के संस्कृति मंत्रालय और शिक्षा मंत्रालय द्वारा विभिन्न विरासत शिक्षा कार्यक्रम चलाए जा रहे हैं। 'इंटैक' (INTACH – Indian National Trust for Art and Cultural Heritage) जैसे संगठनों द्वारा विद्यालयों में Heritage Clubs की स्थापना की जाती है, जहाँ विद्यार्थी स्थानीय विरासत स्थलों का भ्रमण, चित्र प्रतियोगिताएँ, वाद-विवाद, रंगमंच आदि गतिविधियों द्वारा विरासत के महत्व को समझते हैं। कई विद्यालयों में सामाजिक विज्ञान, इतिहास या सामान्य अध्ययन के अंतर्गत स्थानीय और राष्ट्रीय धरोहरों पर अध्याय सम्मिलित किए जा रहें हैं। साथ ही छात्रों को ऐतिहासिक स्थलों की भ्रमण यात्रा पर ले जाकर उन्हें प्रत्यक्ष अनुभव और ज्ञान प्रदान किया जा रहा है। इन कार्यक्रमों का उद्देश्य युवा पीढ़ी को अपनी विरासत की पहचान कराना, उसमें गौरव की भावना उत्पन्न करना और उनके माध्यम से समाज में संरक्षण की चेतना का प्रसार करना है।

14.6.2 मीडिया और डिजिटल अभियान

आज के डिजिटल युग में मीडिया और इंटरनेट जन-जागरूकता का सबसे प्रभावशाली माध्यम बन चुके हैं। सांस्कृतिक विरासत के प्रचार-प्रसार और संरक्षण में प्रिंट, इलेक्ट्रॉनिक और सोशल मीडिया की भूमिका लगातार बढ़ रही है। इसी उद्देश्य से 'लोकसभा टीवी', 'राज्यसभा टीवी', 'दूरदर्शन' आदि पर विरासत विषयक डॉक्युमेंट्री, चर्चाएँ और पर्यटन आधारित कार्यक्रमों का प्रसारण किया जा रहा है। भारत सरकार द्वारा 'भारतीय विरासत पोर्टल', 'सांस्कृतिक मानचित्रण पोर्टल' (Cultural Mapping of India) जैसे ऑनलाइन प्लेटफॉर्म बनाए जा रहें हैं, जहाँ पुरातात्विक स्थलों, संग्रहालयों, लोक कलाओं की जानकारी उपलब्ध है। Twitter, Instagram, Facebook जैसे प्लेटफॉर्म्स पर #WorldHeritageDay, #MyHeritage, #SaveOurMonuments जैसे हैशटैग द्वारा लोगों को जोड़ा जा रहा है। साथ ही भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण (ASI) और संस्कृति मंत्रालय द्वारा कई स्मारकों का 360-डिग्री वर्चुअल टूर उपलब्ध कराया गया है। इससे लोग बिना यात्रा किए भी धरोहरों को देख और समझ सकते हैं।

इस प्रकार के अभियानों से विशेष रूप से शहरी युवाओं, शिक्षकों, पर्यटकों और शोधकर्ताओं को भारत की विरासत से जोड़ने का कार्य किया जा रहा है। अतः डिजिटल माध्यमों ने न केवल जानकारी दी है, बल्कि विरासत के प्रति भावनात्मक जुड़ाव भी निर्मित किया है।

14.6.3 'अंतर्राष्ट्रीय स्मारक एवं स्थल दिवस' (18 अप्रैल)

हर वर्ष 18 अप्रैल को 'अंतर्राष्ट्रीय स्मारक एवं स्थल दिवस' (International Day for Monuments and Sites) मनाया जाता है। इसे ICOMOS (International Council on Monuments and Sites) ने 1983 में आरंभ किया था और बाद में UNESCO ने इसे मान्यता दी। इसका उद्देश्य विश्व के ऐतिहासिक स्थलों और स्मारकों के प्रति जन-जागरूकता बढ़ाना है। इस दिन अनेक ऐतिहासिक स्थलों पर व्याख्यान, प्रदर्शनी, भ्रमण, रंगमंच, फोटोग्राफी प्रतियोगिताएँ आयोजित की जाती हैं। शैक्षणिक संस्थानों में विरासत विषयक वाद-विवाद, निबंध लेखन, पोस्टर प्रतियोगिता आदि कराई जाती हैं। समाचार पत्रों, चैनलों और सोशल मीडिया पर स्मारकों की महत्ता को उजागर करने वाले विशेष लेख और कार्यक्रम प्रसारित किए जाते हैं।

भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण, INTACH, राज्य सरकारें, विश्वविद्यालय और NGOs इस दिन को व्यापक रूप से मनाते हैं। देशभर के सैकड़ों स्मारकों पर विशेष कार्यक्रम आयोजित किए जाते हैं, जिससे आम जनता विशेष रूप से छात्र-युवा वर्ग स्मारकों के प्रति सजग बनता है।

विरासत संरक्षण केवल एक कानूनी या तकनीकी विषय नहीं, बल्कि सामाजिक चेतना और सांस्कृतिक आत्मबोध का विषय है। जब तक समाज जागरूक नहीं होगा, तब तक कोई भी कानून प्रभावी नहीं हो सकता। इसलिए विद्यालय स्तर से लेकर मीडिया तक, डिजिटल प्लेटफॉर्म से लेकर विशेष दिवसों के आयोजन तक – हर माध्यम का उपयोग कर जनमानस को जोड़ना आवश्यक है।

14.7 UNESCO की भूमिका

UNESCO (United Nations Educational, Scientific and Cultural Organization) संयुक्त राष्ट्र की एक प्रमुख अंतर्राष्ट्रीय संस्था है, जिसकी स्थापना 16 नवम्बर 1945 को पेरिस (फ्रांस) में हुई थी। इसका उद्देश्य विश्व भर में शिक्षा, विज्ञान, संस्कृति और संचार के क्षेत्रों में सहयोग को बढ़ावा देना है, जिससे शांति एवं सुरक्षा को प्रोत्साहित किया जा सके।

सांस्कृतिक विरासत के क्षेत्र में UNESCO की भूमिका अत्यंत महत्त्वपूर्ण रही है। इसने न केवल वैश्विक धरोहरों की सुरक्षा के लिए नीति और कानून बनाए हैं, बल्कि विरासत की सार्वभौमिक महत्ता को स्वीकार करते हुए उसे समस्त मानवता की साझा धरोहर घोषित किया है। UNESCO का मानना है कि सांस्कृतिक और प्राकृतिक

धरोहरें न केवल किसी एक राष्ट्र की संपत्ति हैं, बल्कि वे संपूर्ण मानव सभ्यता के लिए गौरव का विषय हैं।

UNESCO की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि 1972 में पारित "विश्व सांस्कृतिक और प्राकृतिक धरोहरों के संरक्षण संबंधी सम्मेलन" (World Heritage Convention) है, जिसके अंतर्गत विश्व धरोहर स्थलों की सूची बनाई गई, संरक्षण हेतु अंतर्राष्ट्रीय सहायता कोष की स्थापना की गई, और तकनीकी सहायता व प्रशिक्षण कार्यक्रम आरंभ किए गए।

14.7.1 विश्व धरोहर स्थल सूची

UNESCO द्वारा 1972 में लागू की गई विश्व धरोहर संधि (World Heritage Convention) के अंतर्गत विश्व की उन सांस्कृतिक और प्राकृतिक धरोहरों की पहचान की जाती है, जो "सार्वभौमिक महत्त्व" की श्रेणी में आते हैं। इस प्रक्रिया के माध्यम से विश्व धरोहर स्थलों की एक औपचारिक सूची (World Heritage List) तैयार की जाती है।

विश्व धरोहर स्थलों में सांस्कृतिक स्थल – ऐतिहासिक स्मारक, भवन, धार्मिक स्थल, गुफाएँ, शिल्प आदि। प्राकृतिक स्थल – वन क्षेत्र, जलप्रपात, पर्वत श्रंखलाएँ, अभयारण्य आदि एवं संयुक्त स्थल – जिनमें सांस्कृतिक और प्राकृतिक विशेषताएँ दोनों होती हैं, इत्यादि सम्मिलित हैं | विश्व धरोहर सूची में किसी स्थल का समावेश एक वैश्विक मान्यता है, जिससे संबंधित देश को न केवल सम्मान मिलता है, बल्कि संरक्षण के लिए अंतर्राष्ट्रीय सहयोग, तकनीकी सहायता और पर्यटन विकास के अवसर भी प्राप्त होते हैं।

14.7.2 अंतर्राष्ट्रीय संरक्षण फंड

UNESCO ने 1972 की विश्व धरोहर संधि के तहत एक "विश्व धरोहर कोष" (World Heritage Fund) की स्थापना की है, जिसका उद्देश्य है – संकटग्रस्त धरोहर स्थलों के संरक्षण में वित्तीय सहायता प्रदान करना। यह कोष उन देशों के लिए विशेष रूप से उपयोगी है, जिनके पास विरासत स्थलों के संरक्षण हेतु पर्याप्त आर्थिक संसाधन नहीं हैं। यह फंड दुनिया भर के स्मारकों और स्थलों को क्षय, अनदेखी और विनाश से बचाने का एक ठोस माध्यम है।

इस कोष की मुख्य विशेषताएँ:

- वित्तीय सहायता – सदस्य राष्ट्र इस कोष से आपातकालीन अनुदान, प्रशिक्षण, तकनीकी सहायता, और स्थल प्रबंधन परियोजनाओं के लिए आर्थिक सहयोग प्राप्त कर सकते हैं।
- दान और सदस्यता योगदान – यह कोष सदस्य देशों के योगदान, अंतर्राष्ट्रीय दानदाताओं और गैर-सरकारी संस्थाओं की मदद से संचालित होता है।

- 'खतरे में पड़ी धरोहरों की सूची' (List of World Heritage in Danger) – जो स्थल गंभीर संकट में होते हैं (जैसे युद्ध, प्राकृतिक आपदा, अतिक्रमण), उन्हें इस सूची में डालकर प्राथमिकता दी जाती है। इन्हें वित्तीय और तकनीकी रूप से विशेष सहायता दी जाती है।

भारत ने भी इस कोष का उपयोग कर कई स्थलों के संरक्षण हेतु सहायता प्राप्त की है। उदाहरण के लिए, कांगड़ा घाटी, कुतुब मीनार परिसर, तथा कच्छ क्षेत्र के स्थल ऐसे कुछ उदाहरण हैं जहाँ इस निधि से संरक्षण कार्य में सहयोग मिला है।

14.7.3 तकनीकी सहयोग

UNESCO की एक और अत्यंत महत्त्वपूर्ण भूमिका है – तकनीकी सहयोग। अनेक देशों में विरासत संरक्षण के लिए प्रशिक्षित जनशक्ति, वैज्ञानिक तकनीक, और प्रबंधन नीतियों की कमी होती है। ऐसे में UNESCO विशेषज्ञों की सहायता, प्रशिक्षण कार्यक्रम और अनुसंधान के माध्यम से तकनीकी सहयोग प्रदान करता है। उदहारण के लिए नेपाल के काठमांडू घाटी में भूकंप के बाद स्मारकों के पुनर्निर्माण में UNESCO ने तकनीकी विशेषज्ञता प्रदान की। अफ्रीका और एशिया में विरासत प्रबंधन के प्रशिक्षण कार्यक्रमों द्वारा हजारों संरक्षणकर्मी प्रशिक्षित किए गए हैं। भारत में INTACH और ASI जैसे निकायों के साथ UNESCO का सहयोग, विरासत दस्तावेजीकरण और प्रबंधन में सहायक रहा है। प्रमुख तकनीकी सहयोग में निम्न बिंदु सम्मिलित है -

- स्थल संरक्षण योजनाएँ (Site Management Plans) – UNESCO विशेषज्ञ टीम द्वारा स्थलों के संरक्षण हेतु योजनाबद्ध रूपरेखा तैयार की जाती है।
- प्रशिक्षण कार्यशालाएँ – स्थानीय संरक्षणकर्मियों, पुरातत्वविदों, संग्रहालय कर्मचारियों एवं योजना-निर्माताओं को प्रशिक्षण प्रदान किया जाता है।
- प्रौद्योगिकी और उपकरणों की आपूर्ति – विशेष उपकरण, डिजिटलीकरण प्रणाली, सर्वेक्षण तकनीक, और वैज्ञानिक विश्लेषण हेतु संसाधन उपलब्ध कराए जाते हैं।
- UNESCO अपने पोर्टल और रिपोर्टों के माध्यम से वैश्विक विरासत स्थलों की जानकारी एवं प्रलेखन साझा करता है।

महत्त्व:- तकनीकी सहयोग केवल संरक्षण तक सीमित नहीं रहता, बल्कि वह स्थानीय समुदायों को सशक्त बनाने, शिक्षा प्रदान करने, और संस्कृति आधारित विकास के नए रास्ते खोलता है। यह सहयोग दीर्घकालीन एवं आत्मनिर्भर विरासत संरक्षण का आधार बनता है। UNESCO ने सांस्कृतिक और प्राकृतिक विरासत के क्षेत्र में अंतर्राष्ट्रीय सहयोग, मान्यता और संरक्षण की जो प्रणाली विकसित की है, वह वैश्विक स्तर पर अनुकरणीय है। विश्व धरोहर स्थल सूची, संरक्षण निधि और तकनीकी सहयोग जैसे कार्यक्रमों ने न केवल विरासतों को संरक्षित रखा, बल्कि विकास और पर्यटन को भी नई दिशा दी है।

भारत जैसे सांस्कृतिक दृष्टि से समृद्ध देश के लिए UNESCO की भूमिका और भी महत्त्वपूर्ण हो जाती है। यह न केवल भारत को वैश्विक मंच पर प्रस्तुत करता है, बल्कि संरक्षण के लिए तकनीकी, आर्थिक और सामाजिक समर्थन भी प्रदान करता है। UNESCO की यह भूमिका यह सिद्ध करती है कि विरासत का संरक्षण कोई एक देश का कार्य नहीं, बल्कि समस्त मानवता का उत्तरदायित्व है।

14.8 सारांश

सांस्कृतिक विरासत किसी राष्ट्र की आत्मा होती है और उसे सुरक्षित रखना प्रत्येक नागरिक तथा सरकार का नैतिक व कानूनी दायित्व है। जैसे-जैसे आधुनिकीकरण और शहरीकरण बढ़ा है, वैसे-वैसे विरासत स्थलों पर खतरे भी बढ़े हैं। इस परिस्थिति में प्रभावशाली विधिक तंत्र और अंतर्राष्ट्रीय सहयोग की आवश्यकता पहले से कहीं अधिक हो गई है। भारतीय परिप्रेक्ष्य में, 'प्राचीन स्मारक एवं पुरातात्विक स्थल और अवशेष अधिनियम, 1958 तथा 'भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण अधिनियम' जैसे कानून विरासतों के संरक्षण की आधारशिला हैं। इन अधिनियमों के अंतर्गत ऐतिहासिक स्थलों की देखरेख, संरक्षण और प्रबंधन सुनिश्चित किया गया है। साथ ही, संग्रहालय अधिनियम के अंतर्गत सांस्कृतिक सामग्री और कलाकृतियों के संरक्षण के उपाय किए जाते हैं। इन सभी कानूनों का उद्देश्य यह सुनिश्चित करना है कि आने वाली पीढ़ियाँ भी अपने अतीत से जुड़ाव महसूस कर सकें।

अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर हेग कन्वेंशन (1954), 1972 की विश्व धरोहर संधि तथा यूनिड्रॉइट कन्वेंशन (1995) जैसे कानूनों ने विरासत संरक्षण को वैश्विक जिम्मेदारी के रूप में स्थापित किया है। इन संधियों के माध्यम से न केवल विरासत स्थलों की पहचान की जाती है, बल्कि संकटग्रस्त स्थलों को आर्थिक और तकनीकी सहायता भी प्रदान की जाती है। यह दिखाता है कि सांस्कृतिक विरासत को सीमाओं में बाँधना उचित नहीं, वह समस्त मानवता की साझा धरोहर है। इसके साथ ही UNESCO ने सांस्कृतिक और प्राकृतिक विरासत को संरक्षित करने में अग्रणी भूमिका निभाई है। उसकी विश्व धरोहर स्थल सूची, संरक्षण कोष, और तकनीकी सहायता जैसी पहलें राष्ट्रों को एक साझा मंच पर लाती हैं जहाँ वे अपनी धरोहरों की रक्षा कर सकें। भारत जैसे देश के लिए यह अत्यंत लाभकारी रहा है क्योंकि इससे न केवल विश्व मान्यता मिलती है बल्कि संरक्षण और पर्यटन को भी प्रोत्साहन मिलता है। विरासत संरक्षण के लिए सामाजिक जागरूकता भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि कानून। विद्यालयों और महाविद्यालयों में विरासत शिक्षा, मीडिया अभियानों, डिजिटल प्लेटफॉर्म, और 'अंतर्राष्ट्रीय स्मारक एवं स्थल दिवस' जैसे अवसरों के माध्यम से नागरिकों को इस दिशा में संवेदनशील बनाने के प्रयास किए जाने चाहिए । फलस्वरूप इन कार्यक्रमों से बच्चों, युवाओं और समाज के विभिन्न वर्गों को विरासत के प्रति जागरूक और उत्तरदायी नागरिक बनने की प्रेरणा मिल सके । अंत में कहा जा सकता है कि विरासत संरक्षण केवल इतिहास की रक्षा नहीं, बल्कि हमारी सांस्कृतिक अस्मिता और भविष्य की सुरक्षा भी है।

14.9 तकनीकी शब्दावली

1. विरासत (Heritage) – वह सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, प्राकृतिक अथवा वास्तुशिल्पीय संपदा जो पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होती है।
2. संरक्षण (Conservation) – किसी वस्तु, स्थल, स्मारक अथवा परंपरा की वर्तमान स्थिति को बनाए रखने और उसके क्षरण को रोकने की प्रक्रिया।
3. स्मारक (Monument) – ऐतिहासिक, सांस्कृतिक अथवा वास्तुशिल्पीय दृष्टि से महत्वपूर्ण संरचना या भवन।
4. विश्व धरोहर स्थल (World Heritage Site) – ऐसे स्थल जिन्हें UNESCO द्वारा मानवता की सार्वभौमिक धरोहर के रूप में मान्यता प्राप्त होती है।
5. अंतर्राष्ट्रीय संधि (International Convention) – देशों के बीच किया गया विधिक समझौता जो किसी विशेष विषय, जैसे विरासत संरक्षण, पर आधारित होता है।
6. यूनेस्को (UNESCO) – संयुक्त राष्ट्र की एक विशेष संस्था जो शिक्षा, विज्ञान और संस्कृति के माध्यम से शांति और सहयोग को बढ़ावा देती है।
7. ICOMOS – International Council on Monuments and Sites; एक अंतर्राष्ट्रीय गैर-सरकारी संगठन जो सांस्कृतिक धरोहरों के संरक्षण में संलग्न है।
8. संग्रहालय (Museum) – वह संस्था जहाँ सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, वैज्ञानिक या कलात्मक वस्तुओं को संग्रहित, संरक्षित और प्रदर्शित किया जाता है।
9. पुरातत्व (Archaeology) – प्राचीन सभ्यताओं और संस्कृतियों के अवशेषों के अध्ययन की वैज्ञानिक प्रक्रिया।
10. जागरूकता कार्यक्रम (Awareness Programme) – किसी विषय विशेष पर समाज को शिक्षित और संवेदनशील बनाने हेतु संचालित गतिविधियाँ या अभियान।

14.10 अभ्यास प्रश्न

1. भारतीय विरासत संरक्षण के लिए लागू कानूनों का विस्तार से वर्णन कीजिए।
2. यूनेस्को की भूमिका को समझाते हुए भारत के किसी एक विश्व धरोहर स्थल का उदाहरण दीजिए।
3. अंतर्राष्ट्रीय विरासत संरक्षण कानूनों की तुलना भारतीय कानूनों से कीजिए।
4. विरासत संरक्षण में जनभागीदारी और जागरूकता कार्यक्रमों का महत्व स्पष्ट कीजिए

14.12 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण (ASI) – अधिकारिक वेबसाइट https://asi.nic.in
2. UNESCO World Heritage Centre https://whc.unesco.org
3. UNESCO Conventions (1954, 1972, 1995) हेग कन्वेंशन (1954), वर्ल्ड हेरिटेज कन्वेंशन (1972), और यूनिड्रॉइट कन्वेंशन (1995) के आधिकारिक दस्तावेज।
4. शर्मा, आर.एस. – भारत का प्राचीन इतिहास, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।
5. ठक्कर, बी.एन. – भारतीय संस्कृति और धरोहर संरक्षण, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत।
6. ICOMOS Reports & Guidelines https://www.icomos.org
7. INTACH (Indian National Trust for Art and Cultural Heritage) https://www.intach.org
8. योजना आयोग रिपोर्ट: भारत में विरासत पर्यटन एवं संरक्षण (12वीं पंचवर्षीय योजना दस्तावेज)
9. भारत सरकार – संस्कृति मंत्रालय की वार्षिक रिपोर्टें

नोट्स: